नागरीप्रचारिणी पत्रिका.

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ८—संवत् १९८४

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा
स्थापित १९५० वि०

संपादक

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:❊:—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
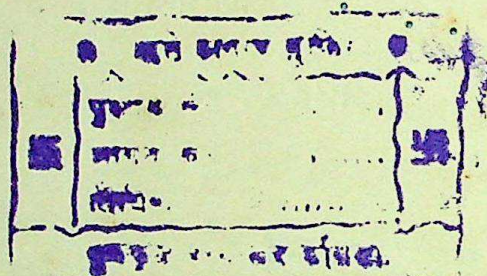
लेख-सूची

विषय पृ० सं०

१—प्राचीन शल्य-तंत्र [लेखक—श्रीयुक्त कविराज अत्रिदेव गुप्त, वि० ए०, भिषग्रत्न, गुरुकुल-कांगड़ी] ... १

२—गोस्वामी तुलसीदास [लेखक—श्रीयुक्त बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०, काशी] ४६

३—महाकवि श्री बिहारीदास जी की जीवनी [लेखक—श्रीयुक्त बाबू जगन्नाथदास, 'रत्नाकर' बी० ए०, काशी] ८७

४—महाकवि श्री बिहारीदास जी की जीवनी [लेखक—श्रीयुक्त बाबू जगन्नाथदास, 'रत्नाकर' बी० ए०, काशी] १२१

५—प्राचीन शल्य-तंत्र [लेखक—श्रीयुक्त कविराज अत्रिदेव गुप्त, वि० ए०, भिषग्रत्न, गुरुकुल-काँगड़ी] ... १५५

६—पुरानी हिंदी का जन्म-काल [लेखक—विद्यामहोदधि श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, पटना] २१६

७—एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति [लेखक—श्रीयुक्त बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बी० ए०, काशी] ... २२६

८—पुष्कर [लेखक—श्रीयुक्त पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर] २४१

९—एक प्राचीन मूर्ति [लेखक—श्रीयुक्त बाबू जगन्नाथदास, 'रत्नाकर,' बी० ए०, काशी] २६७

१०—कालिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण [लेखक—विद्यामहोदधि श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, पटना] ३०१

११—बोधिचर्या [लेखक—अध्यापक नरेंद्रदेव वर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी] ३२३

विषय पृ० सं०

१२—बोधिचर्या [लेखक—अध्यापक नरेंद्रदेव वर्म्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी] ३६१
१३—सागर का बुंदेली शिलालेख [लेखक—रायबहादुर श्रीयुक्त बाबू हीरालाल, बी० ए०, कटनी—जबलपुर] ३६५
१४—गोस्वामी तुलसीदास जी [लेखक—श्रीयुक्त पंडित मयाशंकर याज्ञिक, बी० ए०, भरतपुर] ४०१
१५—मृगयाविनोद [लेखक—श्रीयुक्त कुँवर कन्हैयाजू] ४०६
१६—हिंदी साहित्य में बिहारी [लेखक—श्रीयुक्त पंडित ललिताप्रसाद सुकुल, एम० ए०, प्रयाग]... ... ४२१
१७—पुष्कर [लेखक—श्रीयुक्त पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर] ४३३
१८—हस्तलिखित प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट [लेखक—रायबहादुर श्रीयुक्त बाबू हीरालाल, बी० ए०, कटनी] ४५६

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ८—अंक १

संपादक

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:*:—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वैशाख संवत् १९८४] [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

विषय-सूची

१—प्राचीन शल्य-तंत्र [लेखक—श्रीयुक्त कविराज अत्रिदेव गुप्त वि० ए०, भिषग्रत्न, गुरुकुल, काँगड़ी] (अपूर्ण) ... १

२—गोस्वामी तुलसीदास [लेखक—श्रीयुक्त बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०, काशी] ४१

३—महाकवि श्री बिहारीदास जी की जीवनी [लेखक—श्रीयुक्त बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए०, काशी] (अपूर्ण) ... ८७

सूचना

निम्नलिखित पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गई—

१—पुरुषार्थ—ले० स्वर्गवासी बाबू जगन्मोहन वर्मा ।

२—तर्कशास्त्र २ भाग—ले० बाबू गुलाबराय ।

३—हिंदी शब्दसागर, अंक ३५, ३६ ।

नवीन संस्करण

१—मितव्यय ।

२—संक्षिप्त हिंदी व्याकरण ।

३—मध्य हिंदी व्याकरण ।

४—हिंदी निबंधमाला भाग १, २ ।

छप रही हैं

१—हिंदू राज्य-तंत्र ।

२—शिपर वंशोत्पत्ति ।

प्रकाशन-मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी

(१) प्राचीन शल्य-तंत्र

[लेखक---कविराज श्री अत्रिदेव गुप्त बी० ए०,
भिषग्रत्न, गुरुकुल, कांगड़ी ।]

HISTORY OF SURGERY.*

1. "Surgery in all countries is as old as human needs.
2. A certain skill in the stanching of blood, the extraction of arrows, the binding up of wounds, the supporting of broken limbs by splint, and the like together with an instinctive reliance on the healing power of the tissues has been common to men everywhere.
3. In both branches of the Aryan stock surgical practice (as well as medical) reached a high degree of perfection at a very early period.
4. Susruta describes more than one hundred surgical instruments made of steel.
5. We may give the first place than to the eastern branch of the Aryan race in a sketch of the rise of surgery.

Encyclopædia Britanica.

---

* (१) एतदेवांगं (शल्यपां) प्रथमं–प्रागभिघात व्रणसंरोहात् । यज्ञः शिरःसंधानाच्च ।
(२) अभिमताशुक्रियाकरणात्, यंत्रशस्त्रक्षाराग्नि प्रणिधानात् । सर्वतंत्र-सामान्याच्च ।

पहला प्रकरण

सामग्री या साधन

वेद

आर्य जाति के सब से प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। आर्य जाति में उनका मान यहाँ तक है कि वह स्वतःप्रमाण एवं ईश्वरीय ज्ञान माने गए हैं। वेद चार हैं—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व।

आर्यों का विश्वास है कि जो विद्याएँ इस देश अथवा अन्य देशों में विस्तृत हुई हैं, वे सब वेद से ही निकली हैं*। यह बात सर्वमान्य है कि संसार के पुस्तकालय में सब से प्राचीन पुस्तक वेद ही है। जिस समय आर्य जाति में वेद की सत्यता की व्याख्या और प्रचार हो रहा था, उस समय शेष जगत् अंधकार में डूबा हुआ था। मनु महाराज ने वेद की निंदा करनेवाले को नास्तिक बताया है। ऐसे भी दार्शनिक हैं जो ईश्वर पर विश्वास न रखते हुए भी वेद को सर्वमान्य मानते हैं। अखिल जाति में वेद की प्रतिष्ठा इस बात की सूचक है कि किस प्रकार एक जाति अपनी सभ्यता के आदि-स्रोत को प्राणों से भी अधिक प्रिय मानती है।

वेद के निर्माण के समय में मतभेद है। एक मत तो यह मानता है कि वेदों का ज्ञान सृष्टि के आरंभ में हुआ है। इसके मतानुसार वेदों का समय सृष्टि के आरंभ का समय ही है जो कि

---

* (१) तत्राप्तागमस्तावद्वेदः। यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः सचाप्तागमः॥

चरक।

(२) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

महर्षि दयानंद

१९६०८५३०२४ पूर्व माना जाता है। दूसरा मत वेदों की सत्यता आरंभिक ऋषियों के मस्तिष्क तथा आत्मिक पवित्रता से उत्पन्न हुई मानता है।

प्रथम मत में वेदों का ज्ञान एक समय में ही हुआ है। कालांतर में वह चार भागों में विभक्त हो गए हैं। इनमें से ऋग्वेद सब से पहले और अथर्ववेद सब से पीछे बना है।

महाभारत

इतिहास की सब से बड़ी और सब से पहली पुस्तक महाभारत है। इसमें आचार, विचार, नीति और धर्मशास्त्र का संग्रह किया हुआ है। एक प्रकार से यह उस समय के लिये विश्वकोष (Encyclopædia) है, जैसा कि इसके कर्त्ता भगवान् व्यास ने स्वयं कहा है*। इसके द्वारा उस समय के आचार-सभ्यता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

महाभारत रामायण के पीछे बना है। इस बात का सूचक रामायण में महाभारत के उपाख्यान या कथानकों का न होना है। महाभारत का समय पाँच हज़ार पूर्व का कहा जाता है।

पुराण

पुराणों की संख्या १८ है। इनके कर्त्ता साधारणतः भगवान् व्यास कहे जाते हैं। इसलिये इनका समय भी महाभारत के समीप ही होना चाहिए। पुराणों के द्वारा भी प्राचीन काल की सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र

इसका कर्त्ता चाणक्य माना जाता है। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का यह प्रधान मंत्री था। इसके बनाए ग्रन्थ से तात्कालिक सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है। कहा जाता है कि यह ग्रंथ सम्राट् चंद्रगुप्त के लिये बनाया गया था।

---

* यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

आदिपर्व महाभारत।

कइयों का विचार है कि वात्स्यायन कामसूत्र एवं न्यायदर्शन के सूत्रों पर भाष्य करनेवाले वात्स्यायन मुनि ही चाणक्य हैं।

बौद्ध ग्रंथ (महावग्ग)

इनके बनने का कोई समय निश्चित नहीं है। समय समय पर जो बौद्ध परिषदें हुई हैं, उनमें भगवान् बुद्ध के समय की घटनाओं का समावेश किया गया है। तृतीय परिषद् सम्राट् अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई थी।

विदेशी यात्री

भारतवर्ष में सिकंदर के आने के पश्चात् समय समय पर विदेशी यात्री या दूत भ्रमण के लिये आते रहे। सेल्युकस ने अपना प्रतिनिधि (मैगास्थनीज़) मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा था। उसने पाटलिपुत्र में रहकर उस समय का जो वृत्तांत लिखा है, वह इतिहास के लिये उत्तम सामग्री है। इसी प्रकार एरियन तथा ह्युएनसांग, और फाहियान* के लिखे यात्रावृत्तांत भी उस समय की सच्ची स्थिति का द्योतन कराने में उत्तम सहायक हैं।

अन्य सामग्री

(१) अशोक के शिलालेख—सम्राट् अशोक ने स्थान स्थान पर शिलालेख खुदवाए थे, जिन पर राजकीय आज्ञाएँ तथा अपने कार्य लिखवा दिए थे। यह एक स्थायी तथा आवश्यक सामग्री है।

(२) नाटक और काव्य—कवियों ने अपने अपने समय की स्थिति, ऐश्वर्य, सभ्यता आदि पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला है।

---

* एरियन—द्वितीय शताब्दी में भारत में आया था।

ह्युएनसांग—शिलादित्य द्वितीय के समय (६१० से ६५० A. D.) भारत में आया था।

फाहियान—चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय (४०५ से ४११ A. D.) भारत में आया था।

देखिए बौद्धकालीन भारत, प्रो० जनार्दन भट्ट कृत।

दूसरा प्रकरण

वैदिक काल

ऋग्यजुस्सामाथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या ।

आत्रेय ।

ऋग्यजुः सामथर्वव्याख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः ।
विचिन्त्य सैषामर्थं वै आयुर्वेदं चकार सः ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण।

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास कई भागों में बँटा हुआ है। यथा वैदिक काल का इतिहास, जिसमें दर्शन तथा उपनिषदों का समय भी सम्मिलित है। दूसरा रामायण और महाभारत काल। तीसरा समय बौद्ध काल का है। इसके पश्चात् मुगल काल आरंभ हो जाता है। इस शृंखला में जो समय जितना पुरातन है, वह उतना ही अंधकारपूर्ण भी है। वैदिक काल की सभ्यता और स्थिति का दिग्दर्शन कराने के एक मात्र साधन वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ग्रंथ हैं। इन्हीं के आधार पर वैदिक काल के विषय में लिखा जाता है।

वैदिक सभ्यता सृष्टि के प्रारंभ से मानी जाती है; और उसी समय से वैदिक काल का आरंभ भी गिना जाता है। वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरंभ में हुआ है, ऐसा आर्य जाति का विश्वास है। अतः सृष्टि का समय वेदों का समय है, जो कि १९६०-८५३०२४ वर्ष पूर्व है। इसलिये इतने पुराने काल का इतिहास पूर्ण रूप से मिलना असंभव है।

आर्य जाति वेदों को सब ज्ञान का स्रोत मानती है। प्रत्येक ज्ञान का; पदार्थ-विद्या का मूल वेद में पाया जाता है। जिस प्रकार अर्वाचीन विद्युत्-तार-यंत्रादि का मूल वेद में मिलता है,

उसी प्रकार आधुनिक कृत्रिम अंगों की योजना का वर्णन भी वेद में विद्यमान है* ।

ऋग्वेद में आयुर्वेद के संबंध में पर्य्याप्त मंत्र आए हैं । इसके कारण ही कई आचार्य आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद स्वीकार न करके ऋग्वेद का उपवेद स्वीकार करते हैं† ।

वेदों में जहाँ देवताओं का नाम-संकीर्तन है, वहाँ आयुर्वेद के जन्मदाता एवं प्रवर्त्तक तीनों आचार्यों (दिवोदास, भारद्वाज, अश्विनौ) का नाम-कीर्त्तन भी एक ही ऋचा में किया गया है‡ ।

पीछे जाकर इनमें से प्रथम दो आचार्य चिकित्सा को दो भागों में विभक्त कर देते हैं । दिवोदास (काशीपति, धन्वन्तरि) शल्य तंत्र (School of Surgery) का जन्मदाता है§ । भारद्वाज काय-

---

* **तार का वर्णन**—"युवं पे दवे पुरुवारमश्विनास्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः" ।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका ।

अंगों की योजना—(१)चरित्रं हि वेरिवाच्छेदिपर्णं अजाखेलस्य परितक्म्यायाम् ।

सद्यो **जंघामायसीं** विशपलायै धने हि ते सर्त्तवे प्रत्यधत्ताम् ॥

(२) तस्मा आच्चिना सत्याविचच्च अधत्तंदस्राभिषजाथर्वन् ।

ऋग्वेद ।

† सर्वेषां वेदानामुपवेदा भवन्ति-तद्यथा; ऋग्वेदस्यायुर्वेदः उपवेदः, यजुर्वेदस्य धनुर्वेदः, सामवेदस्य गांधर्ववेदः, अथर्ववेदस्य शस्त्रशास्त्राणि ।

चरणव्यूह ।

‡ यदं यातं दिवोदासाय वर्त्तिं भारद्वाजायश्विनाहयन्ता ।

ऋग्वेद, म० १-१२-१६.

§ "काशीपतिं दिवोदासं......सुश्रुतः परिपृच्छति"

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरा रुजा मृत्युहरोऽमराणाम् ।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतम् प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥

सुश्रुत

चिकित्सा (School of Medicine) का प्रवर्त्तक है; एवं अश्विनौ के शिष्य इन्द्र से ही दोनों आचार्य विद्याध्ययन करते हैं*। इन्हीं आचार्यों के नाम से दोनों शाखाएँ प्रसिद्ध हो गई हैं†।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में च्यवन ऋषि की वृद्धावस्था का नाश, आँखों का निर्माण, औषधसूक्त, वैद्य का लक्षण, सजैशन चिकित्सा, जल-चिकित्सा आदि का वर्णन स्थान स्थान पर आता है‡।

चरक के आठों निन्दित पुरुषों का संकीर्त्तन यजुर्वेद में किया गया है§।

---

* अश्विभ्यां इंद्रः-इंद्रादहम्। मया तु प्रदेयमर्थीभ्यः प्रजाहितहेतोः।

सुश्रुत।

दीर्घजीवितमन्विच्छन्न भारद्वाज उपागमत्।
इंद्रमुग्रतपाबुद्ध्वा शरणममरेश्वरम् ॥

चरक।

† "तत्र धन्वन्तरियाणानामधिकारः क्रियाविधौ"।

चरक।

‡ वृद्धावस्था का नाश—युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तम्।

ऋग्वेद।

वैद्य का लक्षण—यत्रौषधिस्समगत राजानः सम्मिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहा मीवचातकः ॥

जल-चिकित्सा—अप्सु मे सोमोऽब्रवीत् अंतर्विश्वानिभेषजा।
इदमापः प्रवहत यत्किञ्चदुरितं मयि ॥

ऋग्वेद।

सजैशन चिकित्सा—यदिमावाजयन्नह मोषधीर्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति—।

ऋषि—भिषगथर्वाणः—देवता-औषधिस्तुतिः।

§इह शरीरमधिकृत्य अष्टौ निंदिता पुरुषा भवन्ति—तद्यथा—अतिदीर्घश्चातिह्रस्वः अतिलोमश्चालोमा, अतिकृष्णश्चातिगौरः, अतिस्थूलश्चातिकृशश्चेति।

चरक।

अथैमान अष्टौ पुरुषान्नालभे।

यजुर्वेद।

अथर्व वेद में शारीर शास्त्र (Anatomy), रक्तसंचार (Blood-circulation), मूत्रस्रावण-विधि, तथा यक्ष्मा रोग की चिकित्सा का वर्णन स्पष्ट रूप में किया हुआ है*।

उपनिषदों में प्राणों के आधार, देवकोष, मस्तिष्क अश्वत्थ वृक्ष से उपमा दी गई है। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं और शाखाप्रशाखाएँ नीचे को फैली हुई हैं †। वास्तव में मनुष्य का छोटा मस्तक (Cerebalum) एक वृक्ष की भाँति है, जहाँ से स्नायुओं के १२ युग्मों से ८ युग्म निकलने के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों का भी आदि और अंत है।

वेदों का वक्ता या ज्ञानदाता प्रजापति ब्रह्मा कहा जाता है। आयुर्वेद का आरंभ भी यहीं से माना गया है‡। यही कारण है

---

* शारीरशास्त्र-(१) केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य केन मांसं केन गुल्फौ।
(२) मस्तिकमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पुरुषस्य दिवि रुरोहकतमः स देवः॥

रक्तसंचार—कोऽस्मिन्नापो विदधात् विसूवृतः पुरुवृतः सिन्धू सृत्याय जातः।
तीव्रा अरुणा, लोहिनीस्ताम्र धूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥

मूत्रस्रावण—यदांत्रेषु गविन्योर्यद्वस्तावधिसंश्रितम्।
एवा ते मूत्रमुच्यंतां वहिर्वालाति सर्वकम्॥
प्रते भिनद्मि मेहनम्................

अथर्व वेद।

"एतदेवाङ्ग प्रथमं प्रागभिद्यात व्रणसंरोहात्"

सुश्रुत।

† (१) ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

गीता।

(२) "प्राणः प्राणभृतां यत्र श्रितः सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमांगसंगानां शिरस्तदभिधीयते॥"

चरक।

‡ ब्रह्मा प्रोवाच—प्रजापतिरधिजगे।

सुश्रुत।

कि न्यायशास्त्र के सूत्र में* मंत्र और आयुर्वेद की प्रमाणता को एक ही कोटि का स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि वैदिक काल में चिकित्साशास्त्र विद्यमान था। इसके अतिरिक्त वेद में देवासुर-संग्राम का वर्णन भी आता है। उस संग्राम में क्षत, विक्षत, व्यक्तियों की चिकित्सा आवश्यक थी।

चिकित्साशास्त्र का संबंध आयु के साथ है। इसलिए जब से मनुष्य उत्पन्न हुए, उस समय से ही चिकित्साशास्त्र का प्रारंभ होता है। यही कारण है कि आयुर्वेद भी वेदों की भाँति अनादि है†।

---

* मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यात् तत्प्रामाण्यम्।

न्यायदर्शन।

† "सोऽयं आयुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्।
नहि आयुर्वेदस्याभूतोत्पत्तिरुपलभ्यते अन्यत्र बोधोपदेशाभ्याम्।"

चरक।

२

तीसरा प्रकरण

महाभारत और पुराण काल

महाभारत काल और वैदिक काल के बीच में एक बड़ा भारी अंतर पड़ा हुआ है। यदि इस अंतर में रामायण काल न होता तो दोनों कालों में एकदम बहुत परिवर्त्तन हुआ प्रतीत होता। रामायण काल का इतिहास जो कुछ मिलता है, उसका मुख्य आधार वाल्मीकीय रामायण ही है।

रामायण में भी देवासुर-(राम-रावण के) संग्राम का वर्णन है। उसी युद्ध में लक्ष्मण के मूर्च्छित होने एवं वैद्य के संजीवनी बूटी से पुनः जीवित करने का वृत्त भली भाँति पाठकों को विदित ही है।

इसके उपरान्त महाभारत का समय है। महाभारत के आदिपर्व में विचित्रवीर्य के यक्ष्मा रोग का वर्णन और भीम को दिए गए विष के नष्ट हो जाने का कारण भली भाँति वर्णित है* जो कि चिकित्साशास्त्र के सिद्धांतों से अक्षरशः संगत है।

---

* (१) ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन्पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥
सुहृदायँतमानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामाऽस्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥

आदिपर्व।

देखिए, क्षय, यक्ष्मा का कारण चरक चिकित्सा एवं शारीर स्थान में—

रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः।
आजगामाल्पतामिन्दोः देहस्नेहपरिक्षयात्।
....
रजोऽन्धमबलं दीनं यक्ष्मा शशिनमाविशत्।

चरक।

इसी प्रकार उद्योगपर्व में पदार्थविद्या (जंभसाधकाः) के ज्ञाता पुरुषों के बताए हुए पीतमाक्षिक (स्वर्णमाक्षिक) का वर्णन आता है, जिसके उपयोग से मनुष्य अमर हो जाता है, अंधा सुजाखा बन जाता है, बूढ़ा जवान हो जाता है* ।

इसी प्रकार [२]सर्पविष की चिकित्सा का वर्णन, सर्प-सत्र के वर्णन में विस्तार से महाभारत के आदिपर्व में दिया हुआ है। तक्षक का कश्यप ऋषि की विद्या को देखकर धनधान्य देकर वापस भेज देना विष-चिकित्सा का उत्तम उदाहरण है।

इतना ही नहीं, राजा परीक्षित ने ऋषि शृंगी के दिए शाप से बचने के लिये एक स्तम्भवाला मकान जल में बनाया था; और उसमें मंत्र और औषधसिद्ध पुरुषों की योजना की थी† ।

---

(२) ततो संदश्यमानस्य तद्विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जंगमेन तु ॥

महाभारत, आदिपर्व ।

स्थावर विष जंगम विष को नष्ट कर देता है ।

सुश्रुत ।

* कुंजीभूतं गिरिं सर्वमभितो गंधमादनम् ।
दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगंधर्वसेवितम् ॥
तत्रापश्याम वै सर्वे मधुपीतकमाक्षिकम् ।
....
यत्प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा ।
इति ते कथयंति स्म ब्राह्मणाः जंभसाधकाः ॥

महाभारत, उद्योगपर्व ।

† ततो वृक्षं मया दष्टं इमं जीवय कश्यप ।
× × ×
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ॥
संमंत्र्य मंत्रिभिश्चैव स तथा मंत्रतत्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥
रक्षाञ्च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।
ब्राह्मणान्मंत्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥

आदिपर्व ।

महाभारत के उद्योगपर्व में युधिष्ठिर के सैन्य-संचय का वर्णन करते हुए वर्णन आता है कि उसने चिकित्सक वैद्यों का भी कोष, यंत्र, आयुधों के साथ संग्रह किया। इसी प्रकार सेना का वर्णन करते हुए लिखा है कि उस सेना में वेतनभोगी शिल्पी और वैद्य भी थे*।

भीष्म के शरशय्या पर लेटने पर दुर्योधन शल्य निकालने में चतुर वैद्यों को लेकर पितामह के पास आया था। परन्तु जाह्नवी-पुत्र ने धन देकर उनको वापस भिजवा दिया†।

महाभारत काल में भी चिकित्सा जीवित थी, इस बात का दिग्द-र्शन उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।

महाभारत के समय आयुर्वेद के आठ विभाग हो चुके थे‡ और प्रत्येक विभाग अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। भग-

---

* (१) कोषयंत्रायुधाश्चैव ये च वैद्या चिकित्सकाः।
(२) तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः॥

उद्योगपर्व

† उपातिष्ठन्नथो वैद्या शल्योद्धरणकोविदाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधुशिक्षिताः॥
तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव।
धनं दत्त्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः॥
एवं गते मयेदानीं वैद्यैः कार्यमिहास्ति किम्।
× × × ×
वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः॥

महाभारत।

‡ (१) कच्चित् ते कुशला वैद्या अष्टांगे च चिकित्सते।

महाभारत सभा अ० ३५

(२) अष्टांगायुर्वेदवेत्ता मुष्टियोगविधानवित्॥ हेमाद्रिः

(मुष्टियोग = चुटकुले या छोटे छोटे योग।)

ततोऽल्पायुष्टामल्पमेधस्त्वाञ्चावलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्।

सुश्रुत।

वान् कृष्ण भी सभापर्व में अपना परिचय आयुर्वेद के त्रिधातु शब्द (वात, पित्त, कफ) से ही देते हैं* ।

इसी काल में पुराणों का समावेश है। इनके द्वारा उस समय की स्थिति पर बड़ा भारी प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन काल में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति मुख्य उद्देश्य था और इस उद्देश्य की पूर्त्ति का एक मात्र साधन शारीरिक आरोग्यता ही है। इसलिये आरोग्यता-दान और जीवन-दान को सब दानों में श्रेष्ठ ठहराया है। इस दान के लिये पुराणों में आरोग्यशालाएँ बनने का महान् पुण्य कहा गया है†। इस बात का क्रियात्मक रूप बौद्ध काल में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

---

* आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते ।

महाभारत ।

वातपित्तश्लेष्माण एव शरीरसंभवहेतवः तैरेव अव्यापन्नैरधो मध्यो-र्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्य्यते अगारमिव स्थूणाभिः । अतः त्रिस्थूण-माहुरित्येके ।

सुश्रुत ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं त्रिःस्थूणं पञ्चदैवतम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेदवित् ॥

गयी ।

† (१) धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

(२) न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते ।
आरोग्यशालां यः कुर्यात् महावैद्यपुरस्कृताम् ।

चरक ।

सर्वोपकरणोपेतां तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
आकाशस्य यथा नान्तः सुरैरप्युपलभ्यते ।
तद्वदारोग्यदानस्य नान्तो वै विद्यते क्वचित् ॥

स्कंदपुराण ।

(३) आरोग्यदानात्परमं न दानं विद्यते क्वचित् ।
अतो देयं रुजार्त्तानां आरोग्यं भाग्यवृद्धये ॥

विश्वामित्र ।

रोगिणो रोगशान्त्यर्थं औषधं यः प्रयच्छति ।
रोगहीनः स दीर्घायुः सुखी भवति सर्वदा ॥

सौर पुराण ।

इन फलों को सुनकर राजाओं ने अपने राज्य में आरोग्यशालाएँ खोलीं जैसा कि बौद्ध काल में अशोक और शिलादित्य द्वितीय आदि ने किया था* ।

---

* Everywhere in the kingdom of the king Piyadarsi beloved of the gods, and also by the nation who live in the frontiers such as the Cholas, the Pandyas, the realms of Satyaputra and Karalputra, as far as Tamraparni and in kingdom of Antiochus (King of the Greeks) and of the kings who are his neighbours, everywhere the king of Piyadarsi beloved of the Gods has provided medicine of two sorts, medicine for men and medicine for animals.

चौथा प्रकरण

बौद्ध काल

बौद्ध काल का इतिहास प्राचीन दोनों कालों की अपेक्षा उज्ज्वल है। इसका मुख्य कारण भारत का विदेशों के साथ संबंध है। ग्रीस, रोम आदि में भारत के इतिहास की जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसके आधार पर तथा विदेशियों के यात्रावृत्तांत और अशोक के शिलालेखों से इस समय का इतिहास बना है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो बौद्ध काल सम्राट् अशोक के समय से आरंभ होता है। कारण यह कि उस समय यह धर्म राजकीय धर्म बन जाता है, जिससे इसका प्रचार केवल भारत ही में परिमित नहीं रहता, अपितु चीन, लंका, सुमात्रा, जावा, मिस्र आदि स्थानों में भी फैल जाता है।

सम्राट् अशोक ने तीसरी बौद्ध परिषद् की बैठक की थी। उसमें भगवान् बुद्ध के समय की घटनाओं का संग्रह भी किया गया था। वे संग्रह भी बुद्ध के समय की घटनाओं के अच्छे द्योतक हैं। उन्हीं के आधार पर वैद्यक संबंधी बहुत सी गवेषणा हो सकती है।

महावग्ग में लिखा है कि जीवक ने भगवान् बुद्ध की चिकित्सा की थी। यही जीवक राजा बिंबिसार का राजवैद्य था। जीवक ने तक्षशिला-विश्वविद्यालय में सात साल तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था। इसी ग्रंथ में लिखा है कि जब जीवक तक्षशिला में पढ़ा करते थे, तब उनके गुरु ने उन्हें ऐसी औषध लाने को कहा जिसमें कि कोई गुण न हो, निरर्थक हो। जीवक एक योजन घेरे में घूमे, परंतु कोई निरर्थक औषध नहीं ला सके*।

* देखिए बौद्धकालीन भारत—लेखक जनार्दन भट्ट एम० ए०।

चिकित्सा-प्रबंध का वर्णन सम्राट् अशोक के द्वितीय शिला-लेख में इस प्रकार है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य हैं, जैसे चोल, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, और ताम्रपर्णि में अंतियोक नामक यवन राजा के राज्य में और जो उसके पड़ोसी राजा हैं, उन सबके राज्यों में देवताओं के प्रिय प्रिय-दर्शी राजाओं ने दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। एक मनुष्यों की चिकित्सा दूसरी पशुओं की चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं के लिये जहां जहाँ औषधियाँ नहीं थीं, वहाँ वहाँ लाई गईं और रोपी गई हैं।"

इसी प्रकार जातकों में दिए हुए तक्षशिला के वर्णन से प्रतीत होता है कि इस विद्यालय में वेद-वेदांगों के अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, मूर्ति निर्म्माण और चित्रकारी की भी शिक्षा दी जाती थी। किसी समय महर्षि अत्रि यहाँ आयुर्वेद के अध्यापक थे। मगध-नरेश बिंबिसार के राजवैद्य जीवक ने यहीं अध्ययन किया था।

इस विश्वविद्यालय में आयुर्वेद की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। आयुर्वेद के बड़े बड़े ज्ञाता और शिक्षक यहाँ रहते थे। वे केवल शिक्षा ही नहीं देते थे, अपितु असाध्य रोगों की चिकित्सा भी करते थे। यहाँ अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों की अधिकता थी। कहा जाता है कि चीन के राजकुमार को एक बार भयानक नेत्रपीड़ा हुई। जब वहाँ के चिकित्सकों से वह अच्छी नहीं हुई, तब वह तक्षशिला में आया था और यहाँ से अच्छा होकर गया था। यह वर्णन अश्वघोष के सूत्रालंकार में है।

महावग्ग में लिखा है कि भगवान् बुद्ध के समय अश्वघोष ने भगंदर रोग (fistula in ano) में शल्यकर्म किया था। पश्चात बुद्ध ने स्थान के मृदु होने से तथा व्रण के पूर्ण साफ़ न होने के कारण

शल्यकर्म का निषेध कर दिया। इसी प्रकार इस रोग में दाहकर्म भी सर्वथा निषिद्ध कर दिया था*।

यही कारण है कि जीवक ने राजा बिंबिसार का यह रोग प्रलेपों के द्वारा ही अच्छा किया था*।

भगवान् शंकराचार्य्य को जब भगंदर रोग हुआ, तब भी वैद्यों ने शल्यकर्म नहीं किया*।

इसी प्रकार महावग्ग में लिखा है कि रोगी और परिचारक में निम्न बातें होनी चाहिएँ। रुग्ण पुरुष को पता होना चाहिए कि—

(१) मेरे लिये क्या वस्तु उत्तम है।

(२) मेरे लिये भोजन की कितनी मात्रा उत्तम है।†

(३) मेरे औषध लेने का क्या समय है।

(४) मेरे लिये कौन सी धात्री उत्तम है‡।

(५) मुझे किस प्रकार का रोग है।

(६) मैं बुरी अवस्था से अच्छी अवस्था में आ रहा हूँ या नहीं।

---

* अचिकित्स्यभगन्दराख्यरोगे प्रसरच्छोणितपंकिल स्वशाट्यां।
अजुगुप्स विशो घनादिरूपां परिचर्य्यां अकृताऽस्य तोटकार्य्यः॥

"And Givaka...healed the fistula of the Magadha King Bimbisar by an ointment."

महावग्ग अ० ८ और अ० ६।

निगदिते मुनिनेति भिषग्वरा विदधिरे बहुधा गदसत्क्रियाः।
न च शशाम गदो बहुतापदो विमनसः पटवो भिषजोऽभवन्॥

शंकरदिग्विजय, अ० १६।

† मात्राशी स्यात्।

चरक।

‡ भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।

चरक।

चिकित्सक, औषध, रोगी, और परिचारक यह चारों ठीक हों तो चिकित्सा सफल होती है।

(७) मैं तेज़, काटनेवाले, दुःखदायी, नाश करनेवाले दर्दों को कब सहने योग्य हो जाऊँगा।

परिचारक को पता होना चाहिए कि—

(१) कब वह औषध देने योग्य होगा।

(२) रोगी के लिये कौन सा भोजन उत्तम है।

(३) रोगी को किस समय सेवा की आवश्यकता है।

(४) वह रोगी से प्रेम करता है वा नहीं? उसका थूक, वमन आदि उठाने में उसे घृणा तो नहीं है।

(५) वह रोगी को प्रेम से पढ़ा और धार्मिक शिक्षा दे सकता है वा नहीं*।

रोगियों की सेवा (आरोग्यदान) का पुण्य बौद्ध काल में कितना बढ़ा हुआ था, यह बात विशाखा और भगवान् बुद्ध के वार्तालाप से स्पष्ट हो जाती है।

विशाखा ने प्रथम वर द्वारा भगवान् से अपनी दीर्घायु माँगी। और एक वर से "रोगियों के लिये, तथा जो रोगियों की सेवा करते हैं, उनके लिये जन्म भर भोजन और औषध दान करने की आज्ञा माँगी थी"।

कारण यह कि वह जानती थी कि यदि रोगी को समय पर उचित भोजन और औषध नहीं मिल सकी, तो रोग बढ़ जायगा। इसी प्रकार यदि परिचारक को अपने भोजन की चिंता स्वयं करनी पड़ी, तो वह पूर्ण रूप से सेवा नहीं कर सकता। अतः संघ में जन्म भर इन दोनों के दान की आज्ञा माँगी। (देखिए परिशिष्ट में महावग्ग)

भारतवर्ष में बौद्ध काल के समय आरोग्यदान के पुण्य का कितना महत्त्व था, यह बात विदेशी यात्रियों के वर्णन से स्पष्ट होती

---

* उपचारज्ञता दाक्ष्यं अनुरागश्च भर्त्तरि।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणा परिचरे जने॥

चरक।

है। इसके साथ उस समय के चिकित्सा-ज्ञान के विषय में भी समय समय पर आनेवाले यात्रियों ने उत्तम प्रकाश डाला है।

(१) मेगास्थनीज, जो सम्राट् चंद्रगुप्त के समय भारत में दूत बनकर आया था, लिखता है—"भारत में सब से अधिक प्रतिष्ठा उन शर्मनों की है जो जंगलों में घूमते फिरते हैं। इसके बाद उन लोगों की है जो रोगियों की चिकित्सा करते हैं।"

(२) एरियन लिखता है—"यूनानी लोग जब बीमार होते थे, तब वे मिथ्यावादी ब्राह्मणों से चिकित्सा करवाते थे। वे लोग अद्भुत और मनुष्य-शक्ति के बाह्य उपायों से उन सब रोगों को अच्छा कर देते थे जो अच्छे होने योग्य होते थे।"

(३) नियार्कस, जो सिकन्दर का सेनापति था, लिखता है—"यूनानी लोग साँप काटने की औषध नहीं जानते। परंतु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने स्वस्थ कर दिया।"

(४) ह्यूएनसांग—यह चीनी यात्री शिलादित्य द्वितीय के समय भारत में आया था और इसने बहुत वर्षों तक भारत में भ्रमण किया था। यह अपने लेखों में लिखता है कि राजा ने अपने राज्य में पशु-वध की मनाही कर दी है। बड़े बड़े शहरों और गाँवों में उसने औषधालय खोल रक्खे हैं, जिनमें रोगियों को वस्त्र, भोजन और औषध मुफ़्त दी जाती है। आगे चलकर यही यात्री लिखता है कि भारत में "पुण्यशालाओं" का होना साधारण बात है। तक्ष-शिला का वर्णन करते हुए लिखा है कि धर्मार्थ धर्मशाला (Goodness or Happiness Punyasala) गरीबों और अनाथों के लिये खुले हुए हैं। वहाँ उनको आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त भोजन, औषध, वस्त्र सब मुफ़्त बाँटे जाते हैं जिससे उनको कष्ट न हो। आगे चलकर मतिपुर (Matipur) और मथुरा की पुण्यशालाओं का वर्णन किया है, जहाँ विधवाओं और गरीबों को बिना मूल्य औषध और भोजन दिया जाता था। कबंध की पुण्यशाला का भी

वर्णन लिखा है। मुलतान की पुण्यशाला (Mercy) के विषय में लिखा है कि वहाँ भोजन, पान, औषध सब मुफ़ दी जाती थी।

शिलादित्य के विषय में लिखा है कि प्रति वर्ष वह दूर दूर से उपदेशकों को बुलाकर एकत्र करता है; और तीसरे एवं सातवें दिन उनको वस्त्र, भोजन, औषध, वितरण करता है।

(५) फाहियान—यह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय भारत में भ्रमण करने आया था। यह अपने लेखों में पाटलिपुत्र के धर्मार्थ औषधालय का वर्णन निम्न शब्दों में करता है—

"इस नगर के भद्र पुरुषों ने गरीबों के लिये शहर में स्थान स्थान पर औषधालय खोल रक्खे हैं जहाँ पर चिकित्सक उनके रोगों की परीक्षा करके भोजन, वस्त्र और औषध देते हैं। अच्छा होने पर वह अपनी सुबिधा के अनुसार जहाँ चाहते हैं, चले जाते हैं।"

इन यात्रियों के वर्णन से प्रतीत होता है कि भारत में पुण्यशालाओं और आरोग्यशालाओं का महत्त्व अधिक माना जाता था जो कि आज तक उसी प्रकार बना हुआ है। इस समय भी उसी पुण्य को ध्यान में रखकर धनी जन पुण्यशालाएँ, धर्मशालाएँ, औषधालय खुलवाते हैं, जहाँ रोगियों को औषध बिना मूल्य वितरित की जाती है।

जिस प्रकार आजकल बड़े बड़े शहरों में जनसाधारण के लिये प्रसूतिकागृह (Maternary Hospitals) खोले जाते हैं, उसी प्रकार बौद्ध काल में भी उपास्ति ने गर्भवती स्त्रियों और अंधों के लिये औषधालय खोल रक्खे थे।

संक्षेप से यदि हम बौद्ध काल का अन्वेषण करें तो दया-अहिंसा के भाव से प्रेरित होकर ही बुद्ध भगवान् ने इस धर्म का बीजारोपण किया। दया-धर्म से ही प्रेरित होकर सम्राट् अशोक कलिंग देश को जीतने के पश्चात् बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ और अंत तक इस धर्म का दया ही मूल-मंत्र रहा। उसी दया भाव से प्रेरित होकर राजाओं और धनियों ने स्थान स्थान पर दातव्य औषधालय खोले। महावग्ग

से स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के समय में भी विहारों में चिकित्सक रहते थे*। जो रुग्ण श्रमणों की चिकित्सा करते थे। यह चिकित्सा शल्य-चिकित्सा भी होती थी। जैसा कि महावग्ग के पढ़ने से ज्ञात होता है, अश्वघोष ने बेलुवन के विहार में एक भिक्षु के भगंदर का शल्यकर्म किया था*; एवं इसी काल में प्रसिद्ध शालाक्य तंत्र (Cranial Surgery) का ज्ञाता, राजा बिंबिसार का राजवैद्य जीवक हुआ है।

इस काल में चिकित्साशास्त्र पूर्ण उन्नति के शिखर पर था। इस काल की घटती के साथ ज्यों ज्यों बौद्ध धर्म घटता गया, त्यों त्यों चिकित्साशास्त्र की भी अवनति आरंभ हो गई, विशेषतः शल्य-तंत्र की।

---

* देखिए Ancient Surgical Instruments Vol. I. और परिशिष्ट।

पाँचवाँ प्रकरण

ग्रंथ

भारत में चिकित्सा, विशेषत: विष-चिकित्सा का कितना प्रचार था, यह बात तत्कालीन ग्रंथों और काव्यों से भली भाँति ज्ञात हो जाती है।

कामन्दकी नीतिशास्त्र में भोजन की परीक्षा को आवश्यक बताया है। इतना ही नहीं, भोजन की परीक्षा के अतिरिक्त राजा को आवश्यक है कि पीने से पूर्व औषध या पानी की परीक्षा कर ले। राजा अपने यहाँ विषवैद्य रखे*। इसी शास्त्र में लिखा है कि अपने शत्रुओं का पराजय करने में राजा चिकित्सकों से सहायता ले†।

---

* (१) विषघ्नैरुदकैः स्नातः विषघ्नमणिभूषितः।
परीक्षितं समश्नीयाज्जाङ्गलविद्भिषग्वृतः॥
औषधानि च सर्वाणि पानं पानीयमेव च।
तत्कल्पकैः समास्वाद्य प्राश्नीयाद्भोजनानि च॥

(२) भिषग्भेदेन वा शत्रुं रसदानेन साधयेत्।

† सुश्रुत के कल्पस्थान में लिखा है कि शत्रु राजा को मारने के लिये, या सैन्य को मूर्च्छित करने के लिये, पानी, कुएँ, तालाब, वायु, घोड़े की काठी, खड़ाऊँ, जूता, वस्त्र, आदि विषाक्त कर देते हैं। अतः वैद्य इसकी परीक्षा करके प्रतीकार करे।

(१) औरङ्गजेब ने जयसिंह के पुत्र को विषयुक्त खिलअत पहनाकर ही मारा था।

(२) चाणक्य ने राजा महानन्द का नाश विषयुक्त भोजन देकर किया था।

(३) राजा पर्वतेश्वर को राक्षस की भेजी विषकन्या के द्वारा ही चाणक्य ने मारा था। विषकन्या बनाने के लिये कन्या को बचपन से ही विष खिलाया जाता है। प्रथम मात्रा घातक नहीं होती, सह्य होती है। और फिर धीरे धीरे उसे यहाँ तक पहुँचा देते हैं कि जो मात्रा दूसरों के लिये घातक होती है, वही उसे सह्य हो जाती है। इससे कन्या में एक विषाक्त

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उपर्युक्त नीतिशास्त्र के अनुसार भोजन, पानी और औषध की परीक्षा दी हुई है। इसके अतिरिक्त आशुमृत-परीक्षा देकर न्यायवैद्यक (Medical Jurisprudence) की स्थिति का दिग्दर्शन भी कराया है जिससे विष, फाँसी आदि से मरे हुओं की परीक्षा की जा सके*।

भविष्य पुराण में सर्पों की जाति, उत्पत्ति, देशभेद, चिकित्सा आदि का अति विस्तार से वर्णन है। सर्पचिकित्सा में यहाँ के निवासी कितने कुशल थे, यह बात सिकन्दर के सेनापति नियार्कस की उक्ति से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, सिकन्दर के कई सौ वर्ष बाद होनेवाले कालिदास ने भी सर्पचिकित्सा के विषय में "मालविकाग्निमित्र" में लिखा है।

विदूषक को जब पुष्पसंचय करते समय सर्प ने काट लिया, उस समय परिव्राजक ने सर्पचिकित्सा का सब से पूर्व कर्म "दंशच्छेद" करने को कहा जो चरक में सर्पचिकित्सा का मुख्य और सर्वोत्तम सूत्र बताया गया है और जिससे रक्त के निकलने के साथ विष

शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह विष उसके शरीर के सब रसों में व्याप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि कोई उसका चुम्बन या सहवास करे, तो वह उस विष से मर जाता है।

......हन्ति गम्यमाना च मैथुने। डल्हण।

देखिए सुश्रुत कल्पस्थान।

आजकल भी Serum तैयार करने के लिये यही विधि काम में लाई जाती है। भेद इतना ही है कि यह प्रायः घोड़ों पर से बनाते हैं। प्राचीन काल में शत्रुओं को मारने के लिये राजा लोग विषकन्याएँ (स्त्रीचायुधं कुसुमसिहात्सजश्च...महाभारत) समीप रखते थे।

* तस्मादस्य जांगलीविदो भिषजश्चासन्ना स्युः।

भोजनविष-परीक्षा के लिये देखिए कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण—विनयाधिकारे आत्मरक्षितम्।

आशुमृत-परीक्षा के लिये ,, ,, ,, प्रकरण—कण्टकशोधने चतुर्थेऽधिकरणे आशुमृतकपरीक्षा।

भी निकल जाता है। पश्चात् विदूषक की चिकित्सा ध्रुवसिद्धि द्वारा कराई गई है जो विषवैद्य था*।

भोजप्रबन्ध में संज्ञापहरण करके शल्यकर्म करने का विधान स्पष्ट रूप से दिया हुआ है। राजा के पानी का नस्य लेते समय दो कृमि नासा-मार्ग से मस्तिष्क में पहुँच गए थे। उनकी चिकित्सा के लिये यह शल्यकर्म करने की आवश्यकता हुई थी†। (राजा भोज का समय सन् ९२७ ईस्वी है।) इस प्रकार यह ग्रंथ भी उस समय की चिकित्साप्रणाली पर प्रकाश डालने के साथ उस समय के चिकित्साशास्त्र की उन्नति का दिग्दर्शन कराता है।

---

* विदूषक--परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्पेणास्मि दष्टः।
परिव्राजक--तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते। स तावदस्य क्रियताम्।
छेद्यो दंशस्य दाहो वा क्षतस्य रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुषः प्रतिपत्तयः॥
जयसेन--ध्रुवसिद्धि विज्ञापयति उदककुम्भपिधानेन सर्पमुद्रा कल्पयितव्या।
धारि--इदं सर्पमुद्रमंगुलीयकम्।
निपुणक--अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितम्। मा ते विशङ्कितम् पापम्।

मालविकाग्निमित्र, चतुर्थ अङ्क।

देखिए चरक और सुश्रुत में विषचिकित्सा।

† "ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरः कपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य सन्धानकरणमुद्रया कपालं यथावदारस्य संजीवन्य च तं जीवयित्वा तस्मै तद्दर्शयताम्।"

भोजप्रबन्ध।

देखिए सुश्रुत में सम्मोहन-विधि, सूत्रस्थान और चिकित्सास्थान में मूढ़गर्भ।

छठा प्रकरण

चिकित्सा-शास्त्र की अवनति

अधमः शस्त्रदाहाभ्यां सिद्धवैद्यस्तु मंत्रिकः ।

बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव उस समय हुआ था जब कि यज्ञादि का प्रचार बहुत बढ़ गया था और यज्ञ में बलि का प्रचार चल पड़ा था। इसके अतिरिक्त समाज ब्राह्मणों के कारण बहुत दुःखित हो गया था। कारण ब्राह्मणों ने संपूर्ण विद्याओं पर आधिपत्य जमा रखा था। यह मध्य काल था। इस समय भगवान् बुद्ध ने जनता की अभिरुचि के अनुसार ही "अहिंसा" और "दया" के मूल मंत्र का प्रचार किया; सब वर्णों को समान बताया। धर्म का मूल सूत्र दया जानकर जनता की अभिरुचि यज्ञादि से हटकर बौद्ध धर्म में हो गई। अंत में यह धर्म सम्राट् अशोक के समय में राजकीय धर्म बन गया। इस समय दया के भाव को पूर्ण करनेवाली आरोग्य-शालाओं का प्रचार दूर दूर तक हो गया था।

इसी दया-भाव से प्रेरित होकर साधारणतः शस्त्रकर्म की ओर अभिरुचि निम्न लिखित कारणों से न्यून होने लगी थी—

(क) इस कर्म में रोगी को कष्ट और यंत्रणा होती है; अतः रोगी और चिकित्सक दोनों कष्ट से बचने लगे।

(ख) महावग्ग से प्रकट होता है कि भगवान् बुद्ध ने आज्ञा द्वारा शल्यकर्म, क्षारपातव और दहन क्रिया का निषेध कर दिया था*।

अतः लोगों की तथा चिकित्सकों की रुचि इस कर्म से बचने की ओर होने लगी। वे रोग को अच्छा करने के लिये अन्य-साधन ढूँढ़ने लगे।

* देखिए महावग्ग अ० ६।

इसी समय प्रसिद्ध बौद्ध वैज्ञानिक नागार्ज्जुन का जन्म हुआ। उसने एक अन्य विधि को जन्म दिया। उस चिकित्सा में मात्रा के छोटे होने से तथा शीघ्र प्रभाव करने से उसका बहुत प्रचार हो गया। उस चिकित्सा को नागार्ज्जुनीय चिकित्सा कहते हैं*।

इसी समय Hypnotic suggestion का भी जन्म हुआ। मनुष्यों का विश्वास पहले चिकित्साशास्त्र से उठने लगा; अत: यह चिकित्सा लोकप्रिय होने लगी।

मनुष्य शस्त्रचिकित्सा से भयभीत होते थे; अत: आवश्यक प्रतीत हुआ कि अन्य ऐसी चिकित्सा का अवलंबन किया जाय जो इतनी वीभत्स एवं कष्टदायक न हो। इसके लिये नागार्ज्जुन ने दैव चिकित्सा† को जन्म दिया जिसमें पारद एवं धातुओं का प्रयोग किया जाता है।

मनुस्मृति के काल में धर्म की ओर विशेष रुचि हो गई थी; अत: हर समय शुद्धता का विशेष रूप से ध्यान रखे जाने का आदेश दिया जाने लगा। परंतु इस विद्या में शुद्धता का ध्यान रखना अति कठिन था; अत: उस समय के ग्रंथकारों ने चिकित्सकों के अन्न को त्याज्य और दूषित बताया‡।

---

* नागार्ज्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद्विशदाचरैः ब्रूमः॥—चक्रदत्त।

† दिव्योषधिं विना देवि! शस्त्रविद्या सुनिष्फला।
वैरूप्यं कुरुते या च दुश्चिकित्स्ये व्यधान्तरे॥
जायन्ते हि च पाशांसि पाटितानि पुनः पुनः।
किं तत्र शस्त्रसाध्यं स्याद् सुसिद्धिः भेषजैर्विना॥

‡ "पूयं चिकित्सकस्यान्नं.................."
चिकित्सकान्देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युः हव्यकव्ययोः॥

मनु० अ० ३—१२।

च्यवन ऋषि को अच्छा करके अश्विनीकुमारों ने यज्ञभाग प्राप्त करने की भिक्षा माँगी थी। इसके देने के लिये ऋषि ने पुरोहित बनकर अपने श्वशुर राजा से यज्ञ कराया था। बीच में इंद्र ने विघ्न डाला; परंतु ऋषि के शाप से

बिना राज्य की सहायता के कोई शास्त्र उन्नति नहीं कर सकता। सम्राट् अशोक के समय में प्राचीन चिकित्सा-पद्धति का सूर्य जैसा चमक रहा था, वैसा ही मुगल काल में हिकमत का और वर्तमान काल में आंग्ल चिकित्सा का चमक रहा है। राजकीय पद्धति के आगे दूसरी पद्धति चाहे कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, सफल नहीं हो सकती। यही बात मुगल काल में आयुर्वेद के साथ हुई।

प्राचीन ग्रंथों में अनिपुण, छद्मवेशी चिकित्सकों के लिये प्राणदंड का विधान था। राज्य की ओर से दूसरा दंड विधेय नहीं था। ऐसे चिकित्सकों के प्रचार का कारण राजाओं का प्रमाद ही बताया गया है*।

चिकित्साशास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिये शवच्छेद आवश्यक है; परंतु घृणा तथा अशुद्धता के कारण वह छोड़ दिया गया था। इस प्रकार चिकित्साशास्त्र से धीरे धीरे लोगों की अभिरुचि कम होने लगी†।

इन सब कारणों से चिकित्सा-प्रणाली को एक धक्का लगा जिससे वह अवनति के गढ़े में गिरने लगी।

———

इन्द्र को भुजस्तंभ हो गया। अंत में उनका भाग स्वीकार करने पर अश्विनी-कुमारों ने भुजस्तंभ अच्छा किया था। देखिए महाभारत आदिपर्व।

* राज्ञां प्रमादात् चरन्ति राष्ट्राणि। —चरक।

राज्ञः तं वधमर्हति। —सुश्रुत।

† तस्मान्निःसंशयज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वांछता।
शोधयित्वामृतं सम्यक्द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः॥ —सुश्रुत।

सातवाँ प्रकरण

चरक और सुश्रुत

कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकाराहन्नदोपानय
 द्वौ मंत्रिप्रवरश्च तुल्यमगदंकारश्च तावूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
 स्यादस्यानलदं विना न दलने तापस्य कोपीश्वरः ॥—नैषध।

यद्यपि आयुर्वेद के आठ अंग हैं, तथापि मुख्य रूप से दो ही अंग (कायचिकित्सा और शल्य-तंत्र) प्रधान हैं। शेष अंगों का समावेश इन्हीं दोनों अंगों में हो जाता है। इन दोनों अंगों में भी धन्वंतरि ने शल्य-तंत्र को सब से प्रधान ठहराया है*।

इन दोनों के जन्मदाता दो व्यक्ति हैं। शल्य-तंत्र के जन्मदाता काशीपति 'दिवोदास' धन्वंतरि हैं और कायचिकित्सा के जन्मदाता भारद्वाज ऋषि हैं। इन्हीं दोनों मतों के प्रसिद्ध दो ग्रंथ (सुश्रुत और चरक) आज कल मिलते हैं। शेष ग्रंथों में आत्रेय (चरक से) या सुश्रुत के ही वचन संगृहीत किए गए हैं।

चरक संहिता

चरक संहिता के प्रथम अध्याय में आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताते हुए कहा है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद सब से पहले दक्ष प्रजापति को पढ़ाया। दक्ष से अश्विनीकुमारों ने पढ़ा। अश्विनीकुमारों का शिष्य इंद्र बना। इंद्र से भारद्वाज ने आयुर्वेद पढ़कर उसका प्रचार किया।

---

* ततोऽल्पायुषमल्पमेधसं त्वां चावलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। तद्यथा—शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यं, अगदतंत्रं, रसायनतंत्रं, वाजीकरणतंत्रमिति।

एतद्देव अंगं प्रथमं प्रागभिघात व्रणसंरोहाद् यज्ञशिरःसंधानाच्च।
—सुश्रुत।

यही उपाख्यान सुश्रुत में भी है; पर वहाँ कहा है कि इंद्र से धन्वंतरि दिवोदास ने पढ़ा और उसने सुश्रुतादि ऋषियों को पढ़ाया।

भारद्वाज के कई शिष्य थे जिनमें से पुनर्वसु आत्रेय मुख्य थे*। आत्रेय के अग्निवेश, भेल, हारीत, जतुकर्ण, पराशर, क्षारपाणि ये छः शिष्य थे। इनमें से प्रत्येक ने पृथक् पृथक् ग्रंथ बनाए। चरक संहिता आत्रेय के प्रधान शिष्य अग्निवेश की बनाई हुई है। वर्तमान संस्करण चरक मुनि का किया हुआ है। वर्त्तमान संपूर्ण संहिता चरक मुनि द्वारा संपादित नहीं; अंतिम चौवालीस अध्यायों को पंचनद प्रांत निवासी दृढ़बल ने पूर्ण किया है। भेल और हारीत के ग्रंथ भी मिलते हैं। भेल के ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति तंजौर के पुस्तकालय में है। एक प्रति कलकत्ते में छप भी चुकी है।

चरक के विषय में मतभेद है। हिंदू लोग चरक को अत्यंत प्राचीन काल का मानते हैं; परंतु युरोपियन विद्वान् उसको इतना पीछे नहीं ले जाना चाहते।

सिल्वेन लेवी (Sylvain Levi) ने बौद्ध त्रिपिटकों का चीनी अनुवाद पढ़कर बतलाया है कि "चरक" कुषण राजा कनिष्क के राजवैद्य थे। परंतु इस बात को मानने में निम्न लिखित आपत्तियाँ हैं—

(१) कनिष्क का समय पूर्ण रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। विन्सेन्ट स्मिथ ने उसे प्रथम शताब्दी ई० पू० से द्वितीय शताब्दी ई० पू० के बीच में रखा है। यह तीन सौ वर्ष की सीमा थोड़ी नहीं। बौद्ध त्रिपिटक में चरक को केवल राजवैद्य लिखा है, प्रामाणिक ग्रंथ का निर्माता नहीं लिखा। अतएव यह कहना कठिन है कि चरक संहिता के कर्त्ता और कनिष्क के राजवैद्य एक ही हैं।

---

* "आत्रेय" शब्द से चरक संहिता में दो भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं—एक पुनर्वसु या कृष्णात्रेय; दूसरे भिक्षुक आत्रेय, जैसा कि सूत्रस्थान में भिक्षुक आत्रेय की उक्ति का कृष्णात्रेय द्वारा खंडन किए जाने से स्पष्ट है। अन्यत्र भी "देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयचिकित्सितम्" आदि में कृष्णात्रेय ही प्रधान था, जैसा कि चरक से स्पष्ट है।

(२) हिंदू वैद्य चरक को अत्यंत पुराना बतलाते हैं। इस पर यदि एकदम विश्वास नहीं तो अविश्वास भी नहीं कर सकते। वे चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट इन तीनों में से चरक को ही प्राचीनतम मानते हैं※।

(३) डा० पी० सी० राय का कथन है कि कई वेद-मंत्रों में चरक का नाम आता है। यदि यह ठीक है तो "चरक" एक पद है। बौद्ध त्रिपिटक में कनिष्क के जिस राजवैद्य का नाम आया है, संभवतः उसे यह पद मिला हो। यह सर्वथा असंभव नहीं, कारण वाग्भट्ट सिंध के चरक कहलाते हैं।

(४) पाणिनि ने अग्निवेश और चरक के नाम पर पृथक् पृथक् सूत्र बनाए हैं†। अतएव पाणिनि से पूर्व ये नाम अवश्य प्रसिद्ध होंगे। प्रोफेसर गोल्डस्टकर ने यह सिद्ध किया है कि पाणिनि छठी शताब्दी ई० से पूर्व के नहीं।

(५) बौद्धकालीन भारत में प्रो० जनार्दन भट्ट ने लिखा है कि अत्रि ऋषि किसी समय तक्षशिला में आयुर्वेद के अध्यापक थे। उसी विद्यालय में पाणिनि को भी अध्यापक माना है।

(६) पतंजलि ने चरक पर टीका की है। पतंजलि द्वितीय शताब्दी ई० पू० में हुए थे। अतः चरक उनसे बहुत पहले हो चुके होंगे। तब तक चरक का ग्रंथ भी बहुत प्रसिद्ध हो चुका होगा; अन्यथा वे टीका ही क्यों करते‡।

※ चरकः सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथापरः।
मुख्याश्च संहिता वाच्याः तिस्रः एव युगे युगे॥
अत्रिः कृतयुगे वैद्यो, द्वापरे सुश्रुतो मतः।
कलौ वाग्भट्टनामा च, गरिमात्र प्रदृश्यते॥ —हारीत।

† "कठचरकाल्लुक्" गर्गादिभ्यो यञ्-(गर्ग-वत्स, अग्निवेश, पराशर, जतुकर्ण.........)

‡ (१) पातंजल-महाभाष्य चरक प्रतिसंस्कृते।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्तेऽहिपतये नमः॥

(७) महाभारत में "कृष्णात्रेय" का नाम चिकित्सा के संबंध में आता है* ।

(८) ब्रह्मसूत्र में "आत्रेय" का नाम आता है जिसके कर्त्ता भगवान् व्यास कहे जाते हैं ।

(९) चरक के आदि में किसी देवता के प्रति नमस्कार नहीं है । परंतु पिछले ग्रंथों में नमस्कार की प्रथा है । पुराने ग्रंथों में इस प्रकार की कोई प्रथा नहीं† । अतएव पौराणिक साहित्य का कम से कम चरक के समय तक विकास नहीं मालूम होता । चरक में बुद्ध भगवान् की कहीं चर्चा नहीं है । यदि चरक का कर्त्ता कनिष्क का राजवैद्य ही होता तो अवश्य इसकी चर्चा करता । कारण, कनिष्क स्वयं बौद्ध धर्मानुयायी था और धार्मिक बातों में बहुत योग देता था । अशोक ने जन-साधारण के लिये जो औषधालय खोले थे, उनके उल्लेख के साथ चरक में उन औषधालयों का भी वर्णन है जो बड़े बड़े धनी लोगों के लिये ही उपयोगी हो सकते थे‡ ।

(१०) चरक संहिता का क्रम, लेखनशैली आदि प्रायः ब्राह्मण ग्रंथों और न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों से मिलती है । और यह

---

(२) योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
अपाकरोत् यः प्रवरो मुनीनां, पतञ्जलिस्तं शिरसा नमामि ॥

* देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेय चिकित्सितम् ।
—महाभारत, अनुशासनपर्व ।

"स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः" अ० ३ । पा० ४ । सू० ४४ ।

† महाभारत के आदि में ही सरस्वती देवी और व्यास के लिये कीर्त्तन आता है । यथा—

देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।

‡ "दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचरमनुपत्यकं । धूमातपरजसामन-भिगमनीयमनिष्टानाञ्च शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धानां......स्नानभूमि-महानसोपेतं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत् पूर्वमुपकल्पयेत् ।
—चरक १-१५ ।

इसी प्रकार चरक में सूतिकागृह और कुमारागार का वर्णन भी आता है ।

प्राचीन शैली इस बात का प्रमाण है कि चरक संहिता का निर्माण भी उसी समय हुआ था।

(११) चरक संहिता में वाद, प्रतिवाद, वितंडा, छल, एवं प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि प्रमाणों को न्याय दर्शन की भाँति माना है तथा सांख्य दर्शन के प्रति भक्ति दिखाई है*। अतः चरक संहिता सूत्र काल से पहले लिखी गई है।

सुश्रुतसंहिता

सुश्रुत संहिता के कर्ता सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। उन्होंने काशिराज दिवोदास से चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी। दिवोदास का उपनाम धन्वंतरि था†।

सब से पूर्व रोहण (Art of Healing) का आविष्कार इन्हींने किया था। चरक औषध-चिकित्सा जानते थे; सुश्रुत शल्यकर्म के पंडित थे‡।

इस ग्रंथ का कर्त्ता कौन है, इसमें मतभेद है। धन्वंतरि ने शल्य-चिकित्सा के सिद्धांतों पर सुश्रुत को कुछ व्याख्यान दिए थे। कहा जाता है कि वर्त्तमान संहिता उन्हीं व्याख्यानों का संग्रह है। परंतु संहिता के आदि में ही ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, इंद्र, धन्वं-

---

* यथा आदित्यः प्रकाशकः तथा सांख्यवचनम्। च० चि० अ० ८।
देखिए चरक सू० अ० १०, और विमान अ० ८ संभाषण-विधि।

† धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः।
विश्वामित्रात्मजमृषिं शिष्यं सुश्रुतमन्वशात्॥

"अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशीराजं दिवोदासं धन्वन्तरिं.........सुश्रुतप्रभृतय ऊचुः॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञस्तपोदृष्टिरुदारधीः।
वैश्वामित्रं शशासाथ शिष्यं काशीपतिर्मुनिः॥

‡ चरक में स्वयं धन्वंतरि संप्रदाय की सहायता माँगी गई है। यथा—
तत्र धान्वन्तरियाणामधिकारः क्रियाविधौ।
वैद्यानां कृतवेध्यानां व्यधनशोधनरोपणे॥
च० चि० गुल्म।

तरि, सुश्रुत आदि को नमस्कार किया गया है*। इससे स्पष्ट है कि स्वयं सुश्रुत इस ग्रंथ के कर्त्ता नहीं। डल्हणाचार्य की सुश्रुत पर टीका है। जान पड़ता है कि वर्त्तमानसंहिता सुश्रुत संहिता की पुनरावृत्ति है। यह दूसरा संस्करण नागार्ज्जुन का है। नागार्ज्जुन प्रसिद्ध बौद्ध वैज्ञानिक था†। सुश्रुत के पठन से यह स्पष्ट है कि वह इसका प्रतिसंस्कर्त्ता अवश्य है। पीछे से कुछ बढ़ाया भी गया है। यदि यह दूसरा संस्करण नागार्ज्जुन द्वारा ही किया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

सुश्रुत के समय का पता लगाना कठिन है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। परंतु विश्वामित्र के विषय में हमें इतना ही ज्ञात है कि वे वैदिक काल में हुए। महाभारत में भी सुश्रुत का नाम आता है‡। महाभारत का समय १००० ई० पू० निश्चित किया जाता है। अतएव सुश्रुत इससे भी बहुत काल पूर्व हुए होंगे। शतपथ ब्राह्मण के कर्त्ता सुश्रुत से परिचित थे। शतपथ का समय ६०० ई० पू० रक्खा जाता है। अतएव सुश्रुत का कर्त्ता ६०० ई० पू० के बाद का कभी नहीं हो सकता।

कात्यायन अपने वार्त्तिकों में सुश्रुत का वर्णन करते हैं§; अतः सुश्रुत इनसे भी बहुत प्राचीन होंगे।

वर्त्तमान सुश्रुत संहिता सुश्रुत के आदि ग्रंथ की पुनरावृत्ति ही प्रतीत होती है; क्योंकि सुश्रुत स्वयं यह नहीं लिख सकते कि औषधेनव मौरभ्रं‖। सौश्रुत आदि के ग्रंथों के मौलिक सिद्धांत

---

* नमो ब्रह्म प्रजापत्याश्वीवतो यद् धन्वन्तरी सुश्रुतप्रभृतिभ्यः।

† यत्र यत्र परोक्षे नियोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यमिति। प्रतिसंस्कर्त्तापीह नागार्ज्जुन एव।

‡ श्यामानोऽथ गार्ग्यश्च जावालिः सुश्रुतस्तथा।
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः॥
महाभारत, अनुशासनपर्व।

§ सुश्रुतेन प्रोक्तं सौश्रुतम्।

‖ औषधेनमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतंत्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत्॥ सुश्रुत।

५

इसी प्रकार हैं। संभवतः नागार्ज्जुन ने ही इसका दूसरा संस्करण किया हो। नागार्ज्जुन कनिष्क के समकालीन थे। कुछ लोग नागार्ज्जुन को चौथी सदी ई० पू० का मानते हैं। यदि यह सत्य हो तो सुश्रुत का प्रथम संस्करण छठी शताब्दी ई० पू० में हुआ होगा, अर्थात् दो सौ साल पूर्व हुआ होगा। फिर भी निश्चित तिथि बतलाना कठिन है। हमें प्राचीन भारतीय इतिहास के थोड़े बिखरे हुए खंड मात्र मिलते हैं। उनके आधार पर कोई प्रामाणिक सम्मति नहीं दी जा सकती।
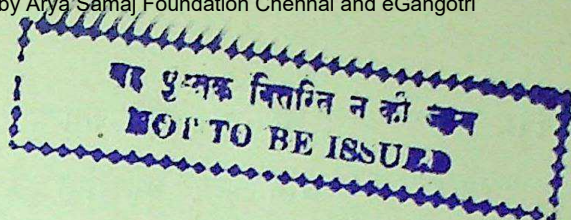
आठवाँ प्रकरण

शल्य-तंत्र के साधन

सामान्यतः सर्वत्र यंत्र, शस्त्रादि लोहे (Iron) के ही बनाए जाते हैं। जहाँ इसके अन्य कारण हैं, वहाँ इसका आधिक्य एवं दृढ़ता भी मुख्य कारण है। यही बात प्राचीन काल के यंत्र-शस्त्रों के लिये भी है। लोहे के अभाव में अन्य धातुओं या अन्य वस्तुओं का उपयोग होता था। राजा महाराजों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र, मणि, वैदूर्य आदि के भी साधन व्यवहृत किए जाते थे*।

जिस प्रकार आजकल लोहे की उत्तमता के कारण भेद हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी लोहों को तपाकर उत्तम प्रकार का बनाया जाता था, जिनकी चमक नीले कमल के समान होती थी। इनके बनानेवाले चतुर लोहार होते थे जो शस्त्र को उत्तम धारयुक्त, सुगमता से पकड़ा जानेवाला, देखने में सुंदर, उत्तम मुखवाला और न डरानेवाला बनाते थे†।

---

* (१) तानि प्रायशः लौहानि भवन्ति। तत्प्रतिरूपकाणि तदालाभे।

(२) स्वर्ण, रौप्य, त्रपु, ताम्र, रीति, कांस्यास्थि द्रुमवेणु दन्तैः।
नलैर्विषाणैः मणिभिस्तु तैस्तैः कार्याणि नेत्राणि सुकर्णकानि।

सुश्रुत।

† (१) सुकर्मारैः घटितानि यथाविधिः॥

वाग्भट्ट।

(२) कारयेत् करणैः प्राप्तं कर्म्मारं कर्म कोविदम्॥

सुश्रुत।

(३) तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहित-
सुखाग्राणि, अकरालानि चेति शस्त्र संपत्।

सुश्रुत।

(४) अकरालानि सुध्मात, सुतीक्ष्णो वर्ततेऽयज्ञि।
समाहितसुखाग्राणि, नीलाम्भोजच्छवीनि च॥

वाग्भट्ट।
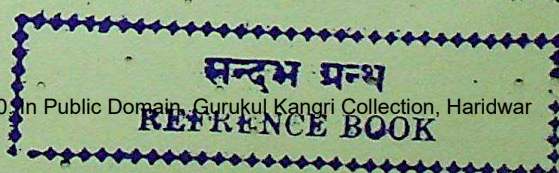
"लोहा" शब्द सामान्य एवं रूढ़ दोनों प्रकार का है। वेद में "आयस" शब्द लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं के लिये भी आया है। इसलिये आचार्यों ने लोहे के अतिरिक्त भिन्न भिन्न धातुओं की शलाखाएँ या पात्र भिन्न भिन्न रोगों में भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिये आयुर्वेद शास्त्र में बताए हैं*।

टिन (त्रपु) का प्रयोग भी चद्दर तथा अन्य रूपों में प्रचलित था। इसका मुख्य उपयोग दाह के योग्य स्थान को छोड़कर शेष स्थान की रक्षा करने में होता था†।

इसके अतिरिक्त बौद्ध वैज्ञानिक नागार्ज्जुन ने लोह-विधि के अन्तर्गत स्वर्ण, त्रपु, ताम्र, रजत, पीतल, कांस्य आदि सब धातुओं का, मणि, मुक्ता, वैदूर्य, पुखराज, नीलम, हीरा आदि सब रत्नों का और शृंग (मृगशृंग) तथा अन्य वस्तुओं के जारण, मारण का विधान दिया है। इन सब से अधिक वीर्ययुक्त औषध पारद को स्वीकार किया है। पारद में सब धातुओं का अंश बताया है। पारद सब धातुओं का

---

* (१) प्रशस्ता लेखने ताम्री, रोपणे काल लोहजा ॥

चक्रदत्त, अञ्जनाधिकार।

(२) ताम्रायसी शातकौम्भी शलाखास्यादनिन्दिता ॥

सुश्रुत, लिंगनाश; चि०।

(३) घृतं कार्ष्णायसे देयं, पेया देया तु राजते।
परिशुष्क प्रदिग्धानि सौवर्णे पूपकल्पयेत् ॥

(४) सौवर्णे राजते, ताम्रे, कांस्ये, मणिमये तथा।
पुष्पावतंस भौमे वा, सुगन्ध सलिलं पिबेत् ॥

प्राचीन लोग ताम्र के पात्र को पानी रखने के लिये उपयुक्त मानते थे; जो ठीक है। कारण थोड़ी मात्रा में ताम्र (तुत्थ Copper Sulphate) रोगनाशक है।

† यदल्प मूलं त्रपु ताम्र सीस पट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा।
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद् विदध्यात् प्राणान्नहिंसंभिषगप्रमत्तः ॥

सुश्रुत।

रसास्वादन कर लेता है, अतः इसे "रस" कहा है। इसी "रस-चिकित्सा" के नाम से यह पद्धति आजकल प्रचलित है*।

इसके अतिरिक्त शृंग, दाँत, पत्थर (बिल्लौर) के भी पात्र औषध रखने के लिये अथवा शस्त्र के रूप में प्रयुक्त होते थे†।

यंत्रों की संपत् बताते हुए लिखा है कि वह तेज, खुरदरे परंतु चिकने मुखवाले, सुदृढ़, उत्तम रूपवाले, उत्तम पकड़वाले या सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिएँ। यंत्र शब्द आधुनिक Blunt Instrument के अर्थ में व्यवहार किया जाता था‡।

शस्त्रों के विषय में लिखा है कि वह बाल को सीधा (Vertical) छेदन करने योग्य एवं बहुत तेज होना चाहिए। शस्त्र का कुंठित (Blunted) होना दोष है। शस्त्र शब्द आधुनिक Cutting Instrument के अर्थ में आता था§।

---

* अल्प मात्रोपयोगित्वात्, अरुचेरप्रसंगतः।
... ...औषधिभ्योऽधिकोरसः।
रसेन्द्र।

रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते।
रसरत्नसमुच्चय।

† (१) चूर्णाञ्जनं कारयित्वा स्थापयेत् मेषशृंगजे।
(२) वंशे वा माहिषे शृंगे स्थापयेत् शोधितं रसम्॥
(३) एतच्चूर्णाञ्जनं श्रेष्ठं निहितं भाजने शुभे।
दन्त स्फटिक वैदूर्य शंख शैलासनोद्भवे॥
सुश्रुत।

(४) अंगुलीत्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम्॥
वाग्भट्ट।

‡ समाहितानि यंत्राणि खर श्लक्ष्ण मुखानि च।
सुदृढानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत्॥

§ (१) यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम्॥
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत्॥
(२) शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनाङ्गुलानि षट्।

इन शस्त्रों की धार की मात्रा एवं भेद थे। सब शस्त्रों की धार एक सी नहीं होती थी। जो शस्त्र भेदन (to divide) के कार्य में आते थे, उनकी धार मसूर के परिमाण की होती थी; और जो शस्त्र लेखन (scarification) के कार्य के थे, उनकी धार भेदन शस्त्रों से आधी (अर्थात् आधे मसूर के बराबर) होती थी। जो शस्त्र व्यधन (puncture) के कार्य में आते थे, उनकी धार बाल के समान, और जो छेदन (Excision) के कार्य में आते थे, उनकी धार व्यधन शस्त्रों से भी आधी अर्थात् बाल से आधी होती थी। इसी प्रकार वडिश और दंत शंकु (Tooth scaler) जौ के पत्ते के समान तेज होने चाहिएँ। अंजन लगाने की शलाका दोनों ओर से कुंठित, चिकनी, मटर के बराबर मोटी, पत्थर या धातु की होती थी*।

इन शस्त्रों की धार बनाने के लिये चिकनी, उड़द के रंग की पत्थर की शिला काम में आती थी†। यंत्रों और शस्त्रों को दृढ़ बनाने के लिये उनका निर्वापण (पायन) किया जाता था। इसके लिये यंत्र या शस्त्र को अग्नि में लाल करके, तेल वा पानी अथवा चार में निर्वापित किया जाता था। फलक (Blade) को मजबूत करने के लिये उस पर भिन्न-भिन्न प्रकार के लेप करके अग्नि में तपाकर निर्वापण करते थे‡।

* (१) तत्र धारा भेदनानां मासूरी। लेखनानामर्धमासूरी। व्यधनानां विस्रावणानां च कैशकी। छेदनानामर्ध कैशकी।

(२) वडिशोदन्तशंकुश्चानताग्रे तीक्ष्ण कण्टक प्रथम यवपत्र मुखे।

(३) मुखयो कुण्ठिता श्लक्ष्ण शलाखाष्टाङ्गुलोन्मिता।
अश्मजा धातुजा वा स्यात् कलाय परिमण्डला॥

† तेषां निशानार्थं श्लक्ष्ण शिला माषवर्णा।

‡ (१) तेषां पायनस्त्रिविधा — क्षारोदक तैलेषु। तत्र क्षारपायितं शर-शल्यास्थि छेदनेषु। उदकपायितं मांसच्छेदन, भेदन, पाटनेषु। तैलपायितं शिर, स्नायु, व्यधनच्छेदनेषु।—सुश्रुत।

(२) फलस्य पायनं वक्ष्ये वनौषधिविलेपनैः।
येन दुर्भिद्य वर्माणि भेदयेत्तरुपर्णवत्॥ १॥

ये शस्त्र कुंठित न हो जायँ, इसलिये इनकी रक्षा के विचार से "शस्त्रकोष" बनाए जाते थे जो प्रायः कोमल एवं हल्के होने के लिये सेमल की लकड़ी के बनते थे। उसके ऊपर रेशम, ऊन या दुकूल का वस्त्र मढ़ा होता था। अंदर कोमल दुकूल और चमड़ा लगा होता था। उसमें बटुए की भाँति धागा होता था जिससे वह खोला और बंद किया जा सकता था※।

महावग्ग के अनुसार भगवान् बुद्ध ने प्रलेपों को धूल आदि से सुरक्षित रखने के लिये, डिब्बे (Boxes) बनाने की आज्ञा दी थी जो सोने, चाँदी, बाँस, अस्थि, दाँत, सींग, लकड़ी या ताम्र के बनते थे। उन पर ढक्कन लगाने का आदेश दिया गया था एवं प्रलेपों को लगाने के लिये शलाका बनवाई गई थी। इन शलाकाओं को सुरक्षित

तैलपायना—पिप्पली सैन्धवं कुष्ठ गोमूत्रेण तु पेषयेत्।
अतिशीतमनाविद्धं पीतं नष्टं तथौषधम् ॥ २ ॥
अनेन लेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्।
ततो निर्वापितं तैलं लौहं तत्र विशिष्यते ॥ ३ ॥

उदकपायना—पंचभिर्लवणैः पिष्टं मधुसिक्तः ससर्षपैः।
एभिः प्रलेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत् ॥ ४ ॥
शिखिग्रीवा तु वर्णाभं तस्त पीतं यथौषधम्।
ततस्तु विमलं तोयं पाययेच्छस्त्रमुत्तमम् ॥ ५ ॥

क्षारपायना—क्षारं कदल्या मथितेन युक्तं,
दिवोषिते पायनमापसेयत्।
सम्यक् शितं चाश्मनि नैति भङ्गम्,
न चान्य लोहेष्वपि तस्य कौण्ठ्यम् ॥ ६ ॥

बृहत्संहिता

※ (१) धारसंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति ॥

(२) स्यान्नवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः।
क्षौम पट्टोर्ण कौशेय दुकूल मृदुचर्मजः ॥ १ ॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णस्थशस्त्रकः।
शलाखा पिहितास्यश्च शस्त्रकोषः सुसञ्चयः ॥ २ ॥

वाग्भट्ट।

रखने के लिये कोष (case) बनाने की आज्ञा दी थी ; एवं उनको ले जाने के थैले बनवाए थे जिनमें (Shouder strap) लगा होता था।

इसी प्रकार बुद्ध ने नासा में समान औषध पहुँचाने के लिये भिक्षुकों को "यमक नतुकरनी" (Double Nasal Spoon) बनाने की आज्ञा दी थी। ढक्कनदार नल बनवाए थे जिससे उनमें धूल आदि न पड़ सके। ये नल आपस में रगड़ न खायँ, इसलिये दुहरे बेग (Double Bag) बनवाए थे, जिनमें Shoulder strap लगा होता था* ।

फलक

शल्यकर्म करने के लिये समान फलक (Operation Table) पर रोगी को बैठाकर शल्य कर्म करते थे ; एवं रोगी का व्यधन करने के लिये अरत्नि प्रमाण स्टूल पर बैठाते थे। अस्थिभंग (Dislocation or Fracture) की अवस्था में रोगी को कपाट शयन कराया जाता था जिसमें सुगमता से सब कार्य हो सकें† ।

पाठकवृन्द ! आपने देखा कि शस्त्र-कर्म के लिये उपयोगी सभी बातों का प्राचीन आर्य्यों को पूरा ज्ञान था एवं वे उसकी उपयोगिता से पूर्ण परिचित थे ।

---

* देखिए Ancient Surgical Instruments. Vol. I.

† (१) भुक्तवन्तमुपवेश्य सम्भृते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रकाले समे फलके...... ।

(२) शयने फलके वान्यनरोत्संगे व्यापश्रितम् ॥

वाग्भट्ट ।

(३) तत्र व्यधसिरं प्रत्यादित्य मुखमरत्नि मात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने... ।

चरक ।

(४) अथ जंघोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम् ।
कीलका बन्धनार्थञ्च पंच कार्या विजानता ॥

सुश्रुत ।

नवाँ प्रकरण

शस्त्र कर्म

आयुर्वेद में शस्त्रकर्म के साधनों को दो भागों में बाँट दिया है। यथा—

(१) यंत्र—जो काटने के काम नहीं आते (Blunt), उनको कहा है।

(२) शस्त्र—जो काटने के काम आते हैं, (Cutting instrument) उनको कहा है। शस्त्रकर्म को आठ भागों में बाँटा है*। यथा—

(१) छेद्य (Excision)—किसी वस्तु को शरीर से काटकर निकालना। यथा अर्श के अंकुर।

(२) भेद्य (Divide)—यथा विद्रधि (Abcess) का खोलना।

(३) वेध्य (Puncturing)—आशय में से पानी निकालना। यथा जलोदर रोग में।

(४) एष्य (Probing)—ढूँढ़ना। जैसा नाड़ी व्रण (sinus) या विद्रधि में शल्य का ढूँढ़ना।

(५) आहर्य (Extraction)—बलपूर्वक निकालना। यथा दाँत या अश्मरी का निकालना।

(६) विस्राव्य (Drain)—गम्भीर विद्रधि में से पूय या रक्त का विस्रावण करना।

(७) सीव्य (Suturing)—दो विदीर्ण भागों को सीना।

(८) लेख्य—(Scarification)—जैसा चेचक आदि का टीका लगाने में, या अस्थि की विकृतावस्था में करते हैं।

---

* छेद्यं भेद्यं लेख्यं वेध्यमेष्यमाहार्यं विस्राव्यं सीव्यमिति।

कई आचार्य शस्त्रकर्म आठ न मानकर छः मानते हैं जो नीचे दिए जाते हैं। वे एषण और आहरण को शस्त्रकर्म नहीं मानते*।

पाटन = भेदन। व्यधन = व्यधन। छेदन = छेदन। लेखन = लेखन। प्रच्छन्न = विस्रावण। सीवन = सीवन।

वाग्भट्ट तेरह प्रकार के शल्यकर्म मानते हैं। उनके अनुसार पाटन, कुट्टन, मंथन, ग्रहण और दहन ये भी शल्यकर्म हैं। दहन कर्म अग्नि या क्षार से किया जाता है। वाग्भट्ट ने क्षार और अग्नि को अनुशस्त्रों में गिन लिया है; परंतु यंत्र शस्त्र के साथ ही क्षार और अग्नि का भी पाठ है। सुश्रुत ने इनको पृथक् अनुशस्त्रों में नहीं गिना है†।

यंत्र

इनका साधारण कार्य शरीर में बाधा या दुःख देनेवाले शल्य को निकालना है। इसके अतिरिक्त अर्शादि की परीक्षा में, क्षार या अग्नि की क्रिया में और वस्ति-प्रयोग आदि में भी इनका प्रयोग होता था‡। संक्षेपतः शल्य को नष्ट करने के २४ उपाय हैं। वे सब उपाय यंत्र द्वारा ही साध्य हैं।

---

* पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा।
प्रच्छन्नं सीव्यनं चैव षड् विधं शस्त्रकर्म तत्॥

† (१) छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः।
उत्पाट्य, पाट्य सीव्यैष्य लेख्य प्रच्छन्न कुट्टनम्।

(२) जलौका क्षार दहन काचोपत्र नखादयः।
अलोहान्यनुशस्त्राणि तान्येवं च विकल्पयेत्॥

‡ (१) नानाविधानां शल्यानां नानादेश प्रबाधिनाम्।
आहर्तुमभ्युपायो यः तद्यन्त्रं यच्चदर्शने॥ १॥
अर्शो भगन्दरादीनां शस्त्र क्षाराग्नियोजने।
शेषांगपरिरक्षायां तथा वस्त्यादि कर्मणि॥ २॥
घटिकालाबु शृंगश्च जाम्बोष्ठादि कानि च।
अनेक रूप कार्याणि यंत्राणि विविधान्यतः॥ ३॥
वाग्भट्ट।

तत्र मनः शरीरबाधकराणि शल्यानि।
तेषामाहरणोपायो यंत्राणि।
सुश्रुत।

कोई कोई आचार्य यंत्र कर्मों को अनिश्चित मानते हैं; और कोई उनकी संख्या १५ मानते हैं। हारीत यंत्रों की संख्या बारह ही मानते हैं।

सब यंत्रों में प्रधान यंत्र "हाथ" ही है। उसके बिना कुछ कार्य नहीं हो सकता। सुश्रुत ने यंत्रों की संख्या १०१ बताई है; और उनके पश्चात् होनेवाले वाग्भट्ट ११५ बताते हैं। परंतु उनकी दृष्टि में कर्म अनिश्चित है, अतः संख्या भी अनिश्चित है। वैद्य आवश्यकतानुसार यंत्र-रचना कर सकता है*।

सुश्रुत ने १०१ यंत्रों को छः भागों में बाँटा है। यथा—

स्वस्तिक यंत्र	Cruciform	......	२४
संदश यंत्र	Forceps	......	२
तालयंत्र	Scoops	......	२
नाड़ी यंत्र	Tubuler	......	२०

---

(२) यंत्र कर्माणि तु—

१ निर्घातन, २ पूरण, ३ बन्धन, ४ व्यूहन, ५ वर्त्तन, ६ चालन, ७ विवर्त्तन, ८ विवरण, ९ पीडन, १० मार्ग-विशोधन, ११ विकर्षण, १२ आहरण, १३ अञ्चन, १४ उन्नमन, १५ विनमन, १६ भञ्जन, १७ उन्मथन १८ आचूषण, १९ ऐषण, २० दारण, २१ ऋजुकरण, २२ प्रक्षालन, २३ प्रधमन और २४ प्रमार्जनानि।

(३) स्वबुद्ध्या चापि विभजेद् यंत्रकर्माणि बुद्धिमान्।
असंख्येय विकल्पितव्या शल्यानामिति निश्चयः॥

सुश्रुत।

(४) १ निर्घातनो २ न्मन्थन ३ पूरण ४ मार्गशुद्धिः, ५ संव्यूहना ६ हरण ७ बन्धन ८ पीडनानि।
९ आचूषणो १० न्नमन ११ नामन १२ चाल १३ भंग १४ व्यावर्त्तन १५ ऋजुकरणानि च यंत्रकर्मः।

वाग्भट्ट।

* (१) यंत्रशतमेकोत्तरम्। अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यंत्राणाम्।

सुश्रुत।

(२) द्वादशैव तु यंत्राणि, शस्त्राणि द्वादशैव तु।
चत्वारि च प्रबन्धानां शल्योद्धारे विनिर्दिशेत्।

हारीत।

(३) अतः कर्मवशात्तेषां इयत्तावधारणमशक्यम्।

शलाका यंत्र	Rod-like	......	२८
उपयंत्र	Subordinary	......	२५
			१०१

इनकी संख्या को देखकर ही आंग्ल विश्वकोष में लिखा है कि सुश्रुत में १०० से अधिक यंत्रों का वर्णन है*।

हारीत ने यंत्रों को बारह भागों में बाँटा है। यथा—गोधा-मुख, वृजमुख, त्रिवक्त्र, संदश, चक्राकृति, कंकपद, आनक, शृंग, कुंडल, श्रीवत्स, सौवस्तिक और पंचवक्त्र। वाग्भट्ट ने भी सुश्रुत के अनुसार ही छः भेद माने हैं।

शस्त्र

इनकी संख्या सुश्रुत ने बीस बताई है। हारीत ने बारह मानी है, जिनके नाम यहाँ दिए जाते हैं।

हारीत के अनुसार— अर्धचंद्र, व्रीहिमुख, कंकपत्र, कुठारिका, करवीरक पत्र, शलाखा, करपत्र, वडिश, गृध्रपद, शूली, सूची, मुद्गर।

सुश्रुत के अनुसार—मंडलाग्र, करपत्र, वृद्धिपत्र, नखपत्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र, अर्धधार, सूची, कुशपत्र, आटीमुख, शरारीमुख, अंतर्मुख, त्रिकूर्चक, कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा, वेतसपत्र, वडिश, दंतशंकु और एषणी।

ये सब शस्त्र (आरा और करपत्र को छोड़कर) तेज धारवाले होते थे। ये शस्त्र दोषों से शून्य होते थे†।

यहाँ पर संक्षेप से यंत्र शस्त्रों का विवेचन हो गया है। अब प्रत्येक यंत्र शस्त्र पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा।

---

* Susruta describes more than one hundred surgical instruments made of steel. Ency. Britannica.

† (१) अतो विपरीत गुणमाददीत। अन्यत्रकरपत्रात्। तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थम्।

सुश्रुत।

(२) तत्र वक्रं कुण्ठं खरधारमतिस्थूलमत्यल्पमतिदीर्घमतिह्रस्वं खंडमित्यष्टौ शस्त्रदोषाः।

दसवाँ प्रकरण

यंत्रों का वर्णन

स्वस्तिक यंत्र

ये १८ अंगुल लंबे और बीच में कील से जुड़े होते थे। अग्रिम भाग अंकुश के समान आगे से मुड़ा होता था। इनके द्वारा अस्थि में गड़ा हुआ शल्य निकाला जाता था।

ये दो प्रकार के होते थे। एक वह जिनका आकार पक्षियों की चोंच का सा होता था। दूसरे वह जिनका मुख सिंह, व्याघ्र आदि पशुओं की भाँति होता था*।

पक्षियों की चोंच या नामों पर बने हुए यंत्र ये हैं—

कंकमुख, काकमुख, कुररमुख, चाषमुख, शशघातीमुख, उलूकमुख, चिल्हीमुख, श्येनमुख, गृध्रमुख, क्रौंचमुख, वकमुख, भृंगराजमुख, अंजलिमुख, कर्णविभंजनमुख और नंदिमुख।

ये भी चोंचों के भेद से चार भागों में विभक्त हैं। यथा—

(१) जो भुजा पर आगे से मुड़े हुए हों।

(२) जो नीचे से उल्लू की चोंच के समान कठोर हों।

(३) जिनकी लंबी चोंच हो परंतु आगे मुड़ी हो।

(४) जिनकी गिद्ध के समान छोटी चोंच पर आगे मुड़ी हो।

पशुओं के मुखों पर बने हुए यंत्रों के नाम ये हैं—

---

* तुल्यानि कंकसिंहर्क्षकाकादिमृगपक्षिणाम्।
मुखैर्मुखानि यंत्राणां कुर्यात्संज्ञकानि च ॥ १ ॥
अष्टादशांगुल...आयसानि च भूरिशः।
मसूराकार पर्य्यंतैः कंठे बद्धानि कीलकैः ॥ २ ॥
विद्यात् स्वस्तिक यंत्राणि मूलेऽङ्कुशनतानि च।
तैर्दृढरस्थिसंलग्नं शल्याहरणमिष्यते ॥ ३ ॥
वाग्भट्ट।

सिंहमुख, व्याघ्रमुख, वृकमुख, तरक्षुमुख, द्वीपिमुख, मार्जार-मुख, ऋक्षमुख, शृगालमुख, एर्वारुकमुख और मृगमुख।

दोनों मिलकर २४ हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ यंत्र कंकमुख है। कारण इसकी चोंच पतली होने से सुगमता से प्रविष्ट की जा सकती है। यह लंबा होने से गहरा जा सकता है; शल्य को जोर से पकड़ लेता है; और शरीर के सब स्थानों पर प्रयुक्त हो सकता है*।

संदंश यंत्र

यह दो प्रकार के होते थे। पहले प्रकार का संदंश यंत्र स्वस्तिक यंत्रों की भाँति बीच से कील द्वारा जुड़ा होता था और दूसरे प्रकार का संदंश सीधा तथा आगे से खुले मुख का होता था। इसमें पहले प्रकार के संदंश की भाँति कोई मोड़ नहीं होता था।

इनका कार्य शल्य को पकड़कर निकालना है। प्रथम प्रकार के संदंश को "सनिग्रहक" (With handle) और दूसरे को "अनिग्रहक" (Without handle) कहते थे†। इनकी लंबाई १६ अंगुल होती थी।

सुश्रुत ने बाँस से बने एक संदंश यंत्र का भी वर्णन किया है जिससे शरीरस्थ जूँ आदि पकड़ी जाती थी‡।

वाग्भट्ट ने संदंश की भाँति के दो अन्य यंत्रों का भी वर्णन किया है।

पहले प्रकार का यंत्र १६ अंगुल लंबा होता था। इसका उपयोग पलक के बाल उखाड़ने में होता था। चक्रदत्त ने भी आँखों

---

* विवर्त्तते साध्ववगाहते च शल्यं निगृह्यो हरते च यस्मात्।
यंत्रेष्वतः कंकमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्व्वेष्वधिकारिचैव॥

† (१) अतिगुप्तञ्च शल्यञ्च सन्दंशेनसमुद्धरेत्। हारीत।
(२) कीलबद्धौ वियुक्ताग्रौ सन्दंशौ षोडशांगुलौ।
त्वक्शिरा स्नायुपिशितलग्न शल्यापकर्षणे॥ वाग्भट्ट।

‡ तानाणु तैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेत्॥ सुश्रुत।

के बाल उखाड़कर उनकी जड़ को सोने की गरम शलाका से जलाने का आदेश दिया है* ।

दूसरे प्रकार का यंत्र "मुचुटी" है। इसका कार्य भी गंभीर मांस में प्रविष्ट शल्य को (जैसे दाँत को उखाड़ते समय दाँत के रह जाने पर होता है) निकालने में एवं अर्जुन (Pterygium) रोग में ग्रंथि को पकड़ना था† ।

इसके अतिरिक्त सफेद बाल उखाड़ने के लिये भी असभ्य लोग सोने का संदंश व्यवहार में लाते थे‡ ।

(अपूर्ण)

---

* (१) षोडशांगुलोऽन्योहरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम् ।
वाग्भट्ट ।

(२) प्रवृद्धांतर्मुखं रोमं सहिष्णोरुद्धरेच्छनैः ।
सन्दशेनोद्धरे दृष्ट्यां पक्ष्मरोमाणि बुद्धिमान् ॥
रक्षन्नपि दहेत् पक्ष्म तप्तहैमशलाखया ।
पक्ष्मरोगे पुनर्नैव कदाचिद्रोमसंभवः ॥"
चक्रदत्त ।

† (१) मुचुटी सूक्ष्मदंतर्जु मुले रुचकभूषणः ।
गंभीरव्रणमांसार्त्तोचर्मणः शोपितस्य च ॥
वाग्भट्ट ।

(२) अपाङ्गं प्रेक्षमाणस्य वडिशेन समाहितः ।
मुचुण्ड्याग्रं ह्यमेधात्री सूची सूत्रेण वा पुनः ॥

‡ देखिए Ancient Surgical Instruments. Vol. I.

(२) गोस्वामी तुलसीदास

[लेखक—बाबू श्यामसुंदरदास बी. ए, काशी]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ७ अंक ४ में मैंने बाबा वेनी-माधवदास के मूल गोसाईं-चरित के आधार पर एक लेख लिखा था। उस लेख में मैंने लिखा था "यह दुःख की बात है कि पंडित रामकिशोर शुक्ल ने यह कहीं नहीं लिखा कि उन्होंने बृहद् गोसाईं-चरित भी देखा है या नहीं। मूल गोसाईं-चरित भी जो उन्हें प्राप्त हुआ है, वह कहाँ से मिला, इसका भी उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है, न यही बताया है कि जो प्रति उन्हें मिली है वह किस संवत् की तथा किसकी लिखी हुई है और उसका आकार-प्रकारादि कैसा है।" इसके अनंतर मैंने इस मूल प्रति की खोज आरंभ की। पंडित रामकिशोर शुक्लजी से पूछने पर उन्होंने बताया कि इसकी प्रति उन्हें कनक-भवन, अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायकजी से प्राप्त हुई। उनको मैंने पत्र लिखा तो उन्होंने अपनी प्रति कृपा कर मेरे पास भेज दी और यह भी बताया कि असल प्रति मौजा मरूव, पो० ओबरा, जिला गया के पंडित रामाधारी पांडे के पास है। इनको मैंने पत्र लिखा तो उत्तर मिला कि पुस्तक पूजा में रहती है, अतः वह बाहर नहीं भेजी जा सकती, परंतु वहाँ जाकर उसके देखने में किसी प्रकार की अड़चन न होगी। इस पर मैंने एक विश्वस्त व्यक्ति को उस पुस्तक की जाँच करने और उससे छपी प्रति का मिलान करने के लिये भेजा। यह प्रति पुराने देशी कागज पर लिखी है, पृष्ठ-संख्या ५४ है। प्रत्येक पृष्ठ का आकार ८½ × ५½ इंच है और प्रत्येक पृष्ठ में १२ पंक्तियाँ हैं तथा देवनागरी अक्षरों में लिखी है। अंत में यह लिखा है।

"इति श्री बेणीमाधवदासकृत मूल गोसाईं चरित समाप्तम्। श्री शांडिल्य गोत्रोत्पन्न पंक्तिपावन त्रिपाठी रामरत्नमणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजया दशमी संवत् १८४८ भृगुवासरे।"

पंडित रामाधारी पांडे से यह भी ज्ञात हुआ कि यह प्रति उनके पिता को गोरखपुर में किसी से प्राप्त हुई थी। तब से उनके पास है और नित्य उसका पाठ होता है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ७ अंक ४ में जो मूल गोसाईं-चरित छपा है उसमें और इसमें कई स्थानों में विशेष अंतर है। शब्दों के रूपों को छोड़कर विशेष महत्व के अंतर नीचे दिए जाते हैं—

(१) पृष्ठ ३६४ पंक्ति ९ में जो पाठ छपा है वह इस प्रकार चाहिए।

कुज सप्तम अट्ठम भानु तनै।
अभिहित सुठि सुंदर सांझ समै।

इस पाठ में विशेषता यह है कि न शनिवार ही दिया और न "अभिजित" शब्द ही है।

(२) पृष्ठ ३६६ पंक्ति २३ के आगे यह पंक्ति है—

पहुँचे जब अवधपुरी नगरे।
बिचरे पुर बीथिन मां सगरे॥

(३) पृष्ठ ३६९ पंक्ति ७ असल प्रति में नहीं है।

(४) पृष्ठ ३७० पंक्ति १६-१७ का सोरठा असल प्रति में नहीं है।

(५) पृष्ठ ३८१ पंक्ति २१ के आगे यह दोहा है—

सुनि प्रस्थान मुदित भयो गयो दरस हित धीर।
बंद भयो पट धुनि भई, कोप सहित गंभीर॥

इन सबमें पहला भेद ही महत्व का है। शब्दों के रूपों आदि में विशेष परिवर्त्तन हैं। यदि आवश्यक समझा जायगा और पत्रिका के संपादक महोदय की अनुमति होगी तो "मूल चरित", जैसा कि

मुझे पंडित रामाधारी पांडेय के यहाँ से प्राप्त हुआ है, ज्यों का त्यों पत्रिका की आगामी संख्या में प्रकाशित कर दिया जायगा।

पत्रिका भाग ७ अंक ४ में प्रकाशित मेरे लेख पर कुछ महानुभावों ने अपनी सम्मतियाँ प्रकट करने की कृपा की है। उन्हें मैं ज्यों का त्यों आगे दे देता हूँ जिसमें विद्वानों को गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवनचरित-संबंधी बातों का तथ्य निर्णय करने में सुगमता हो।

सम्मतियाँ

(१) रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा—
अजमेर (२६-२-२७)

"आपका भेजा हुआ 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक लेख, जो पत्रिका की चौथी संख्या में छपनेवाला है, कल मध्याह्न को मिला और कल ही मैंने उसे आद्योपांत सुना। लेख बड़े महत्व का है और पत्रिका में अवश्य छपना चाहिए। मैंने उसमें दी हुई प्रत्येक तिथि-वार आदि की अपने सामने जाँच कराई तो सब ठीक निकलीं। केवल पृष्ठ ३९४ में वि० सं० १५६१ माघ सुदि पंचमी की अँगरेजी तारीख लगने में गलती हुई है। उस दिन १४ जनवरी नहीं, किंतु १० जनवरी थी। यह लेखक-दोष है। बाबा बेणीमाधवदास का लिखा हुआ गोस्वामीजी का जीवनचरित बहुत ही प्रामाणिक है। जन्म-संवत् कदाच संशय-युक्त हो। बहुधा सब तिथियों के वार ठीक मिलते हैं। दो तीन तिथियों के वारों में अंतर पड़ना विशेष संशय का कारण नहीं हो सकता। बाबा बेणीमाधवदास के लिखे हुए जीवनचरित के आधार पर गोस्वामीजी का नया जीवनचरित लिखने की बड़ी आवश्यकता है, जिसका सूत्रपात कर आपने बहुत अच्छा काम किया है। 'सरस्वती' की गत जनवरी की संख्या में बाबा बेणीमाधवदासजी के जीवनचरित्र के आधार पर लिखा हुआ एक लेख मैंने पूरा सुना। उससे भी आपका लेख अधिक महत्व का है।"

---

(२) रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए०—
छत्रपुर (२७-२-२७)

"ग्रंथ सं० १६८७ का बना हुआ कहा जाता है। इस कारण से गोस्वामीजी के विषय में बिना मुख्य कारणों की प्रतिकूलता हुए इसका प्रमाण मानना उचित ही था, किंतु इसकी साक्षी अनेकानेक अंशों में इतनी असंभव और भ्रष्ट है कि इसके किसी अंश पर भी विश्वास करना बड़े ही श्रद्धालु पुरुष का काम है। न्यायालयों में अनेकानेक गवाह सामने आते हैं और न्यायाध्यक्ष को बिना असली मामला जाने हुए भी उन्हीं के वचनों पर निर्णय करना पड़ता है। यही हाल प्राचीन विषयों पर भी लागू रहता है। जो गवाह जितनी ही असंभव घटनाओं को सत्य कहकर अपने कथनों में मिलाता है, उसके कथनों में उतना ही प्रमाणाभाव मिलकर उसकी साक्षी को उतना ही अग्राह्य बनाता जाता है। बेणीमाधव के मूल गोसाईं-चरित में ओर से छोर तक असंभव घटनाओं की भरमार है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) गोस्वामीजी जन्म के समय ही पाँच वर्ष के थे। वह रोए नहीं और पृथ्वी पर गिरते ही उन्होंने राम कहा। उनके उसी समय बत्तीसों दाँत मौजूद थे।

(२) पाँच वर्ष के जन्म-समय में होते हुए भी गोस्वामीजी ६५ महीनों में बोलने और डोलने के योग्य हुए। क्या दस वर्षों के समान होकर बेचारे डोल सके? रामनाम तो जन्म के समय ही लिया था, फिर बोलने योग्य होने के लिये ६५ महीनों की क्या आवश्यकता पड़ी?

(३) बोलने डोलने के योग्य तो ६५ महीनों में हुए, किंतु यज्ञोपवीत ६० महीनों की ही अवस्था में हो गया।

(४) उनकी स्त्री उन्हें पहले तो कुवाच्य कहकर उनके वैराग्य का कारण हुई, किंतु पीछे से जब मनाने से वे वापस न हुए तब तुरंत मर गई। इस प्रकार लोग मरकर गिर नहीं पड़ा करते हैं।

अन्य साक्षियों ने इसी स्त्री का बहुत पीछे गोस्वामीजी से साक्षात्कार लिखा है जिसमें कई दोहों में बातचीत लिखी है। वे कुछ दोहे भी तुलसीकृत हैं।

(५) मीराबाई संवत् १६०३ ही में मर चुकी थीं, किंतु उनका पत्र सं० १६१६ में गोस्वामीजी के पास आना लिखा है। काल-विरुद्ध दूषण है।

(६) सं० १६२८ में पहले-पहल ७४ वर्ष की अवस्था में गोस्वामीजी का ग्रंथ-निर्माणारंभ लिखा है। इतना बड़ा पंडित तथा सुकवि इतनी बड़ी अवस्था तक एक भी ग्रंथ न बनावे और बड़े बड़े चार छः ग्रंथ बुढ़ापे में रच डाले ऐसा मानना बड़े ही भोले आदमी का काम है।

(७) भगवान् की मूर्ति ने भोजन कर लिया तथा पत्थर के नंदीगण ने घास खा ली। जब उससे भी ज्यादा घास खावे तब कोई समालोचक बीसवीं शताब्दी में ऐसे अनर्गल वादी को सच्चा साक्षी समझे।

(८) केशवदास ने रामचंद्रिका एक ही रात में बना डाली। ग्रंथ में प्रायः ४० अध्याय हैं और पूरा ग्रंथ अच्छे पद्यों में है। इतना बड़ा ग्रंथ एक ही रात में बन गया। यह बड़ा ही असंभव कथन है।

(९) ब्राह्मणों ने सँडीले के मार्ग में गोस्वामीजी का अपमान किया जिससे वे निर्धन हो गए, ठाकुर क्षितिपाल प्रणाम न करने से कँगाल हो गया, तथा जुलाहे भेंट देने से विपुल धन-धान्य पा गए। बादशाह जहाँगीर करामात दिखलाने का उत्सुक होने से वानरों-द्वारा पीड़ित हुआ।

(१०) गोस्वामीजी ने एक दरिद्र-मोचक शिला उत्पन्न कर दी तथा एक स्त्री को पुरुष बना दिया। वास्तव में बेणीमाधवजी की जिह्वा के आगे कोई खाई खंदक नहीं है। ऐसे ही लोग असंभव के उदाहरण में दश हाथ की हड़वाला कथन करनेवाले कवि को भी मात करते हैं।

(११) एक मरा हुआ मुर्दा आपने उसकी स्त्री के कारण जिला दिया। तीन लड़के आपका एक दिन दर्शन न पाकर मर हो गए और आपने उन्हें तुरंत जिला भी दिया।

इस असंभव एकादशी का वर्णन केवल तीस पृष्ठ के छोटे से ग्रंथ में प्रस्तुत है। हनुमानजी तो गोस्वामीजी के पीछे ही पीछे फिरा करते थे और रामचंद्र तथा महादेवजी ने भी इन्हें दर्शन दिए। ऐसे अनर्गल-भाषी का एक भी कथन एक मिनट के लिये विचारने योग्य भी नहीं है। कहते ही हैं कि 'वेश्या वर्ष घटावई योगी वर्ष बढ़ाव।' लोग मिथ्या माहात्म्य बढ़ाने के लिये महात्माओं की अवस्था बढ़ाकर कहा ही करते हैं। जिस न्याय से भगवान् रामचंद्र ने दस हजार वर्ष राज्य किया, और कुंभकर्ण की मुच्छ एक योजन की थी उसी न्याय से गोस्वामीजी की अवस्था भी १२६ वर्ष की थी। केवल तिथि संवत् आदि लिखने से किसी अनर्गल एवं असंभवभाषी के कथन प्रमाण कोटि में नहीं आ सकते। इस ग्रंथ का कोई भी भाग मान्य नहीं है। इस विषय पर यही मेरी सम्मति है।"

---

(३) रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, कटनी
(म० प्र०) (२४-२-२७)

"किसी ने कहा है 'वह कौन पवित्र घड़ी थी जब महात्मा तुलसीदासजी ने रामचरितमानस निर्माण करने के लिये अपनी लेखनी संचालित की थी।' हम कहते हैं वह न जाने कौन सुयोग था जब रामबोला ने जन्म लिया था और न जाने वह कौन कुयोग था जब गोसाईंजी ने शरीरत्याग किया। इन सब बातों का विचार बाबू श्यामसुंदरदास ने बड़ी खोज के साथ अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक लेख में किया है जो सर्व हिंदी-प्रेमियों के मनन योग्य है।

तुलसीदास के एक शिष्य बाबा बेणीमाधवदास थे जो जानसन के पीछे बासवेल की नाईं अपने गुरु के पीछे पीछे लगे फिरते थे। कहते हैं इन्होंने अपने नायक का चरित बासवेली जानसन-चरित के

समान बृहद् रूप में लिखा है, यद्यपि वह अभी तक देखने में नहीं आया। परंतु कुछ दिन पूर्व एक ग्रंथ मिला है जो उस बड़े ग्रंथ का अंतिम अध्याय कहा जाता है। यथार्थ में वह उस ग्रंथ का सार जान पड़ता है, जो नित्य पाठ के लिये संक्षिप्त रूप में तुलसीदास की मृत्यु के ७० वर्ष पश्चात् प्रस्तुत किया गया था। इस ग्रंथ का नाम है 'मूल गोसाईं-चरित'। इसके नाम से ही प्रकट होता है कि यह किसी ग्रंथ का अध्याय न होकर एक स्वतंत्र ग्रंथ है, जो विशेष अभिप्राय से छोटे रूप में लिखा गया है। इस जीवन-चरित में कई बातें बड़ी बारीकी के साथ दी गई हैं, जिससे जान पड़ता है कि बेणीमाधवदास ने बड़ी सावधानी के साथ तुलसी-जीवन-विषयक घटनाओं का स्मरण अथवा लेख रखा। इसमें दी हुई तिथियां विशेष महत्व की हैं। इनकी गणित द्वारा जाँच करने पर बहुतेरी ठीक उतरती हैं, केवल तीन चार तिथियों में घोटाला सा पाया जाता है। रामचरितमानस आरंभ करने की घड़ी का उल्लेख स्वयं महात्माजी ने ही कर दिया है—'संवत् सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा॥ नौमी भौमवार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥' ऐसे ही उनके शिष्य ने लिखा है, सो गणना करने से जान पड़ता है कि वह पवित्र घड़ी संवत् १६३१ के चैत्र मास शुक्ल पक्ष नवमी दिन मंगल वार की नवीं घटिका थी। यह असंदिग्ध है परंतु दो तिथियाँ, जो उनके जन्म और मरण काल से संबंध रखती हैं और विशेष महत्व की हैं, गणना से मिलान नहीं खातीं, इनमें से मरण तिथि का समाधान बाबू श्यामसुंदरदास ने बहुत अच्छी तरह कर दिया है।

तुलसीदास ने विक्रमी संवत् १६८० में शरीरत्याग किया। इसमें कुछ झगड़ा नहीं है। न झगड़ा है श्रावण मास में मरने का, झगड़ा है केवल तिथि का। लोकोक्ति के अनुसार "श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर।" परंतु बेणीमाधवदास लिखते हैं 'श्रावण श्यामा तीज शनि' अर्थात् लोक-विश्वास से १६ दिन पूर्व।

बाबू श्यामसुंदरदास की खोज से पता लगता है कि तुलसीदास के मित्र टोडर के वंशज तुलसीदास के मरण-दिवस सावन बदी तीज को प्रति वर्ष एक सीधा देते चले आए हैं, और देते चले जाते हैं। इसलिये यही तिथि शुद्ध जँचती है यद्यपि ज्योतिष के गणित के अनुसार तुलसी-मरण-दिवस शनिवार को नहीं पड़ता, वरन् एक तिथि आगे शुक्रवार को पड़ता है। संभव है प्रतिलिपि करते समय 'श्रावण श्यामा तीज भृगु' के बदले 'श्रावण श्यामा तीज शनि' लिख गया हो। अथवा यदि १६८० चालू संवत् हो अर्थात् शताब्द १६७९ में मृत्यु हुई हो तो दिन सोमवार पड़ेगा। उस अवस्था में शुद्ध पाठ 'श्रावण श्यामा तीज शशि' अनुमान करना पड़ेगा। फिर भी प्रतिलिपि की अशुद्धता ही माननी पड़ेगी। इसलिये इसकी पुष्टि में जब तक मूल चरित की अन्य प्रतियाँ न मिल जायँ तब तक निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्रतिलिपिकार ने यथार्थ में भूल की है।

जन्म-काल का प्रश्न इतना सीधा नहीं है, बेणीमाधव के अनुसार तुलसी-जन्म सं० १५५४ श्रावण शुक्ला सप्तमी शनिवार को हुआ था। यह तिथि भी शनिवार को न पड़कर शुक्र को पड़ी थी, यहाँ पर भी शनि का शुक्र करके पाठ शुद्ध किया जा सकता है परंतु तिथि के अंक के शुद्ध होने का प्रमाण कुछ नहीं है। सिवाय इसके जन्म-संवत ठीक मानने से चरितनायक की आयु १२७ वर्ष की ठहरती है, जो असंभव तो नहीं अविश्वसनीय अवश्य दिखती है। तथापि यदि उसको घटाने का प्रयत्न किया जाय तो यज्ञोपवीत की तिथि में बाधा आ जायगी और जो तिथि गणना से ठीक ठीक उतरती है उसको झूठा मानना पड़ेगा। जन्म के सात वर्ष पश्चात् यज्ञोपवीत होना स्वाभाविक जान पड़ता है। इसलिये उसकी तिथि एक प्रकार से जन्म-तिथि को पुष्ट करती है। बेणीमाधव तुलसी-जन्म के समय उपस्थित तो रहे न होंगे, क्योंकि उस समय वे इस संसार में आए ही न रहे होंगे। अवश्य उन्होंने तुलसी-जन्म-तिथि का ब्योरा किसी दूसरे से सुनकर ही लिखा होगा।

चरित में बधावे बजने का, शिशु के न रोने का, उसके दाँतों की बत्तीसी देखकर 'राकस' अनुमान करने का, पंचों के तीन दिन तक जन्मविषयक लौकिक वैदिक बात न करने का, शिशु को फेंक देने के डर का और उसे चोरी से हरिपुर पठवा देने का वर्णन तो है, परंतु कुंडली तैयार करवाने का कहीं भी जिक्र नहीं है। तुलसी की माँ तो चार ही दिन में मर गई और बाप ने कहा—'हम का करबै अस बालक लै, जेहि पाले सु तासु करं सोई छै। जन्मो सुत मोर अभागो महीं। सो जिये व मरे मोहि शोच नहीं।' तब भला ये ऐसे बालक की कुंडली क्यों बनवाने चले। ऐसी अवस्था में बारीक बातों में गलती होने की अधिक संभावना उपस्थित हो जाती है। मोटी बातें जैसे संवत्, मास व पक्ष में अशुद्धता न हो, परंतु तिथि, वार, नक्षत्र, मुहूर्त में गलती होना कोई अचरज की बात नहीं है। कदाचित् इसी कारण से संध्या समय अभिजित मुहूर्त बतलाया गया जो हो ही नहीं सकता, वार शनि बतलाया गया, परंतु सप्तमी का दिन शुक्रवार था। जान पड़ता है ग्रामीण ज्योतिषियों ने बाहरी अशुभ चिह्नों से तुलसी-जन्म को अमंगल ठहराकर कुयोगों का जमाव कर दिया। यहाँ पर एक बात उल्लेखनीय है। वह यह है कि तुलसी का जन्म संवत् १५५४ कदाचित चालू वर्ष के हिसाब से बतलाया गया हो जो गताब्द १५५३ लिखा जाना चाहिए। उस वर्ष निस्संदेह श्रावण शुक्ला सप्तमी सन् १४९६ ई० की १४ जुलाई शनिवार को पड़ी थी।

यह सत्य है कि वेणीमाधव की सभी बातें विश्वास के योग्य नहीं हैं। उन्होंने अपने गुरु की महिमा इतनी बढ़ाई है कि उन्हें मुर्दा जिलाने, लड़की का लड़का बना देने आदि की शक्ति दे दी है। उन्होंने अपने जमाने के अनुकूल सच्चे चेले की भक्ति दरसाई है, परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने जो साधारण माननीय घटनाएँ लिखी हैं वे विश्वास के योग्य नहीं हैं।"

८

(४) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—दौलतपुर,
रायबरेली—(१-३-२७)

"यह चरित बनावटी नहीं मालूम होता। इसमें वर्णित अधिकांश घटनाएँ सच जान पड़ती हैं। अलौकिक और मनुष्यातिग जितनी बातें इसमें हैं उनकी मात्र सचाई में संदेह होता है, क्योंकि महात्माओं के विषय में ऐसी घटनाओं की कल्पना लोग सहज ही कर लिया करते हैं। इसमें कितने ही स्थानों और व्यक्तियों के नाम हैं। उन पर आपने कुछ नहीं लिखा। यथासंभव खोज होनी चाहिए कि वहाँ वहां तुलसीदास के जाने का कुछ पता मिलता है या नहीं और जिन लोगों के नाम चरित में हैं वे कभी थे भी या नहीं।"

---

(५) डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन—(इँगलैंड)
(१४. ३. २७)

"Like all students of the works of Tulsi Das, I have long regretted that the Gosain Charita could not be found, and it is now a matter of congratulation that Pandit Ram Kishor Sukla has been able to print what seems very probably to be a portion of that work. Like you I regret that he has not given detailed information as to where the manuscript which he edited exists and what is its condition.

Your investigation of its contents is most valuable; and seems to me to make it very probable that, in spite of the want of this information, the work is a section of the Gosain Charita. I am not at present able to check the astronomical calculations on which most of your arguments are based; but with reference to the few discrepancies in regard to week-days, may I refer you to Vol. XXII (1893) of the Indian Antiquary, page 94 *. You will there see that my old friend

---

* यह अंश इस प्रकार है—Mahamahopadhyaya Pandit Sudhakar Dvivedi says :—"I once considered that the recitation of the

Mahamahopadhyaya Pandit Sudhakar Dvivedi explained the well-known difficulty about the date of the commencement of the Ram Charit Manas, by the customs of the Smarta Vaishnavas, which differed from that of the Vairagi Vaishnavas in regard to the keeping of the Ram Navami festival. Possibly a consideration of his arguments may also reconcile the other discrepancies noted by you.

I am interested to see that according to this work, the Ramsatsai was written by Tulsi Das This was much doubted by some authorities. You will find the question discussed at some length on page 127 of the same volume of the Indian Antiquary. On page 127 you will also find a discussion as to the date of the work."

Ramayana being in the vernacular, it first became popular amongst Baniyas and Kayasthas, who began to write the poem in their own alphabet, the Kaithi. It was hence not improbable that the original reading was not Bhauma-Vara but Saumya-Vara, *i.e.*, Wednesday, and that Saumya subsequently became corrupted to Bhauma—an easy transition in the Kaithi character. Later, however, I discovered that while Tulsi Das was in Ayodhya, he was not a Vairagi Vaishnava, but a Smarta one. These Smarta Vaishnavas are also great worshippers of Mahadeva; thus, the poet himself says in the Balakanda of the poem "Sambhu prasada sumati hiya hulsi." And from this we gather that he counted the Ram-Navami as falling on the Tuesday, according to the Saiva calculation. According to the Saivas the Rama-Navami is calculated on the day whose midday falls on the ninth tithi, because Rama was born at midday, and not as the day in which the ninth tithi ends. Accordingly on the former day the festival of the Rama-Navami was held."

(६) पंडित गोरेलाल तिवारी (बिलासपुर)
(२३-३-२७)

"'सरस्वती' के विशेषांक में गोसाईं तुलसीदास की जीवनी के कुछ संवतों का उल्लेख हुआ है। उसमें यह भी लिखा है कि तिथियों के दिनों की सत्यता ज्योतिष-गणना से निश्चित हो सकती है। इससे मैंने उन सब संवतों की गणना की। इतने में गोस्वामी तुलसीदास नाम की पुस्तक भी देखने में आई।

इस पुस्तक में आपने गणना करके चार तिथियों को अप्रामाणिक सिद्ध किया है। इनका ब्योरा इस प्रकार है—

(१) गोसाईंजी के जन्म-संवत् की तिथि "श्रावण शुक्ला सप्तमी शनिवार"।

(२) संवत् १६०७ माघ कृष्ण अमावस्या (मौनी अमावस्या) रामदर्शन की तिथि।

(३) रामचरितमानस के समाप्त होने का समय।

(४) गोस्वामी तुलसीदास के परमधाम जाने की तिथि।

इन सब तिथियों का मैंने जो गणित किया है उसमें सभी तिथियों में दिन बिलकुल ही सही मिलते हैं। इन चारों तिथियों का गणित दो प्रकार की रीति से किया गया है।

(१) जन्म-संवत् १५५४ सप्तमी शनिवार को १९ दंड और ४ पल के ऊपर थी। इस दिन अँगरेजी तारीख ५-८-१४९७ थी।

(२) रामदर्शन की तिथि माघ बदी अमावस्या संवत् १६०७ ता० ७-१-१५५० को बुधवार के दिन ११ दंड और ६ पल थी।

(३) संवत् १६३३ मार्ग शुक्ल ५ भौमवार उपर्युक्त गणना से नहीं मिलता, अंतर पड़ता है। इससे मैंने ग्रहलाघव के अनुसार पंचांग बनाने के सब उपकरण तैयार करके मार्ग शुक्ल का पंचांग बनाया। इस पंचांग में पंचमी भौमवार को ३१ दंड १९ पल मिलती है और मृगसिर नक्षत्र ६०।० तथा व्यतीपात योग ५८। १०

था। उस दिन अँगरेजी तारीख २७ नवंबर पड़ती है। पर सारणी के आधार पर मार्ग शुक्ल ५ किसी के हिसाब से रविवार और किसी के हिसाब से सोमवार को आती है।

(४) स्वर्गारोहण-काल आपके हिसाब से भृगुवार होता है। आपने जो गणित किया है वह मध्यममान है, स्पष्ट मान नहीं। स्पष्ट और मध्यम मान में लगभग ६ दिन अर्थात् ३६-३७ घटिका तक का अंतर पड़ सकता है। इन्हीं सब कारणों से मैंने इसका भी पंचांग बना डाला। यह पंचांग आषाढ़ सुदी प्रतिपदा से श्रावण कृष्णा अमावस्या तक का है। इसमें श्रावण श्यामा तीज शनिवार को १६ दंड १३ पल निकली है। शेष नक्षत्र आदि इस प्रकार थे—शतभिषा ४६ दंड ३१ पल, आयुष्मान् योग ४३-५४ था। इस रोज अँगरेजी तारीख ५-७-१६२३ थी।

मैंने जो गणित किया है वह भी आपके पास भेजता हूँ। इसे देखिए, तब आपको बाबा बेणीमाधवदास के लेखों की सत्यता मालूम हो जावेगी। संत लोगों को ऐसा झूठ लिखने से क्या लाभ? उन्होंने उस समय जो कुछ पंचांगों में पाया उसे ही लिखा।

आप तो यह मानते ही होंगे कि दो स्थानों के बने हुए पंचांगों में प्रायः अंतर पाया जाता है। यद्यपि पूर्व-पश्चिम के हिसाब से देशांतर में बहुत थोड़ा अंतर हो पर वही कभी-कभी तिथियों की भी वृद्धि कर देता है।"

संवत् १५५४ श्रावण शुक्ल सप्तमी शनिवार का गणित

विक्रमीय संवत्	ईस्वी सन्	अँगरेजी तारीख से मेषसंक्रांति काल	मेषसंक्रांति का वार	मेष संक्रांति का चैत सुदी प्रतिपदा के आरंभ काल से	तिथि और चांद्रमास का मत
५७	०	१३.९८३१०	०.९८३१०	१९.५३२५०	
७	७	.०६१२९	१.८११३०	१७.१८०७३	तिथि मान .९८४३५ चांद्रमास २९.५३०२९ एक चांद्रमास से अधिक होने पर चांद्रमास की संख्या घटा दी जाय। वैसाख कृष्ण ८ मी को मेषसंक्रांति हुई थी। सोमवार ता० २७।३ सन १४९७ को। * चैत सुदी प्रतिपदा को शुक्रवार और ३-३-१४९७ था।
९०	९०	.७८८०८	१.२८८०८	५.७४३७०	
४००	४००	३.५०२६०	६.५०२५९	१५.६८४०२	
१०००	१०००	८.७५५५०	५.७५६४८	२४.४४४७६	
१५५४	१४९७	२७.०९०५७	१६.३४१५५	८२.५८५७१	
		२३.५२५१३	१४.	५६.०६०५८	
		३७.५६५४४	२१.३४१५५	२३.५२५१३	
		*	२८		
			३०.३४१५५		
			२३.५२५१३		
			*६.८१६४२		

श्रावण सुदी सप्तमी शनिवार का गणित

		चैत सुदी १ की अँग०	चैत सुदी १ का वार	चैत सुदी १ से मेष	
१५५४	१४९७	३.५६५५५४	६.८१६४२	२३.५२५१	चैत सुदी १ से श्रावण सुदी ७ तक (द्वितीय श्रावण) ५ माह सात ७ दिन। इससे ५ चांद्र-मास और ७ तिथियों की संख्या जोड़ने से श्रावण सुदी ७ का दिन निकलेगा।
	५ माह	१४७.६५१४५	१४७.६५१४५		
		६.८९०४५	६.८९०४५		
मार्च ३१		१५८.१०७४४	१६१.३१८३२		
अप्रेल ३०			१६१ पूरे २३ सप्ताह		
मई ३१			के दिन घटाए		
जून ३०			०.३१८३२		
जुलाई ३१					
अगस्त ५					
१५८ दिन					

ऊपर की गणित से सिद्ध है ता० ५-८-१४९७ को शनिवार और श्रावण सुदी ७ मी थी; इस साल दो श्रावण हुए थे।

ग्रहलाघव की पूर्व शकादहर्गण की रीति से संवत् १५५४ शाके १४१९ श्रावण सुदी ७ को अहर्गण और दिन का प्रमाण।

संवत १५५४ —१३५ = १४१९ शालिवाहन शाके।

शाके १४४२—१४१९ = २ गताब्द २३

गताब्द २३ ÷ ११ = २चक्र ७ शेषाब्द।

शेषाब्द १ × १२ = १२ मास (सौर)

मास १२—५ चैतादि गत मास (चैत से द्वितीय श्रावण कृष्ण अमा०)

शेष मास ७ + चक्र का दूना और २४ (७ + २ × २ + २४) = ३५

योग ७३५ ÷ ३३ = १ अधिमास

मध्यम मास ७ + १ अधिमास = ८ मासगण

मासगण ८ × ३० = २४० तिथि

तिथि २४०—७ श्रावण प्रतिपदा से ७ तक + ०चक्र षष्ठांश

शेष तिथि २३३ ÷ ६४ = ३ क्षय तिथि

२३३—३ = २३०अहर्गण

२३० + २ चक्र × ५ = २४० ÷ ७ = ३४ शेष २

सोमवार को आदि दे उलटे क्रम से गिनने पर शनिवार आया सोमवार ०, रविवार १, शनिवार २

संवत् १६०७ माघ कृष्ण अमावस्या बुधवार का गणित नं० १

विक्रमीय संवत्	ईस्वी सन्	मेषसंक्रांति की अँगरेजी तारीख	मेषसंक्रांति का वार	चैत्रसुदी प्रतिपदा के आरंभ से मेषसंक्रांति के दिन	
५७	०	१३.६८३१०	०.६८३१०	१६.५३२५०	
५०	५०	.४३७८२	६.६३७८२	१३.०३४४७	मेषसंक्रांति ता० २७ मार्च के शुक्रवार को हुई थी और चैत्र शुक्ल प्रतिपदा ता० १७-३ सोमवार को थी।
५००	५००	४.३७८२५	६.३७८२४	१२.२२२३८	
१०००	१०००	८.७५६५०	५.७५६४६	२४.४४४७६	
१६०७	१५५०	२७.५५५६७	२०.०५५६४	६६.२३४११	
		१०.१७३५३	१४.	५६.०६०५८	
*लीप ईयर के बाद २ वर्ष की वृद्धि		१७.३८२१४	६.०५५६४	१०.१७३५३	चैत्र प्रतिपदा से माघ अमावस्या तक पूर्ण दस चांद्रमास
		.५*	१०.१७३५३		
		१७.८८२१४	७.८८२११	२६८ दिनों में से पूर्ण	मार्च अप्रैल मई जून जुलाई
		२६५.३०२६०	२६१.३०२६०	४२ सप्ताह के दिन	३१ ३० ३१ ३० ३१
		३१३.१८५०४	२६८.१८५०१	२६४ घटाने पर शेष रहे	अग. सि. अक्टो. न. दि. ३१ ३० ३१ ३० ३१
			*४२.४.१८५०१	४.१८५०१	जनवरी ७—३१३

माघकृष्ण अमावस्या ता० ७ जनवरी बुधवार को ११ दंड ६ पल थी।

नं० २

सौर वर्ष	मेषसंक्रांति का वार	चैत प्रति० के बाद मेषसंक्रांति के दिन
ध्रुवा के२६४	२.५४५६६६	०.२५६३५
३	३.७७६२८	३.१४४५२
४०	१.३५०२६	२२.२३६८१
३००	६.६२६६५	१६.१४५६६
१०००	५.७५६४८	२४.४४१७६
योग १६०७	२०.०५५६६	६६२३११०
	१४.	५६.०६०५८*
	७+६.०५५६६	१०.१७०५२
	१०.१७०५२	
	२.८८५१४	
	१.३०५८८	
	४.१६१०२	

*पूर्ण दो चांद्रमासों के दिन घटाए।

पूर्ण दस चांद्रमासों का दिन

नोट—संवत् १६०७ में माघ कृष्ण अमावस्या बुधवार को ११ दंड २७ पल थी हर समय उदयातिथि ली जाती थी

* नंबर २ की क्रिया माधुरी में प्रकाशित है। पर नंबर १ अभी अप्रकाशित है।

मार्ग सुदी पक्ष विक्रम संवत् १६३३ शालिवाहन शाका १४९७ गत्य २७० अह० ६५०

ति	दि	घ	प	न	घ	प	यो	घ	प	क	घ	प	चंद्रमा	अ. ता	
१	शु	१२	३२	अ	३८	४७	व्या	५४	५९	वव	१२	३२	मेष	२३	नवंबर सन् १५७६
२	श	१६	२९	भ	४४	२१	हर्ष	५५	७	कौ.	१६	२१	मेष	२४	
३	र	२१	१४	कृ	५०	२९	वज्र	५५	४०	गर	२१	१४	वृष०-५३	२५	
४	सो	२६	२२	रो	५६	५२	सि	५६	२२	वि.	२६	२२	वृष	२६	
५	मं	३१	१९	मृ	६०	०	व्य	५८	१०	वा.	३१	१९	मिथुन२९-४६	२७	
६	बु	३६	४१	मृ	२	४०	वरि	५९	२	कौ	५	०	मिथुन	२८	
७	गु	४०	५५	आ	९	२४	परि	६०	०	गर	९	३०	कर्क ५८-३०	२९	
८	शु	४२	२०	पुन	१३	५४	परि	०	१२	वि.	१०	१३	कर्क	३०	दिसम्बर
९	श	४६	३४	पु	१८	११	शिव	११	सिद्ध	६१ १७	वा	१७ ४	कर्क	१	
१०	र	४७	३३	श्ले	२०	५८	सा.	५८	८	तै.	१७	३२	सिंह२०-५८	२	
११	सो	४७	१२	म	२२	३०	शुभ	५५	४३	वाणि	१६	३७	सिंह	३	
१२	मं	४६	२	पू	२३	५३	शु.	५२	१०	वव	१४	२५	कन्या ३८-२५	४	
१३	बु	४२	४७	उ	२२	३	ब्र.	४७	४८	कौ	१०	५७	कन्या	५	
१४	गु	३९	६	ह	२०	८	ऐ.	४२	१८	गर	७	५	तुला ४९-५०	६	
१५	शु	३५	४	चि	१७	३२	वैधृ.	३६	२२	वि.	२	१५	तुला	७	

आषाढ़ शुक्लपक्ष संवत् १९८० शाके १८४५ गण ८१ अहर्गण

ति	दि	घ	प	न	घ	प	यो	घ	प	क	घ	प	ता	चंद्रमा	
१	गु	१९	२३	पु	१९	४७	ध्रु	२०	१७	बव	१९	२३	१९		जून सन् १९२३
२	शु	२१	१३	पु	२२	५४	व्या	२०	१	कौ	२१	१३	२०		
३	श	२१	५३	आ	२४	१७	ह	१९	३९	गर	२१	५३	२१		
४	र	२१	८	म	२४	३५	व	१६	३०	वि	२१	८	२२		
५	सो	१९	१२	पू	२३	१८	सि	१३	११	वा	१९	१२	२३		
६	मं	१६	१०	उ	२१	१०	व्य	८	५७	तै	१६	१०	२४		
७	बु	१२	६	ह	१८	२०	व	[illegible]	प	[illegible]	व	१२/६	२५		
८	गु	७	१४	चि	१४	५५	शि	५१	५४	बव	७	१४	२६		
९	शु	१	४२	स्वा	११	१	सि	४४	२५	कौ	१	५४	२७		
१०	शु	५४	१३	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०		
११	श	४९	१३	वि	६	५६	सा	३६	५९	व	२१	२	२८		
१२	र	४३	४४	अनु	२/४९	ज्ये	६६/६	शुभ	२१/१६	बव	१५	२९	२९		
१३	सो	३७	४४	मू	५५	२२	शु	२२	३	कौ	१०	४४	३०		
१४	मं	३१	५५	पूषा	५२	२०	ब	१४	२१	गर	१०	३८	१		जुलाई
१५	ब	२६	४७	उषा	५०	६	प	७	९	ब	२६	४६	२		

श्रावण कृष्ण पक्ष संवत् १६८० विक्रमीय शाके १५४५

ति	दि	घ	प	न	घ	प	यो	घ	प	क	घ	प	ता	चंद्रमा
१	गु	२२	१८	श्र	४८	४५	वै	५° २८	विष	६३ ४८	कौ	२२-१८	३	
२	शु	१८	४५	ध	४८	३६	प्री	४८	३३	गर	१८	४५	४	
३	श	१३	१३	शत	४६	३१	आयु	४३	५४	वि	१३	१३	५	
४	र	१४	५१	पू-भा	५१	५४	सौ	४०	२८	वा	१४	५१	६	
५	सो	१४	५०	उ-भा	५५	१६	सो	३७	२०	तै	१४	५०	७	
६	मं	१६	५	रे	५६	५१	अति	३५	३४	व	१६	५	८	
७	बु	१८	३२	अ	६०	०	सु	३४	४७	वव	१८	३२	६	
८	गु	२२	७	अ	५	२३	धृ	३४	५२	कौ	२२	७	१०	
६	शु	२६	७	भ	११	३६	शूल	३५	४२	गर	२६	२७	११	
१०	श	३१	१२	कृ	१८	१	गंड	३६	५७	वि	३१	३२	१२	
११	र	३६	५	रो	२३	१६	वृ	३८	३४	वा	३	४१	१३	
१२	सो	४०	४५	मृ	३०	११	ध्रु	४०	६	कौ	८	२५	१४	
१३	मं	४४	४७	आ	३५	१०	व्या	४१	१६	गर	१२	४६	१५	
१४	बु	४७	५४	पु	३६	१५	हर्ष	४१	५६	वि	१६	२१	१६	
१५	गु	५०	१६	पुष्प	४२	४	वज्र	४१	५५	चतु	१६	१५	१७	

(७) पंडित श्रीधर पाठक—प्रयाग—(२५-४-२७)

जो बातें किसी जीवनी के नायक के संबंध में जनश्रुति के रूप में प्रसिद्ध हों या किसी अन्य रूप या रीति से कहीं अंकित या परिरक्षित या संभ्रांत समाज में सामान्यतया समझी हुई पाई जाती हों अथवा साधारणतया लौकिक गीतों में गाई जाती हों, वे सभी उसकी जीवनी के साथ संयुक्त होने की उपयुक्तता रखती हैं। उनसे नायक की विविध-विषय-व्यापिनी वृत्तियाँ, देश की सामयिक सामान्य अवस्था, सामाजिक और शासनिक व्यवस्था तथा ऐतिहासिक (धार्मिक, नैतिक आदि) प्रवृत्तियों का कुछ वास्तविक और कुछ आनुमानिक परिज्ञान प्राप्य होता है जो उसके क्रमबद्ध जीवन-वृत्त की रचना में रसिकता और रोचकता के साथ काम में लाया जा सकता है। इस सरल सिद्धांत के अनुसार यदि गोस्वामी तुलसीदासजी का निश्शेष जीवनचरित सविशेष रूप में लिखा जाय तो उनके संबंध में जो कुछ ज्ञात या ज्ञातव्य हो वह सब उसमें उपयुक्त औचित्य के साथ संनिविष्ट होना चाहिए।

हमारी समझ में वेणीमाधव के "मूल गोस्वामीचरित" में दी हुई सामग्री गोस्वामीजी के सविशेष जीवन-चरित्र के लिये अधिकांश में प्रामाणिक और उपयोगी है; केवल जन्म-संवत् की और जन्म-संवत् से "राम गीतावली" के संकलन के पूर्व तक जो घटना-काल दिए हैं उनकी सत्यता संदिग्ध प्रतीत होती है। "मूल चरित" में लिखा है—

पंद्रह सै चउवन विषै कालिंदी के तीर।
श्रावण-शुक्ला सप्तमी तुलसी धरेउ शरीर ॥

इस दोहे के साथ उसी ग्रंथ में दिए हुए तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के संबंध में निम्न दोहे को पढ़िए—

संवत् सोलह सौ असी असीगंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यौ शरीर ॥

इन दोहों से गोस्वामीजी को सवा सौ बरस से अधिक की आयु मिलती है। यद्यपि किसी मनुष्य की इतनी आयु होना

किसी युग में असंभव नहीं है परंतु इस युग में असामान्य अवश्य है, और अन्य असामान्य बातों की तरह असामान्य आयु की बात भी लोक में बहुधा प्रसिद्ध हो जाया करती है विशेष करके जब वह किसी असामान्य व्यक्ति से संबंध रखती हो, परंतु सिवाय वेणीमाधव के ग्रंथ के अन्यत्र कहीं भी गोस्वामीजी की इतनी बड़ी आयु होने की चर्चा नहीं पाई जाती। अतः वर्तमान तर्कशील युग बिना अनेकों उचित शंकाओं के निरसन के गोस्वामीजी की आयु को ठीक मानने के लिये तैयार नहीं होगा, इस कारण उसके विषय में विशेष विवेचन अपेक्षित है जो गोस्वामीजी की जीवन-घटनाओं से संबद्ध संभाव्यताओं और असंभाव्यताओं के सम्यक् अनुशीलन से हो सकता है।

"मूल चरित" के अनुसार गोस्वामीजी के जीवन की उल्लेखनीय घटनाएँ काल-क्रम से नीचे प्रकाशित की जाती हैं। वे **वैयक्तिक, साहित्यिक और व्यावहारिक** संज्ञाओं से तीन वर्गों में विभक्त हैं—

घटना	संवत्	घटना-काल की गोस्वामीजी की वयस
वैयक्तिक		
१—जन्म	१५५४	
२—यज्ञोपवीत ...	१५६१	७ बरस
३—विवाह	१५८३	२९ "
४—स्त्री-त्याग, वैराग्य-ग्रहण, स्त्री की मृत्यु ...	१५८९	३५ "
५—राम-दर्शन ...	१६०७	५३ "
६—सूरदास-मिलन ...	१६१६	६२ "

घटना	संवत्	घटना-काल की गोस्वामीजी की वयस
साहित्यिक		
७—रामगीतावली ...	१६२८	७४ बरस
८—कृष्णगीतावली ...	१६२८	७४ "
९—रामचरितमानस { आरंभ	१६३१	७७ "
समाप्ति	१६३३	७९ "
१०—वाल्मीकि रामायण की प्रतिलिपि ...	१६४१	८७ "
११—सतसैया ...	१६४२	८८ "
१२—रामलला-नहछू ...	१६४३	८९ "
१३—जानकी-मंगल ...	१६४३	८९ "
१४—पार्वती-मंगल ...	१६४३	८९ "
१५—हनूमान बाहुक ...	१६६९-१६७१	११५-११७
१६—वैराग्य-संदीपनी...	१६७२	११८
१७—रामाज्ञा ...	१६७२	११८
१८—बरवै रामायण १९—कवितावली २०—विनय-पत्रिका	मूल चरित में नहीं दिया	अज्ञात
व्यावहारिक		
२१—टोडरमल की मृत्यु पर उसके पुत्रों में उसकी संपत्ति का विभाजन	१६६९	११५ बरस

इस सारिणी के ध्यानपूर्वक अवलोकन से जो विचार चित्त में स्फुरित होते हैं उनमें से कुछ नीचे निदर्शित किए जाते हैं—

वैयक्तिक घटनाएँ—हमको यह देखना है कि गोस्वामीजी के जीवन में कौन कौन घटनाएँ ऐसी पाई जाती हैं जो अन्य घटनाओं की जननी मानी जा सकें। प्रभावोत्पादक घटनाएँ प्रायः वैयक्तिक हुआ करती हैं। जन्म होते ही माता-पिता से संबंध टूट जाना, कोमल शैशवावस्था में एक साधु के सपुर्द होना, फिर दूसरे साधु के संरक्षण में आना, उससे रामावतार की पावन कथा का पुनः पुनः श्रवण करना, आठों याम भक्त जनों के बीच भगवत्-उपासना के वातायन में पालन-पोषण पाना, इत्यादि विविध संस्कारों का समवाय साधारण कोटि के मनुष्य के जीवन पर भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता, फिर गोस्वामीजी के समान असाधारण प्रतिभावान् और साहजिक कवित्व शक्ति-संपन्न रसीले चित्तवाले व्यक्ति के विषय में इस प्रकार के संसर्ग आदि के अवश्यंभावि प्रभाव का क्या कहना। उनका अपनी स्त्री के रूप-सौंदर्य पर मुग्ध होकर अनन्य भाव से तन्मय हो जाना ही उनकी सौंदर्योपासिनी सरस अंतर्वृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिस सहृदयता ने उन्हें स्त्री-सौंदर्य का आराधक बनाया था उसी ने उन्हें एक क्षण में, निमित्त कारण उपस्थित होने पर, भगवद्भक्त में परिवर्तित कर दिया। यह निस्संदेह उनके पूर्वकालीन संस्कार तथा वर्तमानकालीन सत्संग-जन्य सद्वासनाओं का ही प्रशंसनीय परिणाम था। इस कथन को स्पष्टतर करने के प्रयोजन से उनकी कुछ वैयक्तिक घटनाएँ यहाँ उल्लिखित की जाती हैं—

बाबा वेणीमाधवजो कहते हैं कि संवत् १५५४ में, तुलसीदासजो ने शरीर धारण किया, परंतु जन्म के समय बालक रोया नहीं वरंच राम नाम उच्चारण करने लगा। उसके दाँत गर्भ में ही हो आए थे और वह ५ बरस का सा मालूम होता था। इन असाधारण विशेषताओं से उसके पिता आदि डर गए और उन्होंने यह निश्चय किया

कि शिशु यदि तीन दिन तक जीता रहे तो उसके लौकिक वैदिक संस्कार करने चाहिएँ। पर बालक की माता हुलसी ने लोगों के दुर्भाव से शंकित और बच्चे के प्रेम से प्रेरित होकर उसे तीन दिन बीतने से पहले ही मुनिया दासी के द्वारा पालन-पोषण के प्रयोजन से हरिपुर को भेज दिया था। हरिपुर में बालक मुनिया के घर ६५ मास तक पला। उसके बाद मुनिया का देहांत हो गया। तुलसीदासजी के पिता को जब इसका समाचार मिला तो उन्होंने पुत्र की ओर उदासीन भाव दिखलाया, कहा "हम का करबै अस बालक लै।" अब हरिपुर में बालक निस्सहाय हो "द्वार द्वार" डोलने लगा। उसकी ऐसी दशा देख शिवपत्नी पार्वती को दया आई और ब्राह्मणी के रूप में वे उसे नित्य भोजन दे जाने लगीं। इस प्रकार हरिपुर में दो बरस और बीत गए। तब महादेवजी के भेजे हुए स्वामी नरहर्यानंद वहाँ आए और बालक को अपने साथ अयोध्याजी ले गए। वहाँ उसका यज्ञोपवीत कराया। १० महीने वहाँ रहना हुआ और उसे पाणिनि के सूत्र आदि पढ़ाने का प्रबंध किया गया। उसके बाद गुरुजी उसे घाघरा और सरजू के संगम पर संस्थित शूकर खेत ले गए—"तहवाँ पुनि पाँचइ वर्ष बसे। तप में जप में सब भाँति रसे॥" जब शिष्य पढ़कर सुबोध हुआ तब मानस राम-चरित्र की गूढ़ कथा उसे गुरु ने सुनाई। फिर "वसु पर्व लगैं" वहाँ से गुरुजी चेला-सहित चल पड़े और मार्ग में मुदित मन विचरते, अनेक स्थानों में ठहरकर सुकृतियों को उपदेश करते दुखियों के "दुखदाप हरते" काशी धाम पहुँचे। वहाँ वयोवृद्ध परंतु युव-मनस्क शेष सनातन नामक साधु ने वटु को विद्याभ्यसन कराने के लिये नरहर्यानंदजी से माँग लिया।

"हैं ताहि पढ़ाउब वेद चहूँ। अरु आगम दर्शन पात छहूँ॥
"इतिहास पुराणरु काव्यकला। अनुभूत अलभ्य प्रतीक फला॥
"विद्वान महान बनाउब जू। सुनि आपु महा सुख पाउब जू॥"

शेष सनातन की सेवा में (काशी और चित्रकूट में) १५ बरस रहकर तुलसीदासजी राजापुर पधारे—

"वटु पंद्रह वर्ष तहाँ रहिकै। पढ़ि शास्त्र सबै महिकै गहिकै॥
"करिकै गुरु सेवा सदय तन से। गत देह क्रिया करि सौ मन से॥
"चले जन्मथली कों विषाद भरे। पहुँचे रजियापुर के बगरे॥"

वहाँ अपने पिता का घर खँड़हर दशा में पाया—उसे बनवाकर गोस्वामीजी उसमें बस गए। लोगों को रघुपति-कथा सुनाया करते थे।

दो बरस बाद वहाँ उनका विवाह हुआ। पत्नी परम रूपवती मिली। "मूल चरित" लिखता है कि तुलसीदासजी ने—

"मन प्राण पिया पर वारि दए। जस कौशिक मेनका देखि भए
"दिन राति सदा रँगराते रहैं। सुख पाते रहैं ललचाते रहैं॥
"शर वर्ष परस्पर चाव चए। पल ज्यों रसकेलि में बीत गए॥
"नहिं जानि दें आपु न जायँ कहीं। पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥"

एक दिन उनकी अविद्यमानता में उनकी स्त्री अपने भाई के साथ उनकी आज्ञा बिना ही नैहर को चली गई। तुलसीदासजी को जब यह मालूम हुआ तो वह भी नदी पार कर रात ही में सुसराल जा पहुँचे और ससुरजी का दरवाजा खटखटाया। उस समय उनकी स्त्री खीझकर बोली—

हाड़ चाम की देह मम ता पर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति अवसि मिटहि भव भीति॥

इन वचन-बाणों ने तुलसीदास के अंतश्चक्षु खोल दिए और उन्होंने तत्क्षण वैराग्य ले लिया। इस समय उनकी ३५ बरस की उम्र थी।

तीर्थ-राज प्रयाग में उन्होंने गृहस्थ-वेष विसर्जन किया और विरक्त वेष में रघुवीर-पुरी पहुँचे। वहाँ "चौमासक सौं बसिकै" जगन्नाथ पुरी को प्रस्थित हुए। वहाँ कुछ दिन वास किया और अवकाश के समय वाल्मीकीय रामायण की अपने हाथ से प्रतिलिपि लिखी। वहाँ से तीर्थाटन को आगे बढ़े, और लगभग १५ बरस में

रामेश्वर, द्वारावती, वदरिकाश्रम, मानसरोवर, रूपाचल, नीलाचल का परिचय प्राप्त कर भव-वन में आकर चातुर्मास किया। और वहाँ के वन्य लोगों को राम-कथामृत पान कराने के पुनीत कार्य में प्रवृत्त हुए। उस अरण्य में एक प्रेत से साक्षात्कार हुआ। उसकी मंत्रणा से हनुमानजी द्वारा राम-दर्शन की संभावना के प्रलोभन में पड़ चित्रकूट पधारे और अपनी कामना में सफल हुए। यह घटना संवत् १६०७ की है जब वे ५० बरस की आयु को पार कर चुके थे। अब गोस्वामीजी की स्थिति कई बरसों तक चित्रकूट ही में रही। वहाँ अनेकों साधु-संतों से उनका समागम हुआ।

कहा जाता है सं० १६१६ में, जब गोस्वामीजी ६८ बरस के थे, सूरदासजी उनसे मिलने आए और उनको अपना "सूरसागर" नामक प्रसिद्ध ग्रंथ दिखाया। उसके बाद राजपूताने की प्रसिद्ध भगवद्भक्त मीराबाई का पत्र आया जिसका उत्तर उन्होंने संतोष-प्रद-पद द्वारा दिया।

इसी समय के लगभग गोस्वामीजी द्वारा राम-चरित्र और कृष्ण-चरित्र संबंधी फुटकल पदों की रचना का आरंभ माना जाता है और सं० १६२८ में उन पदों का "राम-गीतावली"* और कृष्ण-गीतावली" नामक ग्रंथों के रूप में संकलित होना समझा जाता है। ये दोनों ग्रंथ उनके प्रथम निर्मित ग्रंथ माने जाते हैं और यही उनके साहित्यिक जीवन का समारंभ-काल समझा जाता है। इस समय वे ७४ बरस के वृद्ध पुरुष थे।

उनका सर्वोत्तम काव्य रामचरितमानस सं० १६३१ में आरंभ हुआ और सं० १६३३ में समाप्त हुआ—

"दुइ वत्सर सातके मास परे। दिन छब्बिस माँझ सो पूरे करे
"तैंतीस को संवत् औ मगसर। सुभ द्यौस सुराम विवाहहि पर

* परंतु इसकी भाषा से ऐसा भासित होता है कि यह रामचरितमानस के बाद बनी होगी, भाषा में विशेष माधुर्य और प्रांजलता है, और सूरसागर का अनुकरण सा है।

"सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को"
मूल चरित के अनुसार उनकी उम्र उस समय ७६ बरस से ऊपर थी।

बाबा वेणीमाधव ने गोस्वामीजी के संबंध में जो कतिपय असंभाव्य घटनाएँ वर्णन की हैं उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि जिस काल में गोस्वामीजी इस धराधाम को अपने पवित्र जीवन से धन्य कर रहे थे, हिंदू-जनता की मानसिक स्थिति ऐसी थी कि साधु महात्माओं के संबंध में जो बातें सुनने में आती थीं उन्हें लोग बिना बहु तर्कवितर्क के सच मान लेते थे। असंभव करामातें; संभव असंभव प्राकृतिक बातें; त्याग, दान, शौर्य, तितिक्षा, शिक्षा, शक्ति, भक्ति आदि से संबद्ध सभी प्रकार की करनी, साधुओं की साधुता द्वारा स्वयंसिद्ध घटनाओं की भाँति संभाव्य मानी जाती थीं। शाप और वर भी उनमें सम्मिलित थे। अतः "मूल चरित" में वर्णित इस प्रकार की अधिकांश घटनाएँ क्षंतव्य हैं।

समय के संबंध में भी हमारी पूर्वकालिक कथाओं में बहुधा बहुत शिथिलता देखी जाती है। वाल्मीकि रामायण का काल अभी तक विवाद-विषय है। भूतकाल के एक से अधिक प्रसिद्ध नरेशों, योद्धाओं और कविकोविदों के जन्म, मरण और आयु के विषय में निर्भ्रांत परिज्ञान प्राप्य नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास के बाल्य, कैशोर, युवा और गृहस्थ जीवन की घटनाओं पर सम्यक् दृष्टि डालने से निर्धारित होता है कि उनको जन्म-काल से ही उत्तरोत्तर वह साधन प्राप्त होते गए जिनसे असाधारण मेधा और प्रतिभा के पुरुष में महापुरुषता का बीज वपन होने लगता है, अथवा यों कहिए कि पूर्वकाल के पुनीत संस्कारों से जन्मी हुई लोकोत्तरता का पौधा अंकुरित हो सहज ही में पनपने लगता है। कोमल शिशु वयस से ही बार बार राम-चरित-चर्चा सुनने तथा भगवद्भक्ति से सुरभित सत्संग में सदैव रहने से तुलसीदास को "राम-चरित-मानस" का कर्त्ता होने की पूरी संभाव्यता, उनकी असाधारण धारणा, विलक्षण प्रतिभा और स्वाभाविक सहृद-

यता के सहयोग में, सहज रीति से संसिद्ध हो गई थी—साधुओं की कृपा से उनको वेद, पुराण, व्याकरण, काव्य आदि के अध्ययन का सुयोग मिला था और २७ बरस की अवस्था से पहले उनका पठन-पाठन समाप्त हो गया था। २९ वीं बरस में विवाह हुआ और ३५ वीं में वैराग्य। तदनंतर ५० बरस की अवस्था तक उन्होंने तीर्थाटन किया—

"इमि करि तीर्थाटन सकल, निबसे भव बन आय
चौदह बरिस रु मास दस, सतरह दिवस बिताय ॥"

तीर्थाटन उनका सं॰ १६०४ में समाप्त हुआ होगा। अब तीर्थाटन के बाद २५-२६ बरस तक गोस्वामीजी किस कर्मण्यता में संसक्त रहे यह एक महत्व-पूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है जिसके समुचित समाधान पर उनकी जन्म-संवत्-समस्या का हल होना अधिकतम अंश में अवलंबित है।

"मूल चरित" उन्हें इस सारी मुद्दत भर चित्रकूट में स्थित रखता है और विविध विभूति-भूषित, दैवी शक्ति-संपन्न सिद्धों और भक्तों में अग्रस्थान प्रदान कर साधु संतों तथा प्राकृत जनों के समागम आदि में कतिपय चमत्कार अथवा सिद्धि के कार्य (कुछ संभाव्य, कुछ असंभाव्य) उनसे करवाता है जिनमें उनके प्रगल्भ पांडित्य, उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति और असाधारण साहित्यिक प्रतिभा का भाग बहुत कम है। ये सब उनकी जन्म-सिद्ध विशेषताएँ इतने काल तक सुप्त सी अथवा गुप्त सी ही रहती हैं। ७४ बरस की उम्र से पहले उनके द्वारा कोई साहित्यिक कार्य (सिवाय रामगीतावली और कृष्णगीतावली के पदों के जो कि उनकी ६२ और ७४ बरस की अवस्था के बीच में बने होंगे) नहीं दिखाया गया है। और उनकी सर्वोत्कृष्ट कविता, राम-चरित-मानस, की रचना का आरंभ उनकी ७७ बरस की वयस में और समाप्ति ७९ या ८० बरस की उम्र में वर्णित है। सामान्य मानुषिक मेधा को इस स्थल पर कुछ "गोलमाल" की सी गंध आती है और शंकाओं और संशयों का ढेर उसके प्रकृत

पथ में अवरोध डालता दिखाई देता है। तुलसीदास के देहावसान का संवत् तो निर्विवाद है, उसकी सत्यता के विषय में किसी को कुछ शंका या संदेह नहीं। परंतु यह कथन कि गोस्वामीजी का साहित्यिक जीवन उनकी ७४ बरस की उम्र में आरंभ हुआ और ११८ बरस की वयस तक प्रवर्तित रहा विश्वसनीयता की सामान्य सीमा के परे पहुँचता प्रतीत होता है।

गोस्वामीजी जिस उच्च श्रेणी के भगवज्जन या भक्त थे उसी उच्च श्रेणी के वे कवि भी थे। उनकी भगवद्भक्ति और कवित्व-शक्ति निज निज विकास में परस्पर सहायक थीं; परंतु "मूल चरित" के अनुसार भक्ति ने तो अपना आधिपत्य या अधिकार उन पर उनकी ३५ बरस की अवस्था ही में जमा लिया, परंतु कवित्व शक्ति उनकी उनके वैराग्य-ग्रहण के लगभग ४० बरस बाद तक निष्क्रिय अथवा सुषुप्त रही। भक्त तो वे युवावस्था में बन गए, परंतु कवि वृद्धावस्था में हुए। "राम-गीतावली" और "कृष्ण-गीतावली" के पद भी शायद उनकी ६२ बरस की अवस्था के बाद बने हैं परंतु वह ग्रंथ-रत्न, कि जो सूर्यवत् उनकी कीर्त्ति-किरणों को भारतवर्ष के कोने कोने में फैला रहा है, उन्होंने तब बनाया जब कि उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ शिथिलता की अवस्था में आ चुकी थीं। और यह एक और ख़ूबी है कि उनके शेष प्रायः सभी ग्रंथ उनकी ८० बरस की अवस्था के बाद के बने बताए जाते हैं। शायद सच है कि "क्रिया-सिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे"। बहुत बड़ी अवस्था में बहुत बड़े लोगों से बड़े बड़े काम बनते हुए कभी कभी देखे तो गए हैं और बहुधा सुने गए हैं। परंतु उनकी बड़ी अवस्था की बात लोगों पर ज़ाहिर रही है। गोस्वामीजी को सवा सौ बरस से ऊपर की आयु मिलने की बात उनकी भक्ति और कविता की तरह जगत् में प्रसिद्ध क्यों नहीं हुई? गोस्वामीजी तो जनता के प्रेम-पात्र सदा रहे हैं, परंतु उनकी बड़ी उम्र की बात इतने दिनों तक लोगों को ज्ञात न थी।

संभव है कि उक्त ४० बरस के काल में कुछ बरस उन्हें "रामचरितमानस" की सामग्री संचित करने में लगे हों, परंतु कितने बरस लगे होंगे? ४० या ३५ बरस का अनवरत मौन प्रतिभा-शाली जन्म-सिद्ध कवि के लिये एक अचिंत्य और असह्य संभावना है। हमारी अल्प मति में 'मूल चरित' में उल्लिखित जन्म-संवत् किसी की मन-गढ़ंत कल्पना है।

ज़रा मननपूर्वक जन्म और मरण-संबंधी दोनों दोहों की रचना के मिलान से भी कुछ ऐसा ही भ्रम उत्पन्न होता है।

१—पंद्रह सै चउवन विषै **कालिंदी के तीर**।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धरेउ **शरीर**॥

२—संवत सोरह सै असी असी **गंग के तीर**।
श्रावण श्यामा तीज शनि **तुलसी** तज्यौ **शरीर**॥

इनके अनुसार गोस्वामीजी का जन्म और मरण दोनों श्रावण मास में हुए। फिर संवत् और मास का उल्लेख तथा 'तीर', 'तुलसी' और 'शरीर' शब्दों का व्यवहार तथा स्थान, दोनों दोहों में एक घनिष्ठ अनुक्रम-सादृश्य का दृश्य उपस्थित करते हैं। एक दोहा कहता है—'कालिंदी के तीर तुलसी धरेउ शरीर', दूसरा बखानता है—'गंग के तीर तुलसी तज्यौ शरीर' इस अपूर्व असामान्यता का हेतु क्या माना जा सकता है? हमको तो ऐसा शक होता है कि इनमें से एक दोहा दूसरे को देखकर ठीक उसी के ढाँचे पर गढ़ा गया है। अब जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मरण-संवत् की प्रामाणिकता में संदेह का अवसर नहीं है, अतः निष्कर्ष निकलता है कि जन्म-संबंधी दोहा मरण-संबंधी दोहे के बाद उसकी नक़ल में बनाया गया है।

जन्म-संबंधी दोहे में एक और बात चिंत्य है। वह कहता है कि तुलसीदास का जन्म 'कालिन्दी के तीर' हुआ। इससे क्या ध्वनि निकलती है? अकेले दोहे से यही भ्रमात्मक बात निकलती है कि उनका जन्म ऐन नदी के तीर पर हुआ होगा, परंतु दोहे को उससे

पहले दी हुई तोटक की निम्नलिखित ४ पंक्तियों के साथ मिलाकर पढ़ने से 'कालिंदी के तीर' की उक्ति केवल पुनरुक्ति ठहरती है, क्योंकि तोटक में यमुना-तट और ग्राम और घर का नाम, कि जहाँ जन्म हुआ था, आ चुका है—

यमुना-तट दूबन कौ पुरवा। बसते सब जातिन कौ कुरवा॥
सुकृती सतपात्र सुधी सुखिया। **रजियापुर** राजगुरू मुखिया॥
तिनके घर द्वादश मास परे। जब कर्क के जीव हिमांशु धरे॥
कुज सप्तम अष्टम भानुतनय। अभिजित शनि सुंदर सांझ समय।

यदि तोटक और दोहा एक ही काल के रचे हुए होते तो यह नदी-तट-संबंधिनी पुनरुक्ति दोहे में शायद न आने पाती। यह 'मूल चरित' के भीतर ही दिया हुआ, उक्त संदेह को पुष्ट करनेवाला, अंतरंगीण प्रमाण (Internal Evidence) है।*

अब एक दूसरी तरह से जन्म-संवत् की सत्यता की जाँच कीजिए। तीर्थाटन समाप्त करके जब गोस्वामीजी चित्रकूट में बरसों के लिये बस गए तब उनके दर्शनार्थ दूर दूर से साधु महात्मा आदि आने लगे, उनमें वृंदावन के हितहरिवंशजी के भेजे हुए उनके प्रिय शिष्य नवलदासजी भी थे जिनके हाथों उन्होंने 'यमुनाष्टक', 'राधा-सुधानिधि' और 'राधिकातंत्र' की पुस्तकें, मय संवत् १६०९ की जन्माष्टमी की लिखी हुई अपनी पत्री के, गोस्वामीजी की भेंट को प्रेषित की थीं। फिर संवत् १६१६ में गोकुलनाथजी की प्रेरणा से गोस्वामीजी से मिलने महात्मा सूरदासजी आए और अपना प्रसिद्ध काव्यग्रंथ 'सूर-सागर' उनको दिखाने के लिये साथ लाए। तदनन्तर मीराबाई के पद्यबद्ध पत्र के आने का उल्लेख है। इस स्थल पर प्रश्न उठता है कि ये सब साहित्यिक संसर्ग-विशिष्ट घटनाएँ गोस्वामीजी

* परन्तु संभव है कि यह पुनरुक्ति दोष आकस्मिक अर्थात् असावधानता-हेतुक हो और जन्म-संबंधी दोहा मरण-संबंधी दोहे के बाद नहीं, साथ ही बना हो; तथापि हमको जन्म-संबंधी संवत्, मास, तिथि, वार, नक्षत्र, सभी काल्पनिक मालूम होते हैं। नक्षत्रादि ५४ के तिथि-पत्र से लिए गए होंगे।—लेखक

के साधुत्व के कारण हुई थीं अथवा साधुत्व-सहवर्त्ती कवित्व की प्रसिद्धि उनका हेतु थी। क्या इनसे यह आभासित नहीं होता कि तुलसीदासजी ने ७४ बरस की उम्र से बहुत पहले साहित्यिक कर्मण्यता के साथ संपर्क स्थापित कर लिया था, और जिस समय उन्होंने 'रामगीतावली' और 'कृष्णगीतावली' का संकलन और 'रामचरितमानस' का निर्माण किया था उस समय वे संवत् १५५४ के जन्मे, पौन शताब्दी पुराने, शिथिलेंद्रिय, जीर्ण, शीर्ण, जरठ नहीं थे ?

'मूल चरित' के सिवाय एक और ग्रंथ में (अर्थात् शिवलाल पाठक कृत "रामचरितमानस" के ऊपर 'मानस मयंक' नामक तिलक में) तुलसीदासजी का जन्म-संवत् १५५४ पाया जाता है। परंतु वह ग्रंथ गोस्वामीजी की शिष्य-परंपरा की चौथी पीढ़ी के एक विद्वान् का बनाया हुआ है। उसमें दिया हुआ संवत् 'मूल चरित' से (जो कि गोस्वामीजी की मृत्यु के ७ बरस बाद ही बना था) लिया गया होगा; अतः वह ग्रंथ जन्म-संवत् की सत्यता के लिये प्रमाण नहीं माना जा सकता।

अब यदि जन्म-संवत् ठीक नहीं है तो यज्ञोपवीत से लेकर सूरदास-मिलन तक के संवत् भी ठीक नहीं माने जा सकते। ठीक संवतों का उल्लेख "रामचरितमानस" की रचना के साथ आरंभ होता है।

दो शब्द मरण-तिथि और कतिपय अन्य घटनाओं के संवतों की उपलब्धि के संबंध में भी निवेदनीय हैं। मरण-तिथि जो 'मूल चरित' में दी हुई है ठीक मानी जा सकती है, क्योंकि 'मूलचरित' के कर्त्ता बाबा बेणीमाधवदास गोस्वामीजी की मृत्यु के समय उनकी सेवा में उपस्थित रहे होंगे। परंतु **जन्म, उपनयन, विवाह, स्त्रीत्याग, राम-दर्शन, सूरदास-आगमन, टोडर-मृत्यु,** इत्यादि घटनाओं की तिथियाँ बाबाजी को कहाँ से और कैसे प्राप्त हुईं ? कहा जा सकता है कि जन्म-तिथि गोस्वामीजी के जन्म-पत्र से ली गई होगी या स्वयं गोस्वामीजी से मालूम हुई होगी; परंतु क्या जन्म होते ही माता-पिता से बिलगाए गए बालक का जन्म-पत्र बनाया गया होगा

और जन्म-पत्र के अभाव में गोस्वामीजी को अपने जन्म के नक्षत्र, दिवस, तिथि, संवत् का ठीक ज्ञान होगा ? संभव है, यज्ञोपवीतादि घटनाओं के संवतों का उनको ठीक ज्ञान रहा हो। परंतु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन घटनाओं के संवत् वेणी-माधवदास को गोस्वामीजी से प्राप्त हुए थे।

शेष संवत् और तिथियाँ शायद प्रमाणिक हैं।

ऊपर किया हुआ हमारा ऊहापोह शायद हमारी तर्क-प्रिय मनो-वृत्ति से संभूत कुतर्कों का संदोह समझा जाने की संभावना से रहित नहीं है और उससे बाबा वेणीमाधवदास के लिखे हुए जन्म-संवत् की कल्पितता शायद असंदिग्धतया सिद्ध नहीं होती। हमें भी उस की कल्पितता पर आग्रह नहीं है क्योंकि किसी का शताधिकायु होना सर्वथा असंभाव्य संभावना नहीं है। परंतु अपने सयुक्तिक स्वतंत्र विचारों को बिना किसी दुराग्रह के सुपठित जनता के विचा-रार्थ उपस्थित करना हमारे मत में कोई अक्षंतव्य आचरण नहीं है, अतएव हम ऐसे आचरण में प्रवृत्त हुए हैं। अपना कथन समाप्त करते करते हम इतना फिर जता देना उचित समझते हैं कि 'मूल चरित' के रचना-काल में अत्युक्तियाँ, असंभवोक्तियाँ, बल्कि कल्पित कथाएँ लिख देना भी निबंधकारों के समीप एक साधारण बात थी*।

---

* इस प्रसंग में एक बात मैं अपनी जानी हुई प्रकाशित कर देना चाहता हूँ। मेरे छोटे फूफा स्वर्गीय पं० तोतारामजी, जिनके शरीरपात को कोई २०,२५ बरस हुए होंगे, अपने जीवन में कुछ महत्त्व-वेष्टित महात्माओं में परिगणित थे। वे सर्कारी स्कूलों के सब डिपुटी इंसपेक्टर रह चुके थे और हिंदी, उर्दू, फारसी, संस्कृत के आशु कवि थे। उनका वैराग्य अवस्था का नाम 'निर्भयानंद' था और उनके पंजाब और युक्त-प्रांत में बहुसंख्यक संभ्रांत शिष्य थे। उनकी पुत्री श्रीमती गोमती एक बड़ी बुद्धिमती, प्राचीन-प्रथा की पठित महिला थीं—उनकी मृत्यु हाल ही में हुई है, कोई एक महीना ही हुआ होगा। उन्होंने मुझसे कहा था कि जब उनके पिता की मृत्यु हुई तो शिष्यों में झगड़ा हुआ कि उनका शव जलाया जाय या यमुना में बहाया जाय (मृत्यु क़सबा औरय्या, ज़िला इटावा में हुई थी)। जब झगड़ा अधिक बढ़ा तो स्वामीजी का शरीर

अब "मूल चरित" के संबंध में कुछ वाङ्मय विवेचना अपेक्षित प्रतीत होती है। यह कहा जाता है कि इसके रचयिता बाबा वेणी-माधवदास गोस्वामीजी के पट्ट शिष्यों में थे—और उनकी सेवा और सहवास में चिरकाल तक रहे थे। परंतु एक महाकवि के सत्संग का, साहित्यिक दृष्टि से, उनको कोई प्रशंसनीय फल नहीं मिला क्योंकि "मूल चरित" सारा का सारा अनेक दोषों से परिप्लुत है। तोटक छंद का उसमें अधिक बाहुल्य है और उसी छंद में छंदोभंग का प्रचुर प्राबल्य है। सिवाय दोहों के शेष सभी छंद रचना में न्यूना-धिक अशुद्ध हैं। पृष्ठ २० पर जो एक शार्दूलविक्रीड़ित दिया हुआ है वह छंद करके अभिहित है। हरिगीतिका को भी वही नाम प्राप्त है।

आश्चर्य है कि जिन गोस्वामीजी ने "निर्धन भाट दमोदरहिं, आशिष दै **कवि कीन**" उनकी शिष्यता में बरसों रहने पर भी वेणीमाधवदास को आदरणीय कविता बनाने की योग्यता प्राप्त नहीं हुई।

प्रतीत होता है कि प्रकाशित होने के पहले "मूल चरित" में कुछ संशोधन किए गए हैं। निम्नोद्धृत पंक्तियों में आधुनिकता की आभा अवलोकन कीजिए—

दिन राति सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं ललचाते रहैं। (पृ० ९)

चरणों पै पड़े चरणोदक लै। अपराध कराइ क्षमा धर गै। (पृ० २१)

इनके सजातीय अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

उपसंहार

हमारी समझ में गोस्वामीजी का एक सच्चा मूल जीवनचरित उनके जीवन की केवल संभाव्य घटनाओं के आधार पर निर्मित होना

फिर सजीव हो गया और उन्होंने अपने शव को बहाने का आदेश दिया और शरीर फिर शवता को प्राप्त हो गया। आदेशानुसार शिष्यगण शव को यमुनाजी के भीतर ले चले तो यमुना का जल उतरकर शव के चरणों तक आ गया।—लेखक।

चाहिए। समुचित प्रयत्न और परिश्रम से इस प्रकार बनाया हुआ निबंध पर्याप्ततया रोचक और शिक्षा-प्रद हो सकता है।

असंभाव्य घटनात्मक किंवदंतियाँ तथा अन्य आश्चर्य-जनक जन-श्रुतियाँ जीवन-ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट के रूप में संयुक्त कर देनी चाहिएँ। वेणीमाधव का 'मूल गोस्वामी-चरित' भी परिशिष्ट में उपयुक्त रीति से मिला देना उचित होगा। परंतु उसके साथ उसका एक विशुद्ध और विशद गद्यानुवाद भी यदि दिया जा सके तो अति शोभन हो।

नागरीप्रचारिणी सभा को वेणीमाधव-कृत विस्तृत चरित प्राप्त करने के लिये अनवरत चेष्टा में प्रवृत्त रहना चाहिए।

---

(३) महाकवि श्री बिहारीदास जी की जीवनी

(बिहारी-रत्नाकर की भूमिका का एक अंश)

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बी० ए०, काशी ।]

यद्यपि सतसई के भिन्न भिन्न क्रम लगाने तथा उस पर टीका टिप्पणियाँ करने में अनेक विद्वानों तथा कवियों ने श्रम किया, तथापि पुराने लोगों में से किसी ने उनके जाति, कुल, जीवनी इत्यादि के विषय में निश्चित तथा यथेष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा। बिहारी सतसई की जिन क्रमपद्धतियों तथा टीकाओं का पता लगा है, उनमें से कई एक, संभवतः, बिहारी के जीवित काल ही की होंगी। यदि उनके रचयिता चाहते तो बिहारी का पूर्ण वृत्तांत लिख सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय के विद्वान् तथा काव्यप्रेमी काव्य के गुण-दोषों ही पर विशेष ध्यान देते थे, और वह राजा भोज का रचित है अथवा गाँगू तेली का, इस बात का विचार नहीं करते थे। अतः इस समय के टीकाकारों, अथवा बिहारी पर कुछ लिखनेवालों को, उनकी जीवनी के निमित्त भिन्न भिन्न टीकाओं इत्यादि में प्राप्य बिहारी-विषयक स्फुट वाक्यों, संक्षिप्त जीवनियों, किंवदंतियों, एवं आख्यायिकाओं, इत्यादि को एकत्र करके, अनुमान से एक ढाँचा खड़ा करना पड़ता है। हम भी, उक्त सामग्री पर अपनी बुद्धि के अनुसार अनुमानों को अवलंबित करके, उनकी जीवनी लिखते हैं।

बिहारी के सबसे प्रथम टीकाकार, कृष्णलाल कवि,* ने, जिनका बिहारी का पुत्र होना भी अनुमान किया जाता है, अपनी

---

* ये कृष्णलाल उन कृष्णदत्त कवि से सर्वथा भिन्न हैं, जिनकी सतसई पर कवित्तोंवाली टीका है।

टीका में, जो कि हमारे अनुमान से सं० १७१९ में समाप्त हुई, 'प्रगट भए द्विजराज कुल' इत्यादि दोहे की टीका में यह लिखा है—

"केसो जो मेरो पिता, और केसोराय जो श्रीकृष्णजू",

इस वाक्य से बिहारी के पिता का नाम 'केशव' होना विदित होता है। यही बात उक्त दोहे की अनवरचंद्रिका-टीका के इस वाक्य से भी निकलती है—"केशव, केशवराइ बिहारी के बाप को नाम है।" रसचंद्रिका, हरिप्रकाश तथा लालचंद्रिका टीकाओं से भी बिहारी के बाप का नाम केशव होना सिद्ध होता है। इन ग्रंथों तथा बिहारी के उक्त दोहे से यह भी सिद्ध होता है कि केशव ब्राह्मण थे, और अपनी इच्छा से आकर व्रज में बसे थे।

प्रेम पुरोहित के लगाए हुए क्रम के आदि में यह दोहा मिलता है—

"विप्र बिहारी-नाम हुअ सोती-ख्याति प्रबीन।
तिन कवि साढ़ेसात सै दोहा उत्तम कीन॥"

इस दोहे से बिहारी का सोती (श्रोत्रिय) ब्राह्मण होना विदित होता है।

कुलपति मिश्र ने अपने 'संग्रामसार' नामक ग्रंथ में यह दोहा लिखा है—

"कविबर मातामह सुमिरि केसौ केसौ-राइ।
कहौं कथा भारत्थ की भाषाछंद बनाइ॥"

इससे कुलपति मिश्र के मातामह का नाम केशव होना ज्ञात होता है। कुलपति मिश्र के विषय में सुनने में आता है कि वे बिहारी के भांजे थे, और यह बात, उनके केशव के दौहित्र होने से, प्रमाणित भी होती है। अपने वंश के आदि-पुरुष के विषय में कुलपति मिश्र ने यह लिखा है—

"माथुर बंस प्रसिद्ध मिश्रकुल अभयराज भय।
सब-विद्या-परबीन वेद-अध्ययन-तपोमय॥"

जिससे उनका माथुर मिश्र होना प्रकट होता है। अतः बिहारी माथुर वंश के सोती (श्रोत्रिय) ब्राह्मण ठहरते हैं।

बिहारी को किसी ने बिहारीदास और किसी ने बिहारीलाल लिखा है। पर बिहारी के प्रथम तथा द्वितीय टीकाकारों ने उनको बिहारीदास ही कहा है; और कोविद कवि ने भी, जिन्होंने सबसे पहले सतसई के दोहों का क्रम लगाया, उनका नाम बिहारीदास ही लिखा है। पुरानी टीकाओं में से लालचंद्रिका में बिहारी का नाम 'बिहारीलाल' भी मिलता है। कदाचित् उसी को देखकर प्रभुदयाल जी पाँड़े ने भी अपनी टीका में बिहारीलाल लिखा है, और तब से अन्य लेखक प्रायः ऐसा ही करते आए हैं। यह भी संभव है कि पहले उनका नाम बिहारीलाल रहा हो, और पीछे से वैराग्य होने पर बिहारीदास हो गया हो, जैसा कि बिहारी के ४६वें दोहे से लक्षित भी होता है। हमारी समझ में बिहारीदास नाम विशेष प्रामाणिक है। बिहारी का आमेर में मिर्जा राजा जयशाह के समय में रहना उन्हीं के दोहों से सिद्ध होता है। 'यौं दल काढ़े बलख तैं' इत्यादि दोहे में जिस घटना का कथन किया गया है, वह संवत् १७०४ की है। उक्त दोहा सतसई का ७११ वाँ है, जिससे अनुमान होता है कि सतसई की समाप्ति सं० १७०४-५ के आस-पास हुई होगी, और उक्त घटना के उस समय नवीन होने के कारण, जयसिंह की प्रशंसा में कवि ने उसका उल्लेख किया होगा। यदि उस घटना को हुए बहुत दिन व्यतीत हो चुके होते, तो वह लोगों के चित्त से उतर गई होती, और उस समय की कोई नई घटना का कवि ने उल्लेख किया होता।

बिहारी का एक चित्र, जो 'बिहारी-रत्नाकर' के साथ प्रकाशित किया गया है, और जयपुर से प्राप्त हुआ है, सं० १६९२ का खींचा प्रतीत होता है। अतः सतसई की रचना के विषय में "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" इत्यादि दोहे की जो आख्यायिका है, उसके अनुसार सतसई-रचना का आरंभ उक्त संवत् में स्थिर होता है।

उक्त चित्र से बिहारी की अवस्था ४० वर्ष के अनुमान जान पड़ती है, अतः उनका जन्म-संवत् १६५२ के आसपास का माना जा सकता है।

१२

जनवरी सन् १९१९ की नागरीप्रचारिणी पत्रिका में हमारे मित्र श्रीयुत बाबू श्यामसुंदरदास जी बी० ए० ने बिहारी-बिहार नामक एक दोहाबद्ध निबंध अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया था; वह पाठकों के अवलोकनार्थ ज्यों का त्यों नीचे दिया जाता है—

"बिहारी का आत्मपरिचय"

"कुछ वर्षों की बात है कि शाहपुरा (राजपूताना) के एक कामदार इंदौर गए थे। ये अपने साथ एक प्रति बिहारी सतसई की लेते गए थे। उसके साथ एक 'बिहारी-बिहार' नाम का ग्रंथ लगा हुआ था। उसके पढ़ने के लिये पं० हरप्रसादजी चतुर्वेदी, जो उस समय इंदौर में तहसीलदार थे, बुलाए गए थे। चतुर्वेदीजी ने 'बिहारी-बिहार' की नकल कर ली थी। उसकी एक प्रतिलिपि मुझे पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी की कृपा से थोड़े दिन हुए प्राप्त हुई। इसमें सतसई के रचयिता बिहारीलाल का जो कुछ वृत्तांत दिया है वह विचित्र है। पर घटनाएँ सब स्वाभाविक हैं। मैं इस कविता को नीचे देता हूँ।

बिहारी-बिहार

राधा माधव रटत हैं प्रिय राधा के दास।
राधा भव बाधा हरौ राधा तिनके पास॥ १॥
काहू पुन्यनि पाइयतु पूत सपूत सुजान।
बिना भक्ति भगवान की कूकर काग समान॥ २॥
पुत्र जु ताही कौं कहत जो पितु आयसु पाल।
अनुचित उचित विचार तजि बचन करै प्रतिपाल॥ ३॥
नृप जजाति अरु परसुधर राम सत्य बागीस।
पितु-आज्ञा सिर पर धरी लही परम आसीस॥ ४॥
यहै जानि हमहूँ करी तात मात की सेव।
मम पितुमह बसुदेव जू पिता जु केशवदेव॥ ५॥
बसत मधुपुरी मधुपुरी केसव देव सुदेव।
नाम छःघरा गाइयतु चौबे माथुर देव॥ ६॥

वेद जु पढ़ियतु सीखियतु ऋग पुनि परम पुनीत।
तीनि मानियत प्रबर मम शाख असुलायन प्रीत॥ ७॥
नाम बिहारी जानियतु मम सुत कृष्णा जान।
रवितनया पूजिय सुभग लहियत शुभ बरदान॥ ८॥
तीरथबासी वृत्ति है आकाशी कहि जाय।
मगन रहत संतोष सौं यह धन परम कहाय॥ ९॥
संवत जुग शर रस सहित भूमि रीति गिन लीन्ह।
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमहिं विधि दीन्ह॥ १०॥
श्रवण नछत्रहि पाइयतु मीन लग्न परमान।
भैया बंधन सुख बढ़ौ पितर अधिक हरखान॥ ११॥
एक समय मम पितु सहित गए वृंदावन धाम।
रुद्र वर्ष की आयु में दरसन लहे सुठाम॥ १२॥
टट्टी नाम बखानियतु जमुना मैया पास।
आश्रम दिखियो जाय के श्री स्वामी हरिदास॥ १३॥
नागरिदास जु राजियत कहियत जिनहिं महंत।
नाम सरिस महिमा लही पूजहिं संत अनंत॥ १४॥
हम कीन्हों परनाम उन दइ असीस हरखाय।
तब तातहिं पूछी कुशल यह सुत किहि कहि जाय॥ १५॥
दास दास है आपु को कहि दीन्ही सब बात।
दिय परसाद प्रसन्न ह्वै आनँद उर न समात॥ १६॥
या गादी के दास हैं बिप्र मथुरिया जान।
चौबे इहिँ गादी भए संत महंत सुजान॥ १७॥
उन पितु सों गाथा कही पठइय सुत मम पास।
संत गुनीजन रहत ह्याँ सब बिधि परम सुपास॥ १८॥
आयसु उनकी सिर धरी रहे तहाँ हम जाय।
विद्या काव्य अनेक बिधि पढ़ी परम सचु पाय॥ १९॥
स्वामी की आसीस सों भए सब पूरन काम।
गान ताल सब सीखियौ जपत रहे हरि नाम॥ २०॥

निज भाषा अरु संस्कृत पढ़ि लीन्हीं बहु भाँति।
सुखी भए माता पिता सखा मित्र अरु जाति ॥ २१ ॥
एक समय सरताज जू शाहजहाँ सुलतान।
आए इहि अस्थान में कीन्हों बहु सनमान ॥ २२ ॥
राग रागिनी सुनि लिये पंच शब्द परकार।
तब कविता की कहि दई स्वामी गुन आगार ॥ २३ ॥
हम उनकी कविता करी भए प्रसन्न बड़ भाव।
चलत कही हम सों तबहि अर्गल-पुर में आव ॥ २४ ॥
मध्य आगरे जमुन-तट दुर्ग अगम आगार।
बसे तहाँ बहुकाल पुनि करि कविता बिवहार ॥ २५ ॥
पढ़ी पारसी शाह की गज़ल गीत अरु सेर।
गान सुनत सो रात कों दिवस गए बहुतेर ॥ २६ ॥
पुत्र जु जन्मो शाह के बजी बधाई देस।
दीप दीप में बड़ हरख रावत राव नरेस ॥ २७ ॥
ताहि समय बावन नृपति भारत के तहँ आव।
शाहंशाह हमें कही कविता सबहिं सुनाव ॥ २८ ॥
तब रचि पचि कविता करी शाह सराही ताहि।
रहे भूप दरबार में मन मैं सब हरषाहि ॥ २९ ॥
शाहजहाँ की साहिबी लाल बिहारी मान।
धन मणि भूषण को गनै पायौ बहु सन्मान ॥ ३० ॥
भारत के बावन नृपति रहे आगरे माहिं।
सनद दिवाई सबनु सों साहिब आपु सिहाहिँ ॥ ३१ ॥
वर्षासन सबने करे यथाशक्ति शुभ काम।
नाथ अमेर भुवाल जू मिर्जा राजा नाम ॥ ३२ ॥
जयसिंह जू जयशाह जू शाह दियौ उपनाम।
तेजपुंज कहियत सुभट प्रथम लीक भट दाम ॥ ३३ ॥
वर्षासन के लेन कों साल साल हम जाहिं।
एक समय आमेर में गए रहे नृप पाहिं ॥ ३४ ॥

मास दोय लग तहँ रहे काहु न पूछी बात ।
राजा के चाकरन सों लगी न एकौ घात ॥ ३५ ॥
भूपति इक रानी बरी शुठि सुंदर शुभ बाम ।
रही नवोढ़ा आयु की भूपति पीड़ित काम ॥ ३६ ॥
फँसे तासु के फंद में अलि गति ज्यों मड़रात ।
राज काज सब बिसरि गो बात न कछु कहि जात ॥ ३७ ॥
तब हम 'इक' रचना रची पासवान गुणवान ।
दोहा लिखि धरयौ सेज पर भूप कही इहि आन ॥ ३८ ॥
रंग महल में लै गए राजत जहँ जयशाह ।
अदब कायदा करि सकल बोले नृप यह काह ॥ ३९ ॥
कबिता करौ कवीश जू हम प्रसन्न जिय जान ।
रची सतसई विविध विधि व्रजभाषहिं दै मान ॥ ४० ॥
औरौं रस यामें धरे सरिस अधिक श्रृंगार ।
भूपति की जो भावना समय सोच व्यौहार ॥ ४१ ॥
दोहा एक हि एक पर मिलो मोहर सुख पाय ।
आशा तबहीं बढ़ि गई तृष्णहु भई सहाय ॥ ४२ ॥
चारि पाख के माँझ में कविता को रचि दीन्ह ।
हुकुम पाइ जयशाह कौ नगर पयानो कीन्ह ॥ ४३ ॥
डोरी लागी प्रेम की वृंदावन के माहिं ।
आए स्वामी थान में सुखयुत जनम सिराहिं ॥ ४४ ॥
कविता अन्यहु नृपन की करी विविध विस्तार ।
इहि बिधि मान न पाइयौ जो जयसिंह दरबार ॥ ४५ ॥
कविता सों मन हटि गयौ लग्यौ कान्ह सों ध्यान ।
लाल बिहारी ह्वै गए दास विहारी मान ॥ ४६ ॥
भजन समय को सुभग लखि कृष्ण भजे कल्यान ।
बिहारी बिहारी सेइयो स्वामी स्वामी जान ॥ ४७ ॥
संवत् छिति अंबक जलधि शशि मधुमास बखान ।
सुक्क पच्छ की सप्तमी सोमवार सुभ जान ॥ ४८ ॥

कविता मानव करि चुके बिबुध काव्य सों काम।
बिहारी बिहारी के भए जपैं बिहारी नाम ॥ ४६ ॥"

इस निबंध में जो घटनाएँ लिखी हैं वे स्वाभाविक तो अवश्य प्रतीत होती हैं, जैसा कि बाबू श्यामसुंदरदासजी ने लिखा है, तथापि उनमें से कई एक के यथार्थ होने में पूर्ण संशय है। प्रथम तो उक्त निबंध इस प्रकार लिखा गया है माना वह स्वयं बिहारी ही का रचित है। पर उसकी भाषा ऐसी अप्रौढ़ तथा छंद ऐसे अनगढ़ हैं कि वह बिहारी-रचित कदापि नहीं हो सकता। दूसरे यह कि, उसमें बिहारी का जन्म वैक्रमीय संवत् १६५२ अथवा १६५४ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी बुधवार का बतलाया गया है, और संसारत्याग सं० १७२१ के चैत्र मास की शुक्ल सप्तमी, सोमवार, का। पर गणित से संवत् १६५२ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी गुरुवार को पड़ती है, संवत् १६५४ की उक्त अष्टमी शनिवार को, और संवत् १७२१ की चैत्र शुक्ल सप्तमी बुधवार को, जिनसे वह निबंध किसी विशेष जानकार का भी लिखा नहीं प्रतीत होता। दूसरे उसकी कई एक घटनाएँ यदि असंभव नहीं तो दुर्घट अवश्य हैं, जैसे चार पक्ष में सतसई का रचा जाना तथा ११ वर्ष की अवस्था से बिहारी का वृंदावन में रहना, इत्यादि।

अनुमान यह होता है कि यह निबंध किसी ऐसे मनुष्य का लिखा हुआ है, जिसने बिहारी के विषय की कुछ बातें सुनी सुनाई थीं; जिनमें उसने अपनी कल्पनाएँ मिलाकर एक निबंध तैयार कर लिया। इस निबंध की अधिकांश बातें सच्ची जान पड़ती हैं, क्योंकि उनका प्रमाण अन्य ग्रंथों अथवा किंवदंतियों से भी मिलता है, जैसे—बिहारी के कुल, जाति, पिता, पुत्र इत्यादि का कथन, उनका वृंदावन जाना, उनका श्री स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय का अनुयायी होना, उनका अंतिम अवस्था में विरक्त होकर वृंदावन में रहना, उनके जन्म तथा संसार-त्याग के वर्ष, इत्यादि।

देवकीनंदन की वर्णार्थप्रकाशिका टीका में ये दोहे लिखे हैं—

अथ सतसई-कारन वर्नन

विप्र बिहारी सुद्ध भो ब्रजवासी सु कुलीन।
ता तिय तो कविता-निपुन सतसैया तिहिं कीन॥ १॥
जाहिर जग जैसाहि नृप धीर वीर कछवाह।
इच्छ दच्छिना देत तो नित प्रति पर्व अथाह॥ २॥
कविहु बिहारी विप्र तहँ जाइ दच्छिना पाइ।
नित निबहंत संतोष सौं निज घर सुख सौं आइ॥ ३॥
तिहिँ नृप अति सुंदर सुनी अपर महीप-कुमारि।
व्याहि ताहि ल्यायौ महल बस भो रूप निहारि॥ ४॥
राजकुमारि न सो रहै मुगधा लायक भोग।
तऊ महीपति बस भयौ भूलि सकल संजोग॥ ५॥
गए बिहारी विप्र तहँ लही दच्छिना नाहिं।
दुखित लौटि आए घरैँ कथा कही तिय पाहिं॥ ६॥
बोध कियौ तिय पिय सुनौ दुख न करौ मन माँह।
दिय दोहा लिखि यौं कह्यो जाहु जहाँ नरनाह॥ ७॥
दोहा नृप जैसाहि कौं दीजौ तहाँ पठाइ।
जहँ तिय-बस हैं महल मैं ऐहौ आनँद पाइ॥ ८॥
लहि तिय कौ उपदेस इमि चले बिहारी विप्र।
तिय-बस नृप जिहिं महल तिहिं ड्योढ़ी आए छिप्र॥ ९॥
दिय दोहा दासिहिं कह्यौ दीजै नृप कौं जाइ।
सो तिहिं दिय नृप कौं कही द्विज की दसा बनाइ॥ १०॥

बिहारी-तियकृत दोहा

"नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल॥ ११॥"
बाँचत नृप दोहा बिहँसि रानी-रूप निहारि।
उठि आए कढ़ि द्वार द्विज दई असीस बिचारि॥ १२॥
किय प्रनाम नृप कहि कुसल सुकबि कही भइ आज।
रीझि कह्यौ दोहा कियौ तुम यह, कह महराज॥ १३॥

दै मोहरैं भरि अंजुली नृप यह आयसु दीन।
प्रति दोहा दैहौं मोहर करु इमि और प्रवीन॥ १४॥
लै आयसु नृप कौ चल्यौ आसिख दै द्विजराज।
आयौ निज घर मोद सौं तिय सौं कह्यौ सु काज॥ १५॥
दोहा चौदह सै किए तिहिं तिय परम प्रवीन।
लै आए द्विज राज पैं दै आसिष ते दीन॥ १६॥
बाँचि मुदित नृप मोहरैं चौदह सै तिहिं दीन।
तिनमैं राखे सात सै चुनि सतसैया कीन॥ १७॥
बहुत लिखाईं पुस्तकैं दईं प्रबीननि काज।
एक बिहारी कौं दई गाँव-सहित महराज॥ १८॥
अमलि गाँव आए सु घर मुदित बिहारी-लाल।
दै मोहरैं सु कथा कही आनंदित भइ बाल॥ १९॥
पुस्तक लै तिय कहिय पिय छत्रसाल पहँ जाउ।
हैं बुँदेल नृप सुकबि सँग रहत बहुत कबिराउ॥ २०॥
तहँ प्रसन्नता होइ तौ बोध होइ पिय मोर।
तौ ठहरै सब जगत मैं यह सतसई सुठोर॥ २१॥
लई बिहारी सतसई छत्रसाल पहँ जाइ।
करि जाहिर कह सुद्ध इहिं कीजै कृपा बढ़ाइ॥ २२॥
छत्रसाल नृप ताहि लै सँग सब सुकबि बिसाल।
प्राननाथ पहँ जाइ कै दई सतसई हाल॥ २३॥
प्राननाथ निरगुन-भगत कह प्रसन्नता-हीन।
जग माँ बितरति फाग सी ब्रीड़ा व्यंजक कीन॥ २४॥
लई बिहारी सतसई सो सुनि भए उदास।
बिदा न माँगी भूप सौं आए अपने बास॥ २५॥
सकल कथा तिय सौं कही सुनि प्रबोध तिहिं कीन।
जाहु कंत इहिं फेरि लै उतहीं कह्यौ प्रबीन॥ २६॥
कहियौ नृप छतसाल सौं ये हैं जग-पितु-मात।
जुगलकिसोर इहाँ लसैं पन्ना मैं अवदात॥ २७॥

प्राननाथ-कृत काव्य अरु या सतसैया लेहु।
आगैं जुगुलकिसोर के बिनती करि धरि देहु ॥ २८ ॥
निसि न रहै कोऊ लखै प्रात खोलि पट देइ।
जापैं दसकत होहिं हित नीकी नीकी सोइ ॥ २९ ॥
लै तिय कौ उपदेस फिरि जाइ बिहारीलाल।
नृप सौं कहि सोई कियौ घरनी-सीख बिसाल ॥ ३० ॥
सतसैया हीं मैं भए दसकत प्रिया-बिहार।
प्राननाथ प्रिय किय (?) लखत भूप सहित कवि यार (?) ॥ ३१ ॥
सुकबि बिहारी कहि सबनि नै अति कियौ बखान।
आए निज निज थल सबै पाइ उचित सनमान ॥ ३२ ॥
बिप्र बिहारी मुदित अति नृप सौं भए बिदा न।
आए घर कहि सब कथा तिय कौ कियौ बखान ॥ ३३ ॥
वहुत खोजायौ ना मिल्यौ घर गौ कबि यह जानि।
अति प्रसन्न छतसाल भो अति संतोषी मानि ॥ ३४ ॥
संपति अति भूषन सुपट हय पालकी करिंद्र।
पाँच गाँव के लिखि दिए दान पत्र नृप-इंद्र ॥ ३५ ॥
छत्रसाल पत्री लिखी सुकबि बिहारीलाल।
ये लै आयौ करि कृपा मोपै परम दयाल ॥ ३६ ॥
गए लोग लै जहँ बसैं बिप्र बिहारी बेस।
दिय पत्री अरु या कह्यौ पठयौ हमैं नरेस ॥ ३७ ॥
बाँचि बिहारी पत्रिका दिय निज तिय कौं जाइ।
बाँचि न लिय कछु नृपति कौं दोहा लिख्यौ बनाइ ॥ ३८ ॥

बिहारी-तियकृत जवाब दोहा—

"तौ अनेक औगुन-भरी चाहै याहि बलाइ।
जौ पति संपति-हूँ-बिना जदुपति राखे जाइ ॥ ३९ ॥"
प्राननाथ पत्री लिखी हुती बुलैबे काज।
बाँचि तिन्है दोहा लिख्यौ साजि गरब-हर साज ॥ ४० ॥

बिहारी-तियकृत जवाब दोहा

"दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन-काल।
प्रगटत निरगुन निकट ही चंग-रंग गोपाल ॥" ४१ ॥
दोउ दोहा सब-वस्तु-युत छत्रसाल के लोग।
आइ दिए दोहा दुवौ वस्तु कह्यौ कवि जोग ॥ ४२ ॥
दोऊ दोहा बाँचि कै प्राननाथ छतसाल।
बस्तु फिरी कायल भए कवि-गुन कहे बिसाल ॥ ४३ ॥
कथा सुनी जैसाहि सब सुकबि-बिहारी-काज।
ग्राम बहुत दै सब दियौ राजसिरी कौ साज ॥ ४४ ॥
करी बिहारी की तिया पतिव्रता सुप्रबीन।
करी बिहारी सतसई जग जाहिर यह कीन ॥ ४५ ॥
राधा हरि जु कृपा करैं तौ मानैं सब कोइ।
सतिय-बिहारी-सतसई सबै बखानैं लोइ ॥ ४६ ॥

इन दोहों में दो बातें कही गई हैं—एक तो सतसई का बिहारी की स्त्री का रचित होना, और दूसरी बिहारी का छत्रशाल बुँदेले के यहाँ जाना और प्राणनाथजी से भेट करना। ये दोनों बातें टीकाकार ठाकुर कवि की शुद्ध कपोल कल्पना मात्र प्रतीत होती हैं। अनुमान होता है कि बिहारी की स्त्री के द्वारा रचे जाने की कहानी तो उक्त टीकाकार ने दो एक प्रसिद्ध संस्कृत कवियों के विषय में कुछ ऐसी ही दंतकथाएँ सुनकर गढ़ ली, और श्री युगुलकिशोर जी के मंदिर में सतसई के रक्खे जाने तथा उस पर हस्ताक्षर होने की बात प्रसिद्ध कवि श्री जयदेव जी के गीतगोविंद की ऐसी ही किंवदंती के अनुसार बना ली। लाल कवि कृत 'छत्रप्रकाश' से स्पष्ट विदित होता है कि बुँदेलखंडवाले छत्रशाल का जन्म संवत् १७०६ में हुआ था, और उसने अपना युद्धकर्म सं० १७२८ से आरंभ किया था, यथा—

संवत सत्रह सै लिखे आठ आगरे बीस।
लगत बरष बाईसईं उमड़ि चल्यौ अवनीस ॥
(छत्रप्रकाश अध्याय १२, दोहा ४)

अतः संवत् १७२८ के पूर्व तो बिहारी का छत्रशाल के यहाँ जाना असंभव ही है। इसके अतिरिक्त 'बुँदेलखंड केसरी' नामक छत्रशाल के इतिहास से श्री प्राणनाथ जी के छत्रशाल से मिलने का समय संवत् १७४० के आसपास ज्ञात होता है। अतः श्री युगुल-किशोर जी के मंदिरवाली सतसई की घटना का संवत् १७४० के पश्चात् होना संभव हो सकता है। पर यदि बिहारी का जन्म संवत् १६५२ अथवा ५४ माना जाय, तो उनकी अवस्था छत्रशाल से मिलते समय अनुमानतः ९० वर्ष की ठहरती है। इस अवस्था तक बिहारी का जीवित रहना तो यद्यपि असंभव नहीं है तथापि उनका इस अवस्था में केवल सतसई की जाँच कराने के निमित्त मथुरा से दो दो बार पन्ना आना जाना, उस समय की सड़कों तथा यात्रा की अन्य कठिनाइयों पर ध्यान करके, दुस्तर अवश्य जँचता है। इसके अतिरिक्त ऊपर दिए हुए 'बिहारी-बिहार' नामक निबंध में उनका संसारत्याग का समय संवत् १७२१ दिया है, जिसको तिथि तथा वार का मिलान न होने के अतिरिक्त कोई अन्य कारण मिथ्या ठह-राने का नहीं प्रतीत होता। तिथि और वार में मिलान न होने का कारण यह है कि, उक्त निबंध किसी ने कदाचित् बिहारी का वृत्तांत कहीं सुनकर लिखा, जैसा कि ऊपर कहा गया है, जिस वृत्तांत की मुख्य मुख्य बातें तो उसे स्मरण रहीं, पर तिथि तथा वार का ठीक ठीक स्मरण रखना बड़ा कठिन कार्य है, अतः उसके लिखने में उसे प्रमाद हो गया।

यह अनुमान होता है कि 'देवकीनंदन टीका' ही में सतसई पर श्री युगुलकिशोर जी के हस्ताक्षर होने की कहानी देखकर स्वर्गवासी साहित्याचार्य श्री पं० अंबिकादत्त व्यास जी ने भी उसको अपने बिहारी-बिहार की भूमिका में स्थान प्रदान कर दिया, और छत्रशाल के मरने का संवत् धोखा खाकर १७१५ लिख दिया। वस्तुतः बात यह है कि उस समय थोड़े ही दिनों के अंतराल में छत्रशाल नाम के दो राजा हुए—एक तो बूँदी के हाड़ा थे, जो दारा शिकोह

की लड़ाई में सं० १७१५ में मारे गए, और दूसरे बुँदेलखंड के बुँदेला थे, जो कि उक्त लड़ाई के समय ८-९ वर्ष के थे। इन्हीं दोनों के विषय में भूषण कवि के ये दोहे प्रसिद्ध हैं—

इक हाड़ा बूँदी-धनी मरद महेबा-वाल।
सालैं औरँगजेब के ए दोऊ छतसाल॥
ए देखे छत्ता पता वे देखे छतसाल।
ए दिल्ली की ढाल वे दिल्ली-ढाहनवाल॥

इन्हीं दोनों राजाओं के नामों की गड़बड़ से व्यास जी ने बूँदी-वाले छत्रशाल की मृत्यु का समय पन्नावाले छत्रशाल की मृत्यु का समय समझ लिया।

व्यास जी ने बिहारी के किसी सगोत्र श्री मथुराप्रसाद जी चतुर्वेदी से, जो कि उस समय भागलपुर में रहते थे, कुछ बातें बिहारी के विषय की ज्ञात करके अपनी भूमिका में लिखी हैं। उनमें से ये बातें नई हैं—

बिहारी धौम्यगोत्री थे, और उनके तीन प्रवरों के नाम कश्यप, अत्रि, और सारण्य थे। उनकी कुलदेवी महाविद्या थीं, और उनके पितामह का नाम राय था। उनका वंश मैनपुरी का बसनेवाला था, पर बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था, और उनके पिता कुछ दिन बुँदेलखंड में रहे थे। जयशाह ने बिहारी को 'बसुवा गोविंदपुरा' नामक ग्राम भी दिया था, जिसमें वे बहुत दिन तक रहे, और उनके वंशज अब तक वहाँ रहते हैं। बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ था, जिससे बिहारी भी मथुरा ही में आ बसे। व्यास जी ने बिहारी का मथुरा में महाराज जसवंतसिंह से मिलना भी लिखा है।

बिहारी के पितामह का नाम जो व्यासजी ने राय लिखा है वह कम जँचता है, क्योंकि केवल राय नाम किसी का सुनने में नहीं आया है। इसके अतिरिक्त दोहेवाले निबंध में बिहारी के पितामह का नाम स्पष्ट रूप से 'वसुदेव' लिखा है। महाराज जसवंतसिंह से भेट होनेवाली आख्यायिका में कोई असंगति नहीं प्रतीत होती, प्रत्युत वह ठीक जान पड़ती है। कुलपति मिश्र जी के एक

वंशज पं० बद्रीप्रसाद जी से, जो कि अभी तक वर्तमान हैं, ज्ञात हुआ कि 'गोविंदपुरा' नामक ग्राम बिहारी को नहीं, प्रत्युत कुलपति मिश्र जी को, जयपुर से मिला था, जो कि अभी तक उनके वंशजों के पास है, और बिहारी के एक वंशज, अमरकृष्ण जी से विदित हुआ है कि बिहारी को जयपुर से 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम मिला था, जो कि 'गोविंदपुरा' के निकट ही है।

लाल चंद्रिका में बिहारी के विषय में कोई नई बात नहीं मिलती। केवल 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' इत्यादि दोहेवाली आख्यायिका ही पाई जाती है। स्मरण रहे कि यह आख्यायिका कई टीकाओं इत्यादि में प्राप्त होती है, पर सबमें कुछ न कुछ भेद से लिखी है।

पुस्तकों में तो बिहारी के विषय में उतनी ही बातें मिलती हैं जो ऊपर लिखी गई हैं, पर उनके अतिरिक्त कुछ स्फुट बातें भिन्न भिन्न कथाओं द्वारा तथा किंवदंतियों से ज्ञात हुई हैं, जो नीचे लिखी जाती हैं।

श्रीयुत पं० हरिनारायण जी बी० ए०, अफसर ड्योढ़ी, जयपुर, (जो कि इतिहास के बड़े प्रेमी तथा जानकार हैं) के एक पत्र से, जो उन्होंने हमारे मित्र श्री श्यामसुंदरदास जी के कतिपय प्रश्नों के उत्तर में, तारीख २६ मई सन् १९१९ ई० को, लिखा था, ये बातें ज्ञात होती हैं कि, मिर्जा राजा जयशाह का जन्म आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा संवत् १६६८ का था, राजगद्दी पर वे फाल्गुन शुक्ल ४ संवत् १६७८ को बिराजे, और आश्विन कृष्ण ५ संवत् १७२४ को उनका देवलोक हुआ। उनके ६ रानियाँ थीं, उनमें से एक चौहानी रानी थीं जिनके गर्भ से संवत् १६९२ में, भादों बदी ५ को, महाराज जयसिंह जी के उत्तराधिकारी कुँवर रामसिंह जी का जन्म हुआ। महाराज जयसिंह के दूसरे बेटे कीर्तिसिंह जी थे, जो कामा के राजा हुए। रामसिंह जी ने सं० १७२४ से सं० १७४६ तक राज्य किया। ये बड़े विद्वान् तथा वीर थे। इनको कवियों तथा पंडितों से बड़ा प्रेम रहता था। बिहारीदास जी, सतसई के कर्त्ता, प्रथम इनकी माता चौहानी जी की सरकार में थे, और फिर महाराज के भी कृपापात्र

हो गए थे। रामसिंह जी ने काव्य की बहुत सी बातें बिहारी जी से आमेर में सीखी थीं। उनके पास अन्य भी कई कवि थे। कुलपति मिश्र जी श्री जगन्नाथ पंडितराज जी के शिष्य थे, और उन्होंने अपने गुरु ही की भाँति ५२ ग्रंथ रचे। वे संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उनके वंशज जयपुर में जागीर खाते हैं।

उक्त पत्र में यह भी लिखा है—"इन दिनों पंडित रामनाथ विद्याभूषण, अयोध्या के महाराज के भेजे यहाँ आए हैं, और बिहारी की सतसई की कई एक प्रतियाँ उनको विश्वस्त स्थलों से मिल गई हैं। एक टीका सतसई की नवीन उनको मिली है, और बिहारी का विशेष वृत्तांत भी वे संग्रह कर रहे हैं।"

कुलपति मिश्र जी के एक वंशज, श्री पंडित बद्रीप्रसाद जी चतुर्वेदी, ने, जो कि इस समय विद्यमान हैं, एक पत्र तारीख २७ जनवरी सन् १९२५ को हमारे विद्याभूषण पं० रामनाथजी को बाँदीकुई से भेजा था, जिससे यह विदित होता है कि, बिहारी चतुर्वेदी ब्राह्मण तथा कुलपति मिश्रजी के मामा थे।

मथुरा-निवासी श्रीयुत पं० नवनीत जी चतुर्वेदी की एक चिट्ठी से, जो उन्होंने अधिक श्रावण शुक्ल ८ संवत् १९७७ को हमें लिखी थी, ज्ञात होता है कि बिहारी के वंशज बालकृष्ण जी कवि बूँदी में थे, और उनके पौत्र वहाँ विद्यमान हैं। पं० बालकृष्ण जी घरबारी चौबे थे। उनकी वंशावली यह है—
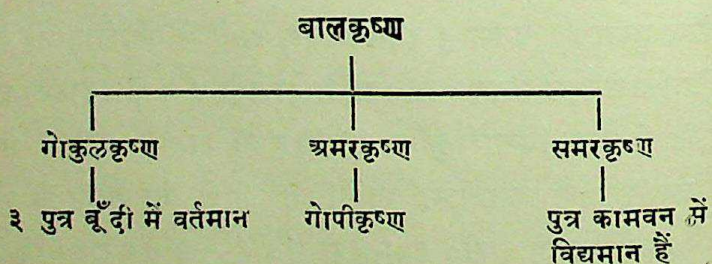
हमारे विद्याभूषण पं० रामनाथ जी ज्योतिषी से जयपुर में बिहारी के वंशज पं० अमरकृष्ण जी से भेंट हुई थी; उनसे उनको ये बातें विदित हुईं—

बिहारी घरबारी चौबे, धौम्यस गोत्र, आश्वलायन शाखा तथा त्रिप्रवर थे। उनके पिता का नाम केशवराय था, और उनकी कुलदेवी महाविद्या थीं। बिहारीजी दो भाई थे। उनको स्वयं कोई संतान नहीं थी, अत: उन्होंने अपने भतीजे 'निरंजन' जी को अपना पुत्र मान रक्खा था। उन्हीं से उनकी वंश-परंपरा चली है। बिहारी जी ब्रह्मपुरी में रहते थे। पं० अमरकृष्ण जी के पिता पं० बालकृष्ण जी देशाटन करते बूँदी में पहुँचे; वहाँ राजा ने उनको सन्मानपूर्वक रख लिया। बूँदी के प्रधान कवि चारण सूर्य-मल्ल जी ने 'वंशभास्कर' नामक ग्रंथ में यों लिखा है—

कवि विप्र बिहारी वंश-जात। कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात॥

आमेर राज्य से 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम बिहारी को जीविका में मिला था, जो 'गोविंदपुरा' के पास है। पं० बालकृष्ण जी ने बिहारी के वंशजों की नामावली एक छंद में लिखी है, वह यह है—

प्रथम बिहारीदास (१) प्रकट जिन सप्तसती कृत।
तनय निरंजन (२) तासु भयौ विख्यात सुद्धमत॥
तिनके गोकुलदास (३) तनय तिन खेमकरन (४) भनि।
दयाराम (५) सुत तासु भयौ तिनके भानिक-मनि (६)॥
पुनि भे गनेस (७) तिनके तनय बालकृष्ण (८) तिनके भयौ।
गुन-निपुन चतुर-जन-माल-मनि कविता-तिय-नायक कह्यौ॥

यह वंशावली उन्होंने सोरों घाट के एक पंडा की वही में नाम देखकर बनाई है*। पं० बालकृष्ण जी के ३ पुत्रों में से गोकुलकृष्णजी दीग में, भरतपुर से ९ कोस पर, रहते हैं।

* हमने सोरों घाट पर बिहारी के वंश के पंडों का अनुसंधान किया, पर पता नहीं चला। ज्ञात हुआ कि उनके पंडों के वंश में केवल एक विधवा स्त्री शेष है जो अपना बही खाता इत्यादि लेकर कहीं अन्यत्र चली गई है।

स्वर्गवासी पूजनीय श्रीराधाचरण जी गोस्वामी ने २०-१-१८८६ के 'भारतेंदु' नामक मासिकपत्र में बिहारी को भाट बतलाया है। उक्त विषय में उनका यह लेख है—

"बिहारी कवि, ब्रजभाषा की ससुराल मथुरा पुरी के बासी थे। इसी से इनकी भाषा मधुर से मधुरतर है। यह जाति के राय थे, और इनके पिता का नाम केशवराय था जैसा उन्हीं के दोहे से स्पष्ट है।

"जनम लियौ मथुरा नगर सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरो कलेस सब केसव केसवराय॥"

इसमें केसव राय पद से यही बोध होता है कि उनके पिता राय थे। यदि केसव राय शब्द से मथुरा के प्रधान देवता केशवदेव जी का अभिप्राय होता तो देव शब्द होता न कि राय। यदि कोई पाठान्तर(लाल चंद्रिका का यही मत है)'जनम लियौ द्विजकुल विषै' से बिहारी को ब्राह्मण माने तो संदेहास्पद है, क्योंकि ब्राह्मण कुल के लिये केवल द्विज शब्द अनर्ह है। 'द्विजराज' 'भूसुर' 'भूमिसुर' 'विप्र' आदि लिखते हैं"।

पर उक्त गोस्वामीजी का यह अनुमान सर्वथा असंगत है, क्योंकि प्रथम तो 'राय' शब्द ब्राह्मणों के नामों में भी आता है, जैसे, कल्याण-राय इत्यादि, और प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी ने भी अपनी कविता में कहीं कहीं 'केशवराय' छाप रक्खी है, और दूसरे गोस्वामी जी ने 'प्रगट भए दुजराज-कुल सुबस बसे ब्रज आइ। मेरे हरौ कलेस सब केसव केसव राइ॥ १०१॥' का पाठ सर्वथा मन माना लिख दिया है। बिहारी की जाति इत्यादि के विषय में जो प्रमाण ऊपर लिखे गए हैं, उनसे अब कोई संशय उनके माथुर ब्राह्मण होने में नहीं रह जाता।

हमारे विद्याभूषण पं० रामनाथ जी ने जयपुर में जो बिहारी-विषयक अनुसंधान किया उससे ऊपर लिखी हुई बातों के अतिरिक्त इतनी बातें और भिन्न भिन्न लोगों तथा प्रकारों से ज्ञात हुई हैं—

(१) महाराज जयसिंह की चौहानी रानी का नाम अनतकुँवरि था, और वे करौली के एक सरदार श्यामदास जी की बेटी थीं।

(२) सुंदर, गोपाललाल, मुकुंद, चतुरलाल, मंडन, गंग, बिहारी के समकालीन कवि थे। यह बात हमारे प्रथम अंक की सतसई की प्रति में जो कुछ दोहे इत्यादि दिये हैं उनसे भी प्रतीत होती है।

(३) बिहारी पुरानी बस्ती ब्रह्मपुरी में रहते थे, और कुलपति मिश्र गंगापौल में, जो ब्रह्मपुरी के पास ही है। ये दोनों बस्तियाँ आमेर में राजधानी के रहने के समय ही से हैं। कुलपति मिश्र जी के एक वंशज पं० प्यारेलाल जी कवि अभी तक गंगापौल में रहते हैं।

(४) वर्तमान जयपुर के पास एक बड़ा कूप है, जो अब रामबाग में पड़ गया है। इस कुएँ का पानी बहुत अच्छा है, और जयपुर की सैकड़ों स्त्रियाँ अब भी उस पर साँझ सवेरे जल भरने आती हैं। यह ब्रह्मपुरी से भी बहुत समीप है। सुना गया है कि बिहारी वहाँ प्रायः आते थे, और स्त्रियों के हाव भाव अवलोकन करके अपनी कविता बनाते थे।

(५) कुँ० रामसिंह जी के जन्म-समय में महाराज जयसिंह ने ब्राह्मणों, कवियों तथा नेगियों को बहुत दान दिया था। गंग इत्यादि कवियों ने उक्त अवसर पर कविताएँ भी बनाई थीं—

गंग—रविकुल दसरथ कौसिला जैसिंह अनत-कुमारि।
जनम्यौ गंग प्रकास लौं रामकुँवर सुखकारि॥

चतुरलाल—चतुर लाल कौ जनम लखि दीन्ह्यौ लाल लुटाइ।
चतुरलाल पायौ विसद चतुर लाल करि-राइ॥

सुंदर—सुंदर सुंदर-अंग जनम्यौ सुत जयसाहि कैं।
राम, राम-सम-अंग सुंदर जग-पावन-करन॥

बिहारी—चलत पाइ निगुनी गुनी धन मनि मुत्तिय-माल।
भेट भएँ जयसाहि सौं भाग चाहियतु भाल॥

(६) बिहारी जी जयपुर से उदास होकर जोधपुर इत्यादि भी गए थे।

(७) बिहारी की स्त्री भी पंडिता थी, उसके मरने पर ये संसार से विरक्त हो गए थे।

(८) कुँवर रामसिंह जी ने बिहारी से नागरी अक्षर सीखे थे।

(९) गंग और बिहारी से अधिक प्रेम था, जैसा कि इन दोहों से विदित होता है—

एक-बयस एकै नृपति एक-जाति* इक-बास।
भए गंग अब अंत मैं विषम काल-परकास॥
सुचि सिँगार मैं बूड़ि कै भए बिहारी दास।
जग तैं फिरत उदास अब सुकबि बिहारीदास॥
अंग-अंग फरकत जकत जैसैं गंग-तरंग।
संग बिहारी के सदा मानहुँ फिरत-त्रिभंग॥
सुंदर सुंदर काव्य मैं कही अलौकिक बात।
चतुरलाल की चतुरता भई जगत विख्यात॥
चलौ गंग निज अंग सब धोवौ गंग-तरंग।
जगत-जंग कौं जीति अब घूमौ नंग-धड़ंग॥
भए बिहारी जमुन-जल चलौ गंग अब धाइ।
प्रीति त्रिबेनी ह्वै मिलौ अंग-अंग लपटाइ॥

(१०) बिहारी का चित्र भी चौहानी रानी ने बनवाया था।

(११) बिहारी का शरीरपात मथुरा इत्यादि किसी तीर्थ में हुआ।

(१२) बिहारी की कविता का आदर मुसल्मान बादशाहों ने भी किया था।

(१३) मंडन तथा कुलपति मिश्र के विषय में यह दोहा जयपुर में प्रसिद्ध है—

मंडन मंडन कै जगत अब खंडन करि दीन।
कुलपति कुल उजियार करि भए स्याम रंग-लीन॥

---

* इस दोहे से गंग और बिहारी का सजातीय होना प्रमाणित होता है और उनके समवयस्क होने से वे प्रसिद्ध कवि गंग के अतिरिक्त कोई कवि प्रतीत होते हैं।

(१४) 'घर घर तुरकिनि हिन्दुनी' इत्यादि दोहे पर चौहानी रानी ने बिहारी को काली पहाड़ी नामक ग्राम दिया था।

(१५) जब बिहारी के दोहे के प्रभाव से महाराज जयसिंह नवोढ़ा रानी के फंद से मुक्त होकर बाहर निकल आए तो, चौहानी रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनको बहुत कुछ पारितोषिक दिया, और उस घटना का ज्यों का त्यों चित्र खिंचवाकर अपने महल में लगवा लिया। उस चित्र के निम्न भाग में वाम पार्श्व पर १६ और दक्षिण पार्श्व पर ६२ के अंक हैं, ये दोनों अंक मिलाने से १६९२ होता है, अतः यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि यह १६९२ उक्त घटना का संवत् है।

इन बातों के अतिरिक्त सतसई के दोहों से ये बातें और प्रतीत होती हैं—

(१) बिहारी श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के अनुयायी और कदाचित् श्री महात्मा नरहरिदास जी के शिष्य थे। उन्होंने अपने इस दोहे में उक्त महात्मा का स्मरण किया है—

जम-करि-मुँह-तरहरि परयौ इहिँ धरहरि चितु लाइ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि* के गुन गाबु ॥ २१ ॥

---

* श्री नरहरि देव अथवा नरहरिदास जी उक्त सम्प्रदाय के एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा संवत् १६८३ से संवत् १७४१ तक निधिवन की गद्दी पर रहे। उनके पिता का नाम विष्णुदास और माता का उत्तमा था। ये बुँदेलखंड में दसान नदी के किनारे गुढ़ौ ग्राम में रहते थे। उनका जन्म सं० १६४० में हुआ, और वे बाल्यावस्था ही से साधु-सन्तों की सेवा करने लगे और सिद्ध तथा महात्मा प्रसिद्ध हो गए। संवत् १६६५—६६ में सरसदेव जी, जो वृन्दावन में निधिवन के महन्त थे, देशाटन करते हुए बुँदेलखंड गए, और नरहरिदासजी को अपना शिष्य कर आए। संवत् १६७५ में नरहरिदास जी अपने गुरु के पास वृन्दावन चले आए; संवत् १६८३ में वे अपने गुरु की गद्दी पर बैठे, और सं० १७४१ तक, १०१ वर्ष की आयु तक, विद्यमान रहे।

(निज मत सिद्धान्त)

सतसई के कई दोहों से प्रतीत होता है कि बिहारी का लड़कपन बुँदेलखंड में व्यतीत हुआ, और भाषा के प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी से उनका कोई न कोई संबंध अवश्य था।

श्रीयुत पं० प्रभुदयाल जी पाँड़े, साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त जी व्यास, विद्वद्वर मिश्रबंधु महाशयों, श्री लाला भगवानदीन जी एवं अन्यान्य कई विद्वानों ने सतसई में लखिबी, देखिबी, गनिबी, स्यौं, प्यौसार इत्यादि शब्दों के प्रयोग से बिहारी का लड़कपन में बुँदेलखंड में रहना अनुमानित किया है, और सामान्य कारक के बहुवचन का उकारांत प्रयोग, जैसे—दृगनु, पायनु, बातनु इत्यादि भी बुँदेलखंडी ही है। यद्यपि ऐसे कतिपय प्रयोगों से किसी का बुँदेलखंड में रहना पूर्णतया तो प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे प्रयोग साहित्यिक व्रजभाषा में प्रचलित हो गए हैं, और न्यूनाधिक व्रजभाषा के प्रायः सभी कवियों ने इनका व्यवहार किया है, तथापि ऐसे ही ऐसे कई एक अनुमान मिलकर एक दूसरे को पुष्ट करने का काम अवश्य देते तथा उक्त बात को प्रमाणित करते हैं।

प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी से बिहारी का कोई न कोई संबंध होना तथा उनके कविप्रियादि ग्रंथों का बिहारी का पढ़ना, निम्नलिखित बिहारी के दोहों तथा श्री केशवदास जी के छन्दों के मिलान से, स्पष्ट लक्षित होता है--

(१) नैंकु हँसौंहीं बानि तजि लख्यौ परतु मुँहु नीठि।
चौका-चमकनि-चौंध मैं परति चौंधि सी डीठि॥
(बिहारीरत्नाकर—१००*)

तैसीयै जगति जोति सीस सीसफूलनि की,
चिलकत तिलक तरुनि तेरे भाल कौ।
तैसीयै दसन-दुति दमकति केसौदास,
तैसोई लसत लाल कंठ कंठमाल कौ॥

---

* इस लेख में बिहारी के जितने दोहे उद्धृत किए गए हैं उनकी संख्या तथा पाठ बिहारीरत्नाकर के अनुसार है।

तैसीयै चमक चारु चिबुक कपोलनि की,
तैसो चमकत नाक-मोती चल चाल कौ।
हरैं हरैं हँसि नैंकु चतुर चपल-नैनी,
चित चकचौंधै मेरे मदनगुपाल कौ ॥ १३ ॥

(रसिकप्रिया—१४ वाँ प्रकाश)

(२) उर मानिक की उरबसी डटत घटतु दृग-दागु।
छलकतु बाहिर भरि मनौ तिय-हिय कौ अनुरागु ॥

(बिहारीरत्नाकर—३३९)

सोहत है उर मैं मनि यौं जनु। जानकी कौ अनुरागि रह्यौ मनु ॥
सोहत जन-रत राम-उर देखत तिनकौ भाग।
आइ गयौ ऊपर मनौ अंतर कौ अनुराग ॥ ५५ ॥

(रामचंद्रिका—६ठा प्रकाश)

(३) वे ठाढ़े, उमदाहु उत, जल न बुझै बड़वागि।
जाही सौं लाग्यौ हियौ, ताही कैं हिय लागि ॥

(बिहारीरत्नाकर—३८२)

मेरौ मुँह चूमे तेरी पूजी साध चूमिबे की,
चाटे ओस, आँसु क्यौं सिरात प्यास डाढ़े हैं।
छोटे कर मेरे कहा छावति छबीली छाती,
छावैा जाके छाइबे के अभिलाष बाढ़े हैं ॥
खेलन जो आई हौ तौ खेलौ जैसे खेलियत,
'केसौराय' की सौं तैं ये कौन खेल काढ़े हैं।
फूलि फूलि भेटति है मोहिं कहा मेरी भटू,
भेटै कि न जाइ वे जु भेटिबे कौं ठाढ़े हैं ॥ १० ॥

(रसिकप्रिया—५वाँ प्रकाश)

(४) चिरजीबौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥

(बिहारीरत्नाकर—६७७)

अनगने औठपाय रावरे गने न जाहिं,
वेऊ आहिं तमकि करैया अति मान की।
तुम जोई सोई कहौ वेऊ जोई सोई सुनैं,
तुम जीभ पातरे वे पातरी हैं कान की॥
कैसे 'केसौराय' काहि बरजौं मनाऊँ काहि,
आपने सयाँधौं कौन सुनत सयान की।
कोऊ बड़वानल की ह्वै है सोई ऐहै बीच,
तुम बासुदेव वे हैं बेटी बृषभान की॥

(५) तिय मुख लखि हीराजरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ बिधु पूरन बुधु गोद॥
(बिहारीरत्नाकर—७०७)

केसौदास सकल सुबास कौ निवास सखि,
किधौं अरबिंद मधि बिंदु मकरंद कौ।
किधौं चंद्र-मंडल मैं सोभित असुर-गुरु,
किधौं गोद, चंद जू के खेलै सुत चंद कौ॥
बाढ़ै रूप, काम गुन दिन दूनौ होत किधौं—
चंद फूल सूँघत है आनँद के कंद कौ।
नाक-नाइकानि हूँ तैं नीकौ नकमोती नाक,
मानौ मन उरझि रह्यौ है नँद-नंद कौ॥
(कविप्रिया—१५ वाँ प्रकाश)

(१) ऊपर लिखे हुए पहले दोहे का भाव केशवदास जी के 'तैसीयै जगति' इत्यादि कवित्त के चतुर्थ चरण से सर्वथा मिलता है। भाव ही नहीं, प्रत्युत कवित्त का 'चक चौंधै' तथा दोहा का 'परति चौंध' शब्द भी एक ही हैं, और 'हरैं हरैं हँसि' तथा 'नैंकु हसौंहीं बानि तजि' के अर्थों में भी साम्य है।

(२) बिहारी के 'उर मानिक की उरबसी' इत्यादि दोहे का भाव, और केशवदास की रामचंद्रिका के 'सोहत जनरत रामउर' इत्यादि

दोहे का भाव ही एक नहीं है, प्रत्युत उनके बनावट तथा शब्दों में भी स्पष्ट साम्य है। 'उर' शब्द दोनों ही दोहों में आया है। बिहारी की 'उरबसी' तथा केशव की 'मनि' से एक ही पदार्थ अभिप्रेत है, यद्यपि बिहारी ने उसको मानिक की कहकर, उसका रंग खोल दिया है, और केशवदास में इसकी न्यूनता रह गई है। 'डटत घटतु दृग-दागु' तथा 'देखत तिनकौ भाग' वाक्यांशों का वाच्यार्थ भी मिलता है, यद्यपि बिहारी का 'घटतु' शब्द लाक्षणिक है, जिसका अर्थ बढ़तु हो जाता है। बिहारी के 'छलकतु बाहिर भरि मनौ' तथा 'हिय को अनुराग' वाक्यांशों तथा केशव के 'आइ गयौ ऊपर मनौ' तथा 'अंतर कौ अनुरागु' व्याक्यांशों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। केशव के दोहे में अंतर के अनुरागु के ऊपर आ जाने का कोई कारण नहीं कहा है, पर बिहारी ने इस न्यूनता को 'छलकतु' तथा 'भरि' शब्दों से मिटा दिया है। वस्तुतः दोनों दोहे एक ही हैं, केवल भेद दोनों कवियों की निपुणता का है।

(३) 'वे ठाढ़े उमदाहु' इत्यादि दोहा 'मेरौ मुँह चूमे' इत्यादि कवित्त ही का विशेष प्रकार से एक खरादा तथा ओप दिया हुआ रूपांतर मात्र है। कवित्त का 'जु भेटिबे को ठाढ़े हैं' तथा दोहे का 'वे ठाढ़े' एक ही हैं; 'भेटे किन जाइ वे' तथा 'ताही के हिय लागि' भी एक ही हैं। 'चाटे ओस आँसु क्यौं सिरात प्यास डाढ़े हैं' तथा 'जल न बुझै बड़वागि' ये दोनों ही लोकोक्तियाँ हैं। पर 'ओस चाटे से प्यास नहीं मिटती' यह लोकोक्ति ऐसे अवसर पर लागू होती है, जब अधिक वस्तु की अपेक्षा हो पर मिले कम। ऐसे अवसर पर यह विशेष चरितार्थ नहीं होती, जब आवश्यकता अन्य प्रकार की वस्तु की हो, और मिले अन्य प्रकार की वस्तु। कवित्त में जो अवसर कहा गया है उसमें न्यूनाधिक्य का विचार प्रस्तुत नहीं है, प्रत्युत प्रकारांतर की बात है। अतः बिहारी ने कवित्त की लोकोक्ति बदलकर 'जल न बुझै बड़वागि' रखना उचित समझा, कामतृषा के बदले कामाग्नि का बुझना कहा पर वस्तुतः भाव एक ही है।

'फूलि फूलि भेटति हौ मोहिँ कहा' तथा 'उमदाहु उत' एक ही भाव वाचक हैँ।

(४)'अनगने औठपाय' इत्यादि कवित्त में सखी श्रीकृष्णचंद्र जी तथा श्रीराधिका जी दोनों के स्वभावों की तमतमाहट तथा दीप्ति व्यंजित करने के निमित्त एक को 'वासुदेव' अर्थात् वसुदेव (१—श्रीकृष्णचंद्र के पिता, २—अग्निदेव) के पुत्र तथा दूसरे को वृषभानु (१—श्री राधिका जी के पिता, २—वृष के सूर्य, जो कि बड़े प्रचंड होते हैं) की पुत्री कहती है। इन श्लिष्ट शब्दों से एक तो वह दोनों का बड़े बाप की संतान होना कहती है, और दूसरे अपने अपने पिता अर्थात् अग्निदेव तथा वृष के सूर्य की प्रकृतियों के अनुसार जाज्वल्यमान प्रकृतिवाले होना व्यंजित करती है। 'कोऊ बड़वानल की ह्वै है सोई ऐहै बीच' कहकर वह किंचित् हँसा देने का उद्योग भी करती है। प्रतीत होता है कि बिहारी ने इसी कवित्त को देखकर, पर ठीक उन्हीं शब्दों का प्रयोग करना उचित न समझकर श्री राधिका जी तथा श्री कृष्णचंद्र जी को सखी द्वारा 'वृषभानुजा' तथा 'हलधर के बीर' कहलाया है। बिहारी का संतोष केवल दोनों को बड़े बाप की संतान तथा उग्रप्रकृति कहलाकर न हुआ। उन्होंने सखी के वाक्य द्वारा यह भी व्यंजित करना उचित समझा, कि इस प्रकार बात बात में चिढ़ना चिढ़ाना मनुष्यता नहीं, पशुत्व है। दोनों ही कविता मानमोचन के उद्योग की हैं, और दोनों ही में नायक तथा नायिका के स्वभाव उग्र दिखलाए गए हैं। केशवदास का केवल एक पाद का उत्तरार्ध श्लेषात्मक है, और उसमें दो अर्थ निकलते हैं, पर बिहारी का पूरा दोहा श्लिष्ट है, और वह तीन अर्थ देता है, जिनके निमित्त उक्त दोहे की टीका 'बिहारीरत्नाकर' में द्रष्टव्य है।

(५) 'तिय मुख लखि हीरा जरी' इत्यादि दोहे में, बिहारी ने हीरे पर बुध ग्रह की उत्प्रेक्षा की है, जिससे उनका बुध के रंग को श्वेत मानना विदित होता है, यद्यपि अन्य कवियों ने प्रायः उसका रंग हरित माना है। अतः यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि

बिहारी ने केशव के 'केसौदास सकल सुवास कौ निवास' इत्यादि कवित्त में बुध का श्वेत वर्णन देखकर अपने दोहे में वही रंग कहा है। इतना ही नहीं किंतु कवित्त तथा दोहे में यह भी साम्य है कि दोनों में बुध को अपने पिता चंद्रमा की गोद ही में होने का वर्णन है, केवल भेद इतना ही है कि कवित्त में वेसर के मोती पर बुध की उत्पेक्षा की गई है, और दोहे में हीरा-जड़ी हुई बेंदी में बुध का आरोप।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से बिहारी का केशवदास के ग्रंथों का पढ़ना तो निश्चित ही प्रतीत होता है। अब रह गया इस बात पर विचार, कि इन्होंने ये ग्रंथ बुँदेलखंड में पढ़े अथवा अन्यत्र। कवि-प्रिया तथा रामचंद्रिका की समाप्ति संवत् १६५८ तक हुई थी। यदि बिहारी का २०--२५ वर्ष की अवस्था में उनका पढ़ना माना जाय, तो उस समय तक उक्त ग्रंथों को बने १५--२० वर्ष से अधिक नहीं हुए थे। उस समय न तो छापे का प्रचार था, और न यात्रा की सुविधा। इसके अतिरिक्त बुँदेलखंड में अनेक प्रकार के उपद्रव भी विद्यमान थे। ऐसी दशा में इतने थोड़े समय में किसी नवीन ग्रंथ का लिखते लिखाते ओड़छे से व्रजमंडल अथवा मैनपुरी तक पहुँचना, और उसके पठन-पाठन का वहाँ प्रचार हो जाना, यदि असंभव नहीं तो, दुस्तर अवश्य था। बस फिर बिहारी का उक्त ग्रंथों को बुँदेलखंड ही में पढ़ना विशेष संभव जान पड़ता है, विशेषतः ऐसी परिस्थिति में जब कि उनका लड़कपन में वहाँ रहना कहा सुना जाता है।

सब-अंग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रस-जुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर-राइ॥

(बिहारीरत्नाकर—२८४)

इस दोहे से बिहारी का 'प्रवीनराय' पातुरी का नृत्य देखना प्रमाणित होता है, और प्रवीनराय पातुरी का नृत्य देखना इनके लिए बिना महाराज इन्द्रजीत की सभा में गए असंभव था। उस समय राजाओं की सभा में प्रवेश पाना बिना किसी विशेष सहायता के

१५

कठिन था। अतः अनुमान होता है कि बिहारी के पिता की पहुँच प्रसिद्ध कवि केशवदास तक थी, जिनके साथ बिहारी अपनी बाल्यावस्था में महाराज इंद्रजीत की सभा में आते जाते थे।

ऊपर जो दोहाबद्ध बिहारी-विषयक निबंध नागरीप्रचारिणी पत्रिका से उद्धृत किया गया है, उसमें यह लिखा है कि, माथुर चौबे प्रायः श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के अनुयायी होते हैं, और यह बात अब भी देखने में आती है। अतः बिहारी के पिता का भो उक्त संप्रदाय का सेवक होना संगत है। उक्त प्रबन्ध में जो यह लिखा है कि, बिहारी ११ वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ वृन्दावन नागरीदास जी के पास गए उसमें लेखक का कुछ प्रमाद प्रतीत होता है। अतः यदि वृन्दावन तथा नागरीदास, गुढौ ग्राम तथा नरहरिदास के स्थान पर भूल से कहे माने जायँ, तो बिहारी के विषय में यह बात कही जा सकती है कि वे अपने पिता के साथ ११–१२ वर्ष की अवस्था में, अर्थात् संवत् १६६२–६३ में श्री नरहरिदास जी के पास गए थे, जो कि उस समय निधिवन के महंत श्री सरसदेव जी के शिष्य हो चुके थे। श्री नरहरिदास जी ने बिहारी की बुद्धि से प्रसन्न होकर उनके पिता से उन्हें वहीं रखने के लिये कहा। उनके पास अनेक पंडित कवि महात्मा रहते तथा आया जाया करते थे। बिहारी वहीं रहकर विद्याध्ययन करने लगे। श्री नरहरिदास जी बाल्यावस्था ही से महात्मा तो प्रसिद्ध हो ही चुके थे, अतः प्रतीत होता है कि ओड़छे के राजा तथा केशवदास जी भो उनके पास आते जाते थे। नरहरिदास जी के पिता से ओड़छे के राजा का व्यवहार होना 'निजमत सिद्धांत' नामक ग्रंथ से विदित भी होता है। ज्ञात होता है कि श्रो नरहरिदास जो ने केशवदास जी से बिहारी को पढ़ाने का अनुरोध करके उनके साथ कर दिया, और फिर बिहारी और उनके पिता उनके साथ रहने लगे, और केशवदासजी बिहारी की बुद्धि से प्रसन्न होकर उनको अपने पुत्रवत् मानने तथा शिक्षा देने लगे।

ऊपर कही हुई बातें यद्यपि अलग अलग तो हमारे अनुमान के निमित्त आप्त कारण नहीं मानी जा सकतीं, पर सब मिल जुलकर उक्त अनुमान को प्रमाण की श्रेणी तक पहुँचा देती हैं।

सतसई-समाप्ति के समय के विषय में प्राय: यह दोहा प्रमाण माना जाता है—

"संवत् ग्रह ससि जलधि छिति छठि तिथि बासरचंद।
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनँद-कंद॥"

पर हमारी समझ में यह दोहा सतसई की समाप्ति का न होकर कृष्णलाल वाली गद्य-टीका की समाप्ति का है। यह दोहा लालचंद्रिका तथा एक अन्य गद्य टीका को छोड़कर सतसई के अन्य किसी प्राचीन क्रम अथवा टीका में प्राप्त नहीं होता। लालचंद्रिका टीका में लल्लूजीलाल ने दोहों का आज़मशाही क्रम रक्खा है। पर आज़मशाही क्रम की हमारे पास कई एक प्रतियाँ हैं, जिनमें से प्राचीनतम संवत् १७९१, अर्थात् उक्त क्रम बाँधे जाने के १० ही वर्ष के पश्चात् की लिखी हुई है; उनमें से भी किसी में इस दोहे का दर्शन प्राप्त नहीं होता। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह दोहा लल्लूजीलाल ने स्वयं बना लिया अथवा किसी प्राचीन पुस्तक से लेकर अपनी टीका में रख दिया। स्वयं लल्लूजीलाल का बनाया तो यह दोहा नहीं है, क्योंकि हमको जिस टीका में यह मिला है, उसकी प्रति सं० १८२० की लिखी हुई है। उस समय श्री लल्लूजीलाल यदि रहे भी होंगे, तो बाल्यावस्था में। अत: यही सिद्ध होता है कि यह दोहा उन्होंने अवश्य किसी पुस्तक में देखकर अपनी टीका में रख लिया।

लालचंद्रिका में लल्लूजीलाल ने सतसई की ये सात टीकाएँ देखकर अपनी टीका बनाना लिखा है—

(१) अमरचंद्रिका, (२) अनवरचंद्रिका, (३) हरिप्रकाश टीका, (४) कृष्ण कवि की टीका कवित्तों वाली, (५) कृष्णलाल की टीका, (६) पठान की टीका कुंडलियों वाली और (७) संस्कृत टीका।

इनमें से १, २, ३, ४ तथा ७ अंकों वाली टीकाओं में तो इस दोहे का पता है नहीं, और पठान सुलतान की कुंडलियों वाली टीका में भी इसकी विशेष सम्भावना नहीं है। अतः यही निर्धारित होता है कि यह दोहा लल्लूजीलाल को कृष्णलाल की गद्य टीका में मिला, जिसको उन्होंने बिहारी का दोहा समझकर अपनी टीका में संगृहीत कर लिया। हमको एक गद्य टीका श्रीयुत पं० हनुमान जी शर्मा जयपुर-निवासी के द्वारा मिली है। उसके आद्यन्त में टीकाकार का नाम नहीं मिलता। पर उसके अंत में यह दोहा है, जिससे अनुमान होता है कि यही टीका कृष्णलाल वाली टीका है। इस टीका की भाषा भी पुराने ढंग की है, जिससे उक्त अनुमान और भी पुष्ट होता है। ज्ञात होता है कि लल्लूजीलाल को जो प्रति इस टीका की प्राप्त हुई थी, उसमें टीकाकार का नाम विद्यमान रहा होगा।

कृष्णलाल कवि की टीका का समय सं० १७१९ होना इस बात से भी अनुमानित होता है कि 'शिवसिंह सरोज' में एक प्राचीन कृष्ण कवि का नाम पाया जाता है, और उनका यह कवित्त भी उद्धृत किया हुआ है—

> काँपत अमर खलभल मचै ध्रुवलोक,
> उड़गन-पति अति संकनि सकात हैं।
> देस के दिनेस के गनेस सब काँपत हैं,
> सेस के सहस फन फैलि फैलि जात हैं॥
> आसन डिगत पाकसासन सु 'कृष्ण' कबि,
> हालि उठैं दुग्ग बड़े गंध्रप के ख्यात हैं।
> चढ़े तैं तुरंग नवरंगसाहि बादसाह,
> जिमीं आसमान थरथर थहरात हैं॥

इस कवित्त में औरंगज़ेब के अश्वारोहण का आतंक वर्णित है, जिससे उस समय उसकी अवस्था बहुत अधिक नहीं प्रतीत होती और इसमें जो बादशाह शब्द आया है उससे उसके बादशाह होने

के पश्चात् का यह कवित्त सिद्ध होता है। औरंगज़ेब का जन्म संवत् १६७५ में हुआ था, और वह संवत् १७१५–१६ में ४० वर्ष की अवस्था में तख्त पर बैठा था। अतः यह कवित्त यदि उसकी चालीस तथा पचास वर्ष की अवस्था के बीच का समझा जाय, तो इसके बनने के समय का संवत् १७१५ से १७२५ तक का माना जा सकता है, जिससे कृष्णलाल जी की टीका का समय १७१९ परम संगत जँचता है।

इसके अतिरिक्त 'यौं दल काढ़े (७११)' इत्यादि दोहा सतसई के अंत में पड़ा है, और जिस घटना का इसमें वर्णन है, वह सं० १७०४ के जाड़े की है। अतः यह अनुमान होता है कि सतसई की समाप्ति सं० १७०४–५ में हुई होगी, क्योंकि उस समय उक्त घटना के नई होने तथा महाराज जयसिंह जी के बादशाह से विशेष सम्मानित होने के कारण उसकी प्रशंसा चारों ओर होती होगी, जिससे उसी की प्रशंसा बिहारी ने भी अपनी सतसई के अंत में की। यदि उस घटना को हुए अधिक दिन व्यतीत हो गए होते, तो वह लोगों के चित्त से उतर गई होती, और फिर बिहारी ने किसी ऐसी घटना की प्रशंसा की होती, जो उस समय नई होती।

इन बातों के अतिरिक्त यदि यह दोहा—

"जनम ग्वालियर जानियै खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल॥"

स्वयं बिहारी का, अथवा उनके विषय में किसी जानकार का बनाया हुआ हो तो, उससे उनके जन्म का ग्वालियर में होना, लड़कपन का बुँदेलखंड में व्यतीत होना, विवाह का मथुरा में होना, और युवावस्था का वहीं आना, निश्चित रूप से प्रमाणित होता है।

स्वर्गीय गोस्वामी श्री राधाचरण जी के एक लेख से, जो ऊपर उद्धृत किया गया है, प्रकट होता है कि उन्होंने इस दोहे का व्रजभाषा के विषय में होना समझा था, क्योंकि उन्होंने लिखा है कि 'बिहारी कवि, व्रजभाषा की ससुराल मथुरापुरी के वासी थे'। पर

हमने अपनी युवावस्था में वृद्ध कवियों से ये तीन दोहे एक आख्यायिका के साथ सुने थे,—यद्यपि कुछ लोगों का कहना है कि इनमें का पहला दोहा गंग कवि ने खानखानाँ को सुनाने के लिये बनाया था।

गंग गोंछ मोछैं जमुन अधरनु सरसुति-रागु।
प्रगट खानखानानु कैं कामद बदन प्रयागु॥ १॥
जनमु ग्वालियर जानियै खंड बुँदेलैं बालु।
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुरालु॥ २॥
श्री नरहरि नरनाह कौं दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन आगरैं आगरे रहत आइ सुखु पाइ॥ ३॥

आख्यायिका यह है कि बिहारी ने 'गंग गोंछ' इत्यादि दोहा खानखाना को सुनाया, जिस पर प्रसन्न होकर खानखानाँ ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। खानखानाँ के विशेष वृत्तांत पूछने पर बिहारी ने अन्य दो दोहे पढ़े।

इन दोहों के समय के विषय में किसी किसी का यह कथन है कि, सतसई समाप्त करने पर जब बिहारी को यथेष्ट पारितोषिक न मिला तब, वे कुछ रुष्ट होकर आगरे चले आए, और वहाँ खानखानाँ को 'गंग गोंछ' इत्यादि दोहा सुनाया और कहा कि 'प्रयाग-स्नान से सब पातक छूट जाते हैं, अतः मैं इस प्रयाग में अपने ऋण-पातक से मुक्त होने के निमित्त आया हूँ; मेरे ऊपर जयसिंह का ७०० अशर्फियों का ऋण है'। यह सुनकर खानखानाँ ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। बिहारी ने कहा कि 'ये कुल अशर्फियाँ जयसिंह के पास भेज दी जायँ, जिसमें कि ब्याज सहित ऋण चुक जाय।'

यह स्मरण रखना चाहिए कि नव्वाब अब्दुलरहीमखाँ खानखानाँ का देहांत संवत् १६८३ में हो गया था, और सतसई की समाप्ति संवत् १७०४ के पहले नहीं हुई थी। अतः सतसई समाप्त करने पर बिहारी का उक्त खानखानाँ के पास जाना किसी प्रकार संभावित नहीं हो सकता। हाँ, यदि किसी अन्य खानखानाँ के पास गए हों, तो हो सकता है। पर हिंदी कविता के प्रेमी,

गुणग्राहक तथा स्वयं परम प्रवीण कवि अब्दुलरहीम खानखाना ही थे। अतः 'गंग गोंछ' इत्यादि दोहे के निर्माण का समय बिहारी के जयपुर जाने के पूर्व ही मानना समुचित प्रतीत होता है।

पहले तो तृतीय दोहे में जो 'नरहरि' तथा 'नरनाह' शब्द पड़े हैं, उनके विषय में यह संशय होता था कि उनसे कौन व्यक्ति अभिप्रेत हैं। सामान्यतः 'नरहरि' का अर्थ श्रीभगवान् तथा 'नरनाह' का अर्थ 'जयसिंह' मानकर इस दोहे का अर्थ यह समझा जाता था कि 'भगवान् ने हमारा हाथ जयसिंह को पकड़ा दिया, अर्थात् भगवान् की कृपा से हम जयसिंह तक पहुँच गए, और अब सुख से आकर आगरे में रहते हैं। इस अर्थ में जयसिंह तक पहुँचने पर बिहारी का आगरे में आ रहना खटकता था। कोई कोई यह भी कहते थे कि, 'नरहरि' तथा 'नरनाह' दोनों ही विशेष्य विशेषण रूप से एक ही व्यक्ति के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। उनके अनुसार इस दोहे का यह अर्थ होता है कि 'हमने श्री नरहरि नरनाह (राजा) को अपनी बाँह पकड़ा दी, अर्थात् उक्त राजा की शरण ली, और अब आगरे में सुख से रहते हैं।' यह अर्थ भी विशेष संतोषजनक नहीं था क्योंकि किसी नरहरि नामक राजा का विशेषतः आगरे में रहना उस समय के इतिहास से विदित नहीं होता।

जब नागरीप्रचारिणी पत्रिका में बिहारी-विषयक दोहा-बद्ध निबंध प्रकाशित हुआ, और श्री महात्मा नरहरिदास जी का वृत्तान्त 'निजमतसिद्धांत' में देखने में आया, तब तो हमारी यह धारणा हुई कि इस दोहे में 'श्री नरहरि' पद से उक्त महात्मा श्री नरहरिदास जी अभिप्रेत हैं, और 'नरनाह' पद से शाहजहाँ, जो कि उस समय केवल युवराज थे, पर बादशाह जहाँगीर ने उनको शाहजहाँ की उपाधि से विभूषित कर दिया था। इस धारणा के अनुसार उक्त दोहे का यह अर्थ होता है—महात्मा श्री नरहरिदास जी ने नरनाह (शाहजहाँ) को हमारी बाँह पकड़ा दी; अब हम आगरे में सुख से रहते हैं।

ऊपर लिखे हुए तीनों दोहों की बनावट बिहारी के दोहों से मिलती जुलती है। पद-विन्यास का डौल एक ही है; भेद खराद तथा ओप का है, जिसका कारण न्यूनाधिक अभ्यास कहा जा सकता है। यदि ऊपर लिखे हुए तीनों दोहे स्वयं बिहारी के हों तो उनसे उनके विषय में ये बातें निश्चित हो सकती हैं—

(१) बिहारी का ग्वालियर में जन्म ग्रहण करना।

(२) बाल्यावस्था में उनका बुँदेलखंड में रहना, जिससे उनका वहीं श्री नरहरिदास जी के कृपापात्र हो जाने तथा उनके द्वारा प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी से परिचित होने, और पढ़ने की संभावना।

(३) उनका श्री नरहरिदास जी के साथ वृंदावन जाना, और वहाँ उन्हीं के द्वारा शाहजहाँ का कृपापात्र होकर आगरे पहुँचना।

उनके बुँदेलखंड में बाल्यावस्था के व्यतीत करने के विषय में कुछ और किंवदंतियाँ तथा अनुमान भी ऊपर लिखे गए हैं। उनका शाहजहाँ के साथ आगरे जाना दोहावाले निबंध से भी पुष्ट होता है। बिहारी के दोहे तथा उक्त निबंध में केवल बिहारी को शाहजहाँ तक पहुँचानेवाले महात्मा के नाम में भेद है। निबंध में उनका नाम श्री नागरीदास कहा है, और बिहारी के दोहे में श्री नरहरि। उस समय ये दोनों ही महात्मा वृंदावन में विद्यमान थे, और दोनों ही श्री स्वामी हरिदास जी की परंपरा में श्री महात्मा सरसदेव जी के शिष्य थे। बस फिर संभव है कि श्री नागरीदास जी, जो कि पहले ही से श्री सरसदेव जी के शिष्य थे, यमुना जी के तीर पर टट्टियों की छावनी बनाकर अन्य कतिपय संत सज्जनों के साथ रहते हों, और नरहरिदास जी ने भी बुँदेलखंड से आकर बिहारी तथा उनके पिता के साथ वहीं डेरा किया हो। अतः उक्त निबंध लिखनेवाले को बिहारी का निवासस्थान श्री नागरीदास जी की टट्टी होने के कारण इस बात में भ्रम हो गया हो कि उक्त दोनों महात्माओं में से किसने बिहारी को शाहजहाँ से परिचित किया।

संवत् १९८४ के लिये काशी नागरीप्रचारिणी सभा के कार्यकर्ताओं तथा प्रबंध-समिति के सदस्यों की सूची।

रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए० ...	सभापति
रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा	उपसभापति
पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए० ...	,,
बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० ...	प्रधान-मंत्री
बाबू माधवप्रसाद ...	प्रचार-मंत्री
पंडित बलराम उपाध्याय एम० ए०, एल-एल० बी०	अर्थ-मंत्री
बाबू रामचंद्र वर्मा ...	प्रकाशन-मंत्री

प्रबंधसमिति के सदस्य

संवत् १९८६ तक
- पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, काशी
- रायबहादुर पंडा बैजनाथ बी० ए०, काशी
- बाबू बेणीप्रसाद, काशी
- बाबू गौरीशंकरप्रसाद बी० ए०, एल-एल० बी०, काशी
- पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, दौलतपुर—रायबरेली
- राय साहब पंडित लज्जाशंकर झा, एम० ए०, जबलपुर
- पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रयाग

संवत् १९८५ तक
- रेवरेंड जे० सी० जेकसन, काशी
- लाला भगवानदीन, काशी
- पंडित चंद्रमौलि शुक्ल एम० ए०, काशी
- पंडित केशवप्रसाद मिश्र, काशी
- ठाकुर गोपालशरणसिंह, रीवाँ
- बाबू धीरेंद्र वर्मा एम० ए०, प्रयाग
- ठाकुर कल्याणसिंह, जयपुर

प्रबंधसमिति के सदस्य

संवत् १९८४ तक

पंडित मदनमोहन शास्त्री, काशी
बाबू बालमुकुंद वर्मा, काशी
ठाकुर शिवकुमारसिंह, काशी
बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', काशी
बाबू मदनमोहन वर्मन्, कलकत्ता
बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, बार-एट-ला, पटना
पंडित जगन्नाथ निरुक्तरत्न, अमृतसर

विशेष सूचना

सब सभासदों तथा हिंदी-प्रेमियों के सूचनार्थ निवेदन है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी समस्त पुस्तकों के प्रकाशन और बिक्री का प्रबंध इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग को सौंप दिया है। अतएव सभा की सब पुस्तकें इस पते पर मिलेंगी—

मैनेजर, बुकडिपो,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड (ब्रांच),
जगतगंज, बनारस कैंट

केवल हिंदी शब्दसागर की संख्याएँ तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका के वर्तमान वर्ष की संख्याएँ—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्राप्त हो सकेंगी।

इन दोनों बातों का ध्यान रखने से पुस्तकें शीघ्रता से प्राप्त हो सकेंगी अन्यथा विलंब हो जाना बहुत संभव है।

मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा,
बनारस सिटी

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ८—अंक २

संपादक

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:*:—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

श्रावण संवत् १९८४] [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

४—महाकवि श्री बिहारीदास जी की जीवनी [लेखक—श्रीयुक्त बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए०] १२१

५—प्राचीन शल्य-तंत्र [लेखक—श्रीयुक्त कविराज अत्रिदेव गुप्त बि० ए०, भिषग्रत्न, गुरुकुल-कांगड़ी] १५५

६—पुरानी हिंदी का जन्म-काल [लेखक—श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि, पटना] २१६

७—एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति [लेखक—श्रीयुक्त बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बी० ए०, काशी] २२१

सूचना

निम्नलिखित पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गईं—

१—पुरुषार्थ—ले० स्वर्गवासी बाबू जगन्मोहन वर्मा।
२—तर्कशास्त्र २ भाग—ले० बाबू गुलाबराय।
३—हिंदी शब्दसागर, अंक ३७, ३८।
४—हिंदी व्याकरण (बृहत)
५—प्राचीन आर्य-वीरता—लेखक द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।

नवीन संस्करण

१—मितव्यय।
२—संक्षिप्त हिंदी व्याकरण।
३—मध्य हिंदी व्याकरण।
४—हिंदी निबंधमाला भाग १, २।
५—प्रथम हिंदी व्याकरण।
६—वीरमणि—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए०।
७—महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद।

छप रही हैं

१—हिंदू राज्य-तंत्र।
२—शिशर-वंशोत्पत्ति।
३—मौर्य कालीन भारत।

प्रकाशन-मंत्री,
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी

(४) महाकवि श्री बिहारीदास जी की जीवनी

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बी० ए०, काशी ।]

(पत्रिका भाग ८, अंक १, पृ० १२० से आगे)

बिहारी के वृंदावन जाने का समय संवत् १६७० तथा १६७५ के बीच में, मानना समुचित प्रतीत होता है, क्योंकि 'निजमत-सिद्धांत' के अनुसार श्री नरहरिदास जी का जन्म जेठ बदी २ संवत् १६४० का था, और वे ३५ वर्ष की अवस्था में, अर्थात् संवत् १६७४ के अंत अथवा १६७५ के आरंभ में वृंदावन गए थे* । अनुमान होता है कि उनके वृंदावन पहुँचने के थोड़े ही दिनों पश्चात् बिहारी का परिचय शाहजहाँ से कराया गया, क्योंकि संवत् १६७७ के पश्चात्, नूरजहाँ की गोटियाचालियों से, बादशाह जहाँगीर तथा शाहजहाँ में मनमोटाव हो गया था, जिससे शाहजहाँ संवत् १६८३ तक आगरे से बाहर ही बाहर रहा। बिहारी के आगरे पहुँचने पर, शाहजहाँ के जिस एक पुत्र होने का वृत्तांत दोहाबद्ध निबंध में लिखा है, वह पुत्र उसके चारों प्रसिद्ध पुत्रों में से तो कोई हो नहीं सकता, क्योंकि दारा तथा शुजा का जन्म सं० १६७५ के बहुत पहले ही हो चुका था, औरंगज़ेब का जन्म बंबई के पास सं० १६७५ में हुआ, और मुराद सं० १६८० में रोहितास के क़िले में उत्पन्न हुआ। यह संभव है कि शाहजहाँ के कोई और पुत्र सं० १६७५ तथा ७७ के बीच में हुआ हो, जिसका जन्मोत्सव आगरे में मनाया गया हो, जैसे कि सं० १६७६ में उम्मेद्बख़्श का जन्म 'कराने' में हुआ; अथवा उसके कोई पुत्र संवत् १६८३ के पश्चात्, बादशाह होने पर, हुआ हो।

---

* बिहारी वृंदावन या तो नरहरिदास जी के साथ गए या उनके पूर्व ही चले गए। दोनों अनुमान संगत हैं। पर इस निबंध में कई कारणों से उनका पहिले ही चला जाना माना गया है।

हमारे स्वर्गवासी मित्र श्रीयुत बाबू राधाकृष्णदास जी ने, सन् १८९५ ई० में, 'कविवर बिहारीलाल' नामक एक छोटा सा निबंध प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने बिहारी के विषय में बहुत योग्यतापूर्वक यह अनुमान प्रकट किया था कि वे भाषा के सुप्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी के पुत्र थे। उनके इस अनुमान से हम भी सहमत थे। पर जो बातें ऊपर लिखी गई हैं, उनसे उनके अनुमान के ठीक होने में कुछ अड़चनें पड़ती हैं। कुलपति मिश्र जी के—

> कबिबर मातामह सुमिरि केसौ केसौराइ।
> कहौं कथा भारत्थ की भाषा-छंद बनाइ॥

इस दोहे से बिहारी के पिता के नाम का केशव होना तो अवश्य सिद्ध होता है, क्योंकि कुलपति मिश्र के बिहारी के भागिनेय होने का प्रमाण ऊपर लिखा जा चुका है; और इसी दोहे से यह संशय भी अवश्य उत्पन्न होता है कि कदाचित् प्रसिद्ध कवि केशवदास ही कुलपति मिश्र जी के मातामह तथा बिहारी के पिता रहे हों, क्योंकि मातामह का उल्लेख प्रायः ग्रंथकार ऐसी ही अवस्था में करते हैं, जब उनका मातामह कोई ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति होता है, जिसके नाम से उनकी विशेष ख्याति तथा प्रतिष्ठा संभावित होती है। अतः कुलपति मिश्र जी के अपने को केशव का दौहित्र बतलाने से एकाएक यही धारणा होती है कि 'केसौ' से उनका अभिप्राय प्रसिद्ध कवि केशवदास ही रहा होगा। पर उसी ग्रंथ में वे अपने को स्पष्ट रूप से माथुर चौबे कहते हैं, और केशवदास जी ने अपने को सनाढ्य लिखा है। इसके अतिरिक्त, केशवदास जी ने अपने पिता का नाम काशीराम अथवा काशीदास बतलाया है, और बिहारी-बिहार निबंध से बिहारी के पितामह का नाम वसुदेव विदित होता है। अतः कुलपति मिश्र के मातामह सुप्रसिद्ध कवि केशवदास के अतिरिक्त अन्य ही केशव ठहरते हैं। यह भी संभव हैं कि उनके मातामह कोई प्रसिद्ध कवि न होकर कोई सिद्ध महात्मा रहे हों। श्री नरहरिदास जी

के एक शिष्य का नाम केशवदास होना 'निजमतसिद्धांत' से विदित भी होता है। फिर क्या आश्चर्य है कि बिहारी के पिता तथा कुलपति मिश्र के मातामह ये ही केशव रहे हों, और वे कुछ काव्य भी करते हों। बिहारी तथा उनके पिता के बुँदेलखंड में श्री महात्मा नरहरिदास जी से परिचित होने का अनुमान ऊपर लिखा भी गया है।

[यहाँ इस बात पर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जो बातें ऊपर लिखी गई हैं उनमें बिहारीदास के पितामह का नाम वसुदेव और प्रसिद्ध कवि केशवदास के पिता का नाम काशीराम होना, एवं बिहारीदास का चौबे तथा उक्त केशवदास का सनाढ्य होना, इन दो वैषम्यों के अतिरिक्त, और कोई बात ऐसी नहीं दिखलाई देती, जो बिहारीदास के प्रसिद्ध केशवदास के पुत्र-अनुमान में बाधा डालती हो। प्रत्युत और जितनी बातें हैं, वे उक्त अनुमान के अनुकूल ही हैं। केशवदास* तथा बिहारीदास के समय तथा नाम, बिहारी का लड़कपन में बुँदेलखंड में रहना, केशवदास के ग्रंथों से पूर्णतया परिचित होना, प्रवीणराय पातुरी का नाच देखना, केशव के वंशजों की भाँति पूर्ण पंडित एवं उच्च श्रेणी की काव्य-प्रतिभा से संपन्न होना, इत्यादि उक्त अनुमान के परम पोषक हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई बातें उक्त अनुमान के अनुकूल हैं। अब रह गया प्रसिद्ध केशवदास तथा बिहारीदास की जाति तथा उनके पिता एवं पितामह के नाम में भेद, ये बातें अवश्य चिंतनीय हैं।

अनुसंधान करने से ज्ञात हुआ है कि एक प्रकार के चौबे सनाढ्य चौबे भी कहलाते हैं। यदि सनाढ्यों में भी धौम्यगोत्री श्रोत्रिय घरबारी चौबे होते हों, और उनमें, जो बिहारी के वेद, शाखा, तथा

---

* 'हिंदी नवरत्न' में मिश्रबंधु महाशयों ने केशवदास के जन्म का समय वि० संवत् १६०८ अनुमानित किया है और यह अनुमान असंगत भी नहीं प्रतीत होता। इसके अनुसार बिहारी के जन्म के समय केशवदास की अवस्था ४४ या ४५ वर्ष की ठहरती है।

प्रवर निश्चित हुए हैं, वे भी होते हों, तो फिर, बिहारी के प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र होने में, जो जाति का विरोध पड़ता है, वह मिट सकता है।

बिहारी-बिहार नामक निबंध में जो बिहारी के पितामह का नाम बसुदेव लिखा है, वह लिखना कुछ ऐसा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि उसके आगे और सब बातें नगण्य समझी जायँ। जैसा कि इस निबंध में लिखा जा चुका है, उक्त निबंध किसी बिहारी-विषयक अनेक वृत्तांत जाननेवाले का लिखा तो अवश्य प्रतीत होता है, पर उसमें अनेक बातें लिखनेवाले की गढ़ी हुई भी निस्संदेह हैं; और स्वयं बिहारी का लिखा तो वह कदापि हो ही नहीं सकता। ऐसी दशा में, उक्त प्रबंध में बिहारी के पितामह का नाम बसुदेव देखकर, यह नहीं निश्चित किया जा सकता कि बिहारी के पिता सुप्रसिद्ध कवि केशवदास से भिन्न ही थे, क्योंकि उन्होंने अपने पिता का नाम स्वयं काशीराम लिखा है। यह बात भी ध्यान देने की है कि, जिस दशा में केशवदास जी के व्रज में आ बसने का अनुमान आगे लिखा जायगा, उस दशा में वे संभवतः अपनी पूर्व ख्याति को छिपाकर रहे होंगे; उस हीन दशा में उन्होंने अपने को सर्वसाधारण में ओड़छे-वाले महान् कवि जताना उचित न समझा होगा। फिर, उनको वीरसिंह देव की आज्ञा गंगा-तट पर वास करने की थी, और वे रुक व्रज में गए थे। अतः उनके जी में इस बात का खटका भी रहा होगा कि कहीं, उनका गंगा-तट न जाना सुनकर, वीरसिंह देव उनके लड़के को दी हुई वृत्ति बंद न कर दें। ऐसी दशा में बहुत संभव है कि, उन्होंने अपने को छिपाने के निमित्त, अपने पिता का नाम प्रकाशित न किया हो; और, किसी महाशय के आग्रह पर, कदाचित्, इस साम्य से कि केशव भगवान् के पिता का नाम वसुदेव था, वसुदेव ही बतला दिया हो। इन अनुमानों से केशवदास के पिता तथा बिहारी के पितामह के नामों की भिन्नता भी, जो उनके पिता-पुत्र-संबंध के अनुमान में बड़ी बाधा डालती है, दूर हो सकती है।

केशवदास जी की यही आत्मगोपन की संभावना उन लोगों के उत्तर में भी कही जा सकती है, जो यह कहते हैं कि, यदि बिहारी सुप्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र होते तो, यह बात परंपरा से किंवदंतियों में विख्यात होती, और बिहारी अथवा कुलपति मिश्र ने कहीं न कहीं इसका स्पष्ट उल्लेख किया होता। यह बात न तो वस्तुतः आख्यायिकाओं में विख्यात है और न बिहारी अथवा कुलपति मिश्र ही ने अपने पिता अथवा मातामह का ओड़छे वाले केशवदास होना खोलकर कहा है; पर, यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संकेत से, उक्त दोनों ही कवियों ने उनका सुप्रसिद्ध कवि केशवदास होना कह दिया है। बिहारी का अपने पिता का नाम संकीर्तन मात्र कर देना, उनके पिता का कोई परम प्रसिद्ध केशव होना व्यंजित करता है, और कुलपति मिश्र का उनको कविवर कहना तो स्पष्ट ही उनका ओड़छे वाले सुप्रसिद्ध कवि केशवदास होना जताता है; क्योंकि, जहाँ तक ज्ञात हुआ है, उस समय केशव-नामधारी और कोई कवि प्रसिद्ध नहीं था।

अब यहाँ केशवदासजी के विषय में कुछ और ऐसी बातें लिखी जाती हैं जो उनके तथा बिहारी के पिता-पुत्र-संबंध की संभावना की पोषक हैं।

केशवदासजी ने अपना रसिकप्रिया नामक ग्रंथ संवत् १६४८ में इंद्रजीत के अनुरोध से रचा था। उस समय तक मधुकरशाह (इंद्रजीत के पिता) वर्तमान थे। उनके आठ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़े रामशाह (दूलहराम) थे। संवत् १६४९ में, मधुकरशाह के मरने पर, रामशाह ओड़छे के राजा हुए। उस समय उनकी अवस्था उतरती हुई थी। उनसे इंद्रजीतसिंह, अपने एक छोटे सहोदर भाई, से बड़ा प्रेम था, अतः उनकी ओर से राजकाज सब वही करते थे। इंद्रजीतसिंह कार्यकुशल एवं वीर होने के अतिरिक्त, साहित्य-संगीत के बड़े व्यसनी तथा विलासप्रिय भी थे। उनके यहाँ कवियों, गायकों तथा नर्तकों का बड़ा जमघट रहता था। उनका समाज वस्तुतः इंद्र का अखाड़ा ही था। कई एक रूप-गुण-

संपन्न वेश्याएँ उनकी सभा में उपस्थित थीं। उन सब में प्रवीणराय पातुरी बड़ी सुंदर तथा प्रवीण थी। नृत्य संगीत में परम कुशल होने के अतिरिक्त वह कविता भी बहुत अच्छी करती थी। केशवदास जी ने कविप्रिया नामक ग्रंथ उसी के निमित्त बनाया। केशवदास जी का इंद्रजीतसिंह बहुत सम्मान करते थे। वे उनकी सभा के मुख्य कवि और उनके दीवान भी थे।

केशवदास जी ने रामचंद्रिका ग्रंथ संवत् १६५८ के मध्य में समाप्त किया, और फिर उसी संवत् के अंत में कविप्रिया ग्रंथ पूरा कर दिया। उस समय तक इंद्रजीतसिंह के रागरंग के अखाड़े एवं केशवदास जी की प्रतिष्ठा तथा सुखजीवन में कुछ भंग नहीं पड़ा था, यद्यपि, रामशाह के सातवें भाई वीरसिंह की युद्धप्रियता, उद्दंडता तथा दिल्ली-अधिकार की तिरस्कृति के कारण, ओड़छे राज्य पर अनेक अंडसें पड़ रही थीं। संवत् १६६२ में, अकबर के मरने के पश्चात्, जहाँगीर ने, वीरसिंह को दिल्ली बुलाकर, बुँदेलखंड भर के राज्य का परवाना लिख दिया, और उनकी सहायता के लिये कुछ अपने सर्दार एवं सेना भी भेज दी। उस समय तक रामशाह ओड़छे के राजा थे।

जब वीरसिंह दलबल सहित बुँदेलखंड पहुँचे, और रामशाह को सब वृत्तांत विदित हुआ, तो उन्होंने उनसे एरिछ में भेंट की, और चाहा कि कोई ऐसा उपाय निकल आवे जिससे युद्ध का अवसर न आने पावे। पहिले तो कुछ अच्छा निबटेरा होने लगा, पर फिर बात ही बात में बात बिगड़ गई। रामशाह लौट गए और वीरसिंह ने बढ़कर बरेठी में डेरा जमाया। उस समय केशवदास जी संधि-विग्रह-रूप से रामशाह के भेजे वीरसिंह के पास गए। बात सब बन गई थी, पर प्रेम नामक एक व्यक्ति की कुटिलता, एवं रामशाह की कल्याणदेई रानी के हठ के कारण मेल न होने पाया और लड़ाई ठन गई। इस लड़ाई में वीरसिंह जीते, और रामशाह ने, अब्दुल्लाहखाँ के कहने से, पादशाह से

मिलने के निमित्त दिल्ली को पयान किया। इंद्रजीतसिंह इस लड़ाई में बहुत घायल हो गए थे।

केशवदास जी ने इन घटनाओं का वर्णन वीरसिंह देव-चरित्र नामक एक ग्रंथ में किया है। इस ग्रंथ की समाप्ति संवत् १६६४ के आरंभ ही में हुई, अतः इस लड़ाई की घटना संवत १६६३ की समझनी चाहिए। वीरसिंह देव-चरित्र में वीरसिंह के विजय के पश्चात् का कुछ वृत्तांत नहीं दिया है। उससे यह नहीं ज्ञात होता कि फिर रामशाह तथा इंद्रजीत की क्या व्यवस्था हुई, और केशवदास पर क्या बीती।

अनुमान यह होता है कि लड़ाई के पश्चात् केशवदास जी यद्यपि रहे तो ओड़छे ही में, पर उन पर राजा तथा उनके कर्मचारियों की दृष्टि क्रूर पड़ने लगी। उनकी वृत्ति इत्यादि का अपहरण हो गया और वे सामान्य प्रजा की भाँति कुछ दिनों तक अपना जीवन व्यतीत करते रहे। ये बातें विज्ञानगीता के कतिपय दोहों से लक्षित होती हैं, जिनका विवरण आगे किया जायगा।

केशवदास जी के पंडित, व्यवहार-कुशल तथा सभा-चतुर होने में तो कोई संदेह ही नहीं, और उधर वीरसिंह देव भी परम ब्रह्मण्य, गुणग्राहक तथा उदार-चरित थे ही, बस फिर शनैः शनैः कुछ मेल मिलाप हो गया, और यद्यपि केशवदास जी की पहली सी प्रतिष्ठा तो न हुई, पर वे राज्य-सभा में आने जाने लगे। संवत् १६६७ में उन्होंने अपना विज्ञानगीता नामक ग्रंथ, जो कदाचित् वे पहिले ही से रच रहे थे, समाप्त कर के वीरसिंह देव को समर्पित किया। उक्त ग्रंथ के अंत के तीन दोहों से केशवदास के विषय में कई बातें ज्ञात होती हैं। वे दोहे ये हैं—

सुनि सुनि केसवदास सौं रीझि कह्यौ नृपनाथ।
माँगि मनोरथ चित्त के कीजै सबै सनाथ॥ १॥
वृत्ति दई पुरुषानि की देउ बालकनि आसु।
मोहिं आपनौ जानि कै गंगा तट द्यौ बासु॥ २॥

वृत्ति दई पदवी दई दूरि करौ दुख त्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गंगा-तट बस वास ॥ ३ ॥

इन दोहों से विदित होता है, कि केशवदास जी को जो गाँव इत्यादि मिले थे, वे छिन गए थे, और उनकी प्रार्थना पर फिर उनकी संतान को पूर्व पदवी सहित दिए गए। यह भी निश्चित होता है कि उनको एक से अधिक संतान थी, क्योंकि दूसरे दोहे में बालकनि पद बहुवचन है। अतः बिहारी के जो एक भाई और एक बहिन बताए जाते हैं, वह बात भी केशवदास के उनके पिता होने के विरुद्ध नहीं है। केशवदास जी ने ओड़छा तो संवत् १६६७ के कुछ दिनों पश्चात् अवश्य छोड़ दिया, पर ज्ञात होता है कि, यदि वे वस्तुतः बिहारी के पिता थे तो, वे अपने ज्येष्ठ पुत्र को तो ओड़छे की वृत्ति पर छोड़ गए और अपने कनिष्ठ पुत्र तथा कन्या को, जो सब संतानों में छोटी थी, साथ लेकर गंगा-तट पर वास करने के निमित्त चले गए। अनुमान होता है कि सोरों घाट को उन्होंने अपने निवास के लिए सोचा था, अतः उसके पथ में व्रज पड़ने के कारण, वहाँ ठहर गए। चित्त में उपराम तो था ही, बस फिर महात्मा नरहरिदास जी के गुरु महात्मा सरसदास जी से परिचित होने के कारण, उनके पास अधिक आने जाने लगे, और कदाचित् उनके शिष्य श्री नागरीदास जी के स्थान ही में ठहर गए हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। कुलपति मिश्र ने जो यह दोहा 'संग्राम-सार' में लिखा है—

कबिबर मातामह सुमिरि केसौ केसौराइ।
कहौं कथा भारत्थ की भाषा-छंद बनाइ ॥

उससे उनके मातामह तथा बिहारी के पिता का कोई प्रसिद्ध 'कबिबर' होना सिद्ध होता है। पर, जहाँ तक ज्ञात है, उस समय ओड़छे वाले केशवदास जी को छोड़कर, और कोई ऐसा केशव नामक प्रसिद्ध कवि नहीं था, जो कुलपति जी का मातामह होता, और जिसकी बंदना कुलपति जी ऐसा पंडित और कवि ऐसी श्रद्धा से करता। अतः

कुलपति जी के दोहे से भी केशव से प्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही का लक्ष करना अधिक संगत प्रतीत होता है।

देवकीनंदन वाली टीका में जो लिखा है, कि बिहारी की स्त्री बड़ी कवि थी और सतसई उसी ने बनाई थी, उससे इतनी बात तो अवश्य आकर्षित होती है कि वह काव्य करती थी। 'मिश्रबंधु-विनोद' में, जो एक स्त्री कवि केशव-पुत्रवधू के नाम से बतलाई गई है, और जिसकी कविता का संग्रहसार में पाया जाना कहा गया है, क्या आश्चर्य है जो वह विदुषी बिहारी की स्त्री ही रही हो। यदि यह बात प्रमाणित हो सके तो यह भी बिहारी के सुप्रसिद्ध कवि केशवदास ही के पुत्र होने का पोषण करती है; क्योंकि केशव का कोई विशेष परिचय न देकर, केवल केशव-पुत्रवधू ही कह देना, इस बात का परिचायक है कि उक्त केशव कोई सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे।

ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, उनसे सुप्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही को बिहारी का पिता मानना संगत प्रतीत होता है। पर इस समय विद्वन्मंडली की धारणा इसके विरुद्ध है। अतः जब तक इस बात के और कुछ पुष्ट प्रमाण हाथ न आ लें, तब तक हम भी बिहारी के पिता को अन्य ही केशव मानकर यह जीवनी लिखते हैं। यदि हमारे विद्वान् पाठकगण, इस विषय में अथवा बिहारी की जीवनी की अन्य बातों पर, अपने विचार तथा अनुसंधान हमारे पास भेजने का अनुग्रह करेंगे, तो इसमें, यथेष्ट न्यूनाधिक्य कर, सहर्ष उचित सुधार कर दिया जायगा।]

ऊपर जो बातें पुष्टापुष्ट प्रमाणों तथा अनुमानों के अवलंब से निर्धारित की गई हैं, उनके आधार पर अब बिहारी की एक सुशृंखल जीवनी लिखकर पाठकों को भेंट की जाती है—

बिहारी धौम्यगोत्री सोती (श्रोत्रिय) घरबारी माथुर चौबे थे। उनका वेद ऋक्, शाखा आश्वलायन, प्रवर तीन, अर्थात् कश्यप, अत्रि और सारण्य, तथा उनकी कुलदेवी महा-

विद्या थीं। उनके पिता का नाम 'केशवदेव' अथवा 'केशवराय' था, और पितामह का नाम वसुदेव। बिहारी के पिता का निवास-स्थान कोई कोई मैनपुरी में मानते हैं, पर हमारी समझ में उसका ग्वालियर के आसपास के किसी ग्राम में मानना विशेष संगत प्रतीत होता है।

बिहारी का जन्म संवत् १६५२ में ग्वालियर में हुआ था। उनके एक भाई तथा एक बहन और भी थे। अनुमान यह होता है कि भाई उनसे बड़े थे, और बहन छोटी। जान पड़ता है कि उनकी बहन के जन्म लेने के थोड़े ही दिनों पश्चात् उनकी माँ का देहांत हो गया, जिससे उदासीन हो उनके पिता ग्वालियर छोड़कर संवत् १६५९—६० में ओड़छे चले आए। वहाँ उस समय रामशाह राजा थे। उन्होंने राजकाज का सब भार अपने छोटे भाई इंद्रजीत को दे रक्खा था। ये इंद्रजीत साहित्य तथा संगीत-विद्या के बड़े जानकार, प्रेमी तथा आश्रयदाता थे। सुप्रसिद्ध कवि केशवदास तथा प्रवीणराय पातुरी, जो कि नृत्य, गान तथा साहित्य में बड़ी निपुण थी, इन्हीं की सभा को सुशोभित करते थे। ये महाशय कछोवा-कमल नामक गढ़ में रहते थे। बिहारी के बुँदेलखंड आने के कुछ दिनों पश्चात् तक उनका राग-रंग का समाज जीता-जागता रहा, क्योंकि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बिहारी ने लड़कपन में प्रसिद्ध कवि केशवदास जी से अवश्य कुछ पढ़ा था, और प्रवीणराय पातुरी का नाच भी देखा था।

उसी समय, वहाँ से थोड़ी दूर पर दसान नदी के किनारे, गुढ़ौ गाँव में, एक सुप्रसिद्ध महात्मा, श्री नरहरिदास जी, भी रहते थे। वे अपने घर से अलग, उक्त नदी के तट पर, एक कुटिया में भगवद्भजन किया करते थे, और श्री स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के वैष्णव थे। चौबे लोग प्रायः स्वामी हरिदास जी ही की गद्दी के शिष्य होते हैं, अतः बिहारी के पिता स्वाभाविक ही श्री नरहरिदास जी के पास आने जाने लगे। इस समय बिहारी की अवस्था प्रायः ७-८

वर्ष की रही होगी। अनुमान होता है कि बिहारी के पिता संस्कृत के पंडित थे, और भाषा में भी कुछ कविता करते थे। उस समय तक वे बिहारी को स्वयं ही पढ़ाते थे, और अवस्था तथा समय के अनुसार बिहारी को कुछ संस्कृत के रूपों का सामान्य ज्ञान हो गया था, और उनकी प्रतिभा पर भाषा-काव्य की भी कुछ योग्यता झलकने लगी थी। बिहारी भी अपने पिता के साथ श्री नरहरिदास जी के पास आया जाया करते थे। उसी के थोड़े दिनों पश्चात्, अर्थात् संवत् १६६५ में, श्री स्वामी हरिदास जी की निधिवन की गद्दी के महंत, श्री सरसदेव जो ने बुंदेलखंड पधार कर श्री नरहरिदास जी को विधिवत् अपना शिष्य बनाया। उसके पश्चात् बिहारी के पिता अपनी संतान-सहित श्री नरहरिदास जी के शिष्य हो गए। उस समय बिहारी की अवस्था १२-१३ वर्ष की थी। बिहारीदास नाम श्री नरहरिदास जी ही का रक्खा हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि उनके संप्रदाय के सेव्य ठाकुर का नाम 'बिहारी जी' है, और उक्त संप्रदाय के शिष्यों का नाम प्रायः दासांत होता है।

एक दिन बिहारी की किसी बात से प्रसन्न होकर श्री नरहरिदास जी ने उनको कुछ प्रसाद इत्यादि दिया, और उनके पिता से कहा कि इस स्थान में अनेक पंडित महात्मा रहते तथा आया जाया करते हैं, अतः यदि यह लड़का यहीं रहा करे तो इसकी शिक्षा बहुत अच्छे प्रकार से हो जाय। बस फिर तब से बिहारी वहीं रहने, अथवा नित्य प्रति आने जाने, एवं शिक्षा पाने लगे। श्री नरहरिदास जी एक बड़े महात्मा तो प्रसिद्ध थे ही; उनके पास इंद्रजीत तथा केशवदास जी भी कभी कभी आते जाते रहते थे। किसी दिन उन्होंने केशवदास जी को बिहारी का परिचय देकर कहा कि यह लड़का बड़ा होनहार है, यदि आप इसको अपने पास रखकर कुछ पढ़ाने की कृपा कर दें तो बड़ा उपकार हो, और यह कदाचित् बड़ा कवि हो जाय। केशवदास जी ने भी बिहारी की बुद्धि अच्छी देखकर इस बात को सहर्ष स्वीकृत कर लिया, और उनको जी

खोलकर पढ़ाने लगे। अपने रसिकप्रियादि ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने तीन चार वर्षों में बिहारी को भाषा, संस्कृत तथा प्राकृत के अनेक काव्य साहित्य तथा अन्यान्य उपयोगी ग्रंथ पढ़ा तथा गुना दिए, जिनका प्रभाव बिहारी के अनेक दोहों पर पड़ा है।

ऊपर जो कई एक उदाहरण उद्धृत किए गए हैं, उनसे बिहारी का केशवदास जी के ग्रंथों का अध्ययन करना सिद्ध होता है।

केशवदास जी के साथ बिहारी इंद्रजीत की सभा में भी आया जाया करते थे, जिससे उनको प्रवीणराय पातुरी के नाच देखने का संयोग कभी कभी मिल जाता था। उसकी नृत्य-निपुणता का प्रभाव बिहारी के सौंदर्य-ग्राही हृदय पर स्थिर रूप से अंकित हो गया था, जो कि सतसई के निम्नलिखित दो दोहों से स्पष्ट झलकता है—

सब-अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर-राइ ॥ २८४ ॥
ज्यौं ज्यौं पटु झटकति, हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न ॥ ३५३ ॥

बिहारी को केशवदास जी से पढ़ने का अवसर थोड़े ही दिनों तक मिला। संवत् १६६४ के पूर्व ही इंद्रजीत का रंग-अखाड़ा सर्वथा भंग और अस्तव्यस्त हो गया, और केशवदास को छोड़कर उसके सब लोग नष्ट भ्रष्ट हो गए। कदाचित् इसी घटना को लोगों ने प्रेत-यज्ञ कहकर विख्यात किया है। संभव है, उसके पश्चात् बिहारी केशवदास से पढ़ते रहे हों। पश्चात् बिहारी के पिता ने ओड़छे में रहना व्यर्थ तथा अनुचित समझा, क्योंकि एक तो वहाँ के रहने के निमित्त अब कोई विशेष कारण अथवा वृत्ति न रह गई थी, और दूसरे कदाचित् उक्त प्रांत में अनेक विप्लव भी हो रहे थे। इसके अतिरिक्त उनको अपनी कन्या के विवाह की चिंता ने भी घेरा होगा, क्योंकि उस समय उसकी अवस्था अनुमान से १२-१४ वर्ष की हो गई होगी।

बस फिर संवत् १६७० के आसपास, नरहरिदास जी से आज्ञा लेकर, केशवदेव जी ने बिहारी इत्यादि के साथ व्रज की ओर प्रस्थान किया। वृंदावन में उस समय श्री नरहरिदास जी के दीक्षागुरु श्री सरसदेव जी निधिवन की गद्दी पर थे। केशवदेव जी तथा बिहारी का परिचय उनसे गुढ़ौ ग्राम में हो चुका था, अतः वृंदावन पहुँचकर केशवदेव उनके पास उपस्थित हुए। श्री सरसदेव जी के एक और शिष्य श्री नागरीदास जी थे। वे टट्टियों की कुटिया बनाकर कुछ और वैष्णवों के साथ यमुना जी के तट पर रहते थे। केशवदेव जी ने कदाचित् उन्हीं के स्थान में डेरा किया। श्री स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के महंत सदा से संगीत तथा काव्य के पूर्ण ज्ञाता और रसिक होते आते थे। अकबर के, गान सुनने के निमित्त, वेष बदल कर, श्री स्वामी हरिदास जी के पास जाने की आख्यायिका प्रसिद्ध ही है, और श्री सरसदेव जी के गुरु, श्री बिहारिनिदास जी, के लाखों पद अद्यावधि उनके संप्रदाय के स्थानों में विद्यमान हैं। अतः अनुमान होता है कि नागरीदास जी भी साहित्य, संगीत के ज्ञाता तथा प्रेमी रहे होंगे। जो कुछ हो, उस स्थान में अनेक पंडितों, कवियों, महात्माओं तथा संगीत-निपुणों का समागम अवश्य होता था, जैसा कि दोहावद्ध निबंध से विदित होता है। उस स्थान में रहकर भी बिहारी ने कुछ दिनों श्रमपूर्वक विद्याध्ययन तथा काव्याभ्यास किया, और संगीतविद्या में भी निपुणता प्राप्त की। इधर उनके पिता अपनी संतान के विवाह का यत्न करते रहे। श्री सरसदेव जी का महत्व व्रजमंडल में विख्यात था। उस प्रांत के छोटे बड़े सभी लोग उनको न्यूनाधिक मानते जानते, और उन पर श्रद्धा रखते थे, विशेषतः माथुर वंश के लोग, जो कि उनके संप्रदाय के सेवक ही होते थे। हरिकृष्ण मिश्र नामक एक प्रतिष्ठित माथुर ब्राह्मण आगरे में रहते थे। वे भी श्री सरसदेव जी के पास आया जाया करते थे, और कदाचित् उनके शिष्य भी रहे हों। उनके परशुराम मिश्र नामक एक युवा तथा विद्वान पुत्र थे। श्री सरसदेव जी की अनुमति से बिहारी की बहन का विवाह

उक्त परशुराम मिश्र जी से हो गया, और बिहारी का विवाह मथुरा में किसी चौबे के यहाँ हुआ। मथुरा-निवासी श्री पंडित नवनीत जी चतुर्वेदी से ज्ञात हुआ है कि बिहारी की ससुराल के वंशजों का घर, थोड़े दिन हुए तब तक, मथुरा में था, पर अब खँडहर हो गया है। बिहारी के भाई का विवाह कब और कहाँ हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता; पर अनुमान यह होता है कि कदाचित् उनका विवाह मैनपुरी में हुआ होगा, क्योंकि साहित्याचार्य श्री पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने 'बिहारी बिहार' की भूमिका में लिखा है कि बिहारी के कुल के कुछ लोग मैनपुरी में रहते हैं। फिर क्या आश्चर्य है कि वे लोग उनके भाई ही के वंशज हों, क्योंकि बिहारी के निज वंशज बूँदी, काली पहाड़ी तथा कामवन में हैं। विवाह होने के पश्चात् ज्ञात होता है कि बिहारी अपनी ससुराल में रहने लगे, और उनके पिता वृंदावन ही में रहे। पर पठनपाठन के निमित्त बिहारी भी प्रायः वृंदावन आया जाया तथा रहा करते थे।

सं० १६७५ में श्री नरहरिदास जी भी बुँदेलखंड से वृंदावन चले आए, और उन्होंने भी कदाचित् श्री नागरीदास जी ही के स्थान में डेरा किया। उनका माहात्म्य तो पहले ही से प्रसिद्ध था, अब वृंदावन आने पर उसकी और भी ख्याति हुई, और उनके पास उस प्रांत के बड़े बड़े लोग आने लगे। उस समय शाहजहाँ यद्यपि युवराज था, तथापि उसके बाप जहाँगीर बादशाह ने, उसके कार्य-कौशल तथा वीरता के कारण, उसको सुल्तान शाहजहाँ की उपाधि दे दी थी। सं० १६७५ तथा ७७ के बीच में किसी समय वह वृंदावन गया था। उस समय उसने निधिवन में श्री सरसदेव जी के, एवं श्री नागरीदास जी की टट्टियों में, श्री नागरीदास जी तथा श्री नरहरिदास जी के दर्शनों की प्रतिष्ठा भी प्राप्त की थी*। श्री नर-

* उस समय तक मुसल्मान बादशाह हिंदुओं के संत महंतों के पास बड़ी श्रद्धा से जाते तथा उनकी बातों एवं आशीर्वादों से लाभ उठाने की अभिलाषा रखते थे। 'तुज़ुके जहाँगीरी' में जहाँगीर बादशाह का संवत् १६७५

हरिदास जी ने बिहारी की प्रशंसा शाहजहाँ से की, और उनका गाना तथा काव्य भी उसको सुनवाया। बिहारी ने शाहजहाँ की प्रशंसा की भी कुछ कविता पढ़ी। शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर उनको आगरे आने की आज्ञा दी, और फिर बिहारी आगरे जाकर रहने लगे।

आगरे में रहकर बिहारी ने कुछ फ़ारसी (उर्दू) भी पढ़ी, और उस भाषा की कविता का भी कुछ अभ्यास कर लिया। अब बिहारी की उन्नति के दिन आए। उस समय आगरे में राजधानी होने के कारण वह लक्ष्मी का आगार बना हुआ था। उसमें बड़े बड़े सामंतों, सेनानियों, शाहज़ादों, सेठ-साहूकारों इत्यादि का रात-दिन मेला लगा रहता था, जिससे आकर्षित होकर अनेक गुणीजनों, कवियों, पंडितों, गवैयों इत्यादि का भी जमवट जमा रहता था। साहित्य-संगीत का प्रेम बिहारी की जन्मघूँटी ही में पड़ा था, अतः वे धनाढ्यों की कविता-गोष्ठियों तथा संगीत-सभाओं में आने जाने तथा सुख से जीवन व्यतीत करने लगे। शाहजहाँ के कृपापात्र होने के कारण उनकी पहुँच छोटे बड़े सभी सरदारों के यहाँ बिना प्रयास ही हो गई। एक दिन उन्होंने नव्वाब अब्दुलरहीम खान-खानाँ की सभा में जा कर यह दोहा सुनाया—

गंग गोंछ मोछैं जमुन अधरनु सरसुति-रागु।
प्रकट खानखानान कैं कामद बदन प्रयागु॥ १॥

खानखानाँ की काव्यमर्मज्ञता तथा दानवीरता तो विख्यात ही है। उन्होंने इस दोहे पर प्रसन्न होकर बिहारी का बड़ा आदर-सत्कार किया, और बहुत कुछ पारितोषिक भी दिया। उनके विशेष परि-चय पूछने पर बिहारी ने ये दो दोहे और पढ़े—

जनम ग्वालियर जानिए खंड बुँदेलैं बाल।
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल॥ १॥

में वृंदावन जाना और चिद्रूप नामक महात्मा का दर्शन करना लिखा है। क्या आश्चर्य है कि उसी यात्रा में शाहजहाँ भी साथ रहा हो, और वह श्री नागरीदास जी की टट्टी में भी गया हो।

श्री नरहरि नरनाह कौं दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन-आगरैं आगरैं रहत आइ सुख पाइ ॥ २ ॥

संवत् १६७७ के आसपास शाहजहाँ के कोई पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका आगरे में बड़ा उत्सव मनाया गया, और भारतवर्ष के अनेक राजा महराजा वहाँ इकट्ठे हुए। शाहजहाँ ने उस समय उन लोगों से बिहारी की बड़ी प्रशंसा की और उनकी कविता भी उनको सुनवाई। उस समय वहाँ छोटे बड़े ५२ राजा उपस्थित हुए थे। सभों ने, बिहारी के गुण पर रीझकर तथा उन पर शाहजहाँ की कृपा देखकर, बहुत कुछ दान सम्मान से उनका सत्कार किया, और, शाहजहाँ के इंगित से, सभों ने यथायोग्य उनका वर्षाशन, अर्थात् प्रतिवर्ष भोजन के निमित्त कुछ दान, भी नियत कर दिया।

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात्, संवत् १६७८ के आसपास, जहाँगीर बादशाह के हृदय पर नूरजहाँ बेगम का अधिक अधिकार हो जाने के कारण, उक्त बेगम की कुटिल नीति के प्रभाव से, बाप बेटे में कुछ ऐसा मनोमालिन्य हो गया, जिसके कारण शाहजहाँ को अपने बादशाह होने, अर्थात् संवत् १६८४, तक आगरे से दूर ही दूर रहना पड़ा। इस अंतराल में बिहारी कभी आगरे, और कभी मथुरा या वृंदावन में रहते थे, और, अपना नियत वर्षाशन लेने के निमित्त, साल में १०, १५ राजाओं के यहाँ भो जाया करते थे।

इस बात का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता, कि शाहजहाँ के बादशाह होने पर, बिहारी फिर उसके दरबार में आते जाते थे वा नहीं। पर अनुमान यही कहता है, कि वे अवश्य कभी कभी आगरे आते जाते तथा दरबार में उपस्थित होते होंगे, क्योंकि शाहजहाँ के दरबार में कवियों तथा पंडितों का अच्छा आदर होता था। महाकविराज सुंदर ने उसी दरबार में प्रतिष्ठा पाई थी, और श्री पंडितराज जगन्नाथ जी त्रिशूली के उक्त दरबार में परम आदर प्राप्त करने का वृत्तांत विख्यात ही है। फिर कोई कारण नहीं जान पड़ता कि उक्त बादशाह के पूर्वपरिचित बिहारी उसकी कृपा से वंचित रहे

हों। इसके अतिरिक्त, बिहारी के भांजे, कुलपति मिश्र, ने 'संग्रामसार' नामक ग्रंथ में अपने को उक्त पंडितराज जी का शिष्य होना लिखा है। अतः यह अनुमान असंगत नहीं प्रतीत होता, कि कुलपति मिश्र जी के पिता, श्री परशुराम मिश्र जी, का परिचय पंडितराज से बिहारी ही के द्वारा हुआ हो, और उक्त परिचय ही के कारण श्री पंडितराज जी ने कुलपति मिश्र जी को पढ़ाना स्वीकृत किया हो, क्योंकि पंडितराज जी की जैसी प्रतिष्ठा तथा प्रकृति सुनी जाती है, उससे बिना किसी विशेष परिचायक के द्वारा किसी का उन तक पहुँचकर कृपापात्र बनना बड़ा कठिन काम था।

खेद का विषय है, कि सतसई के अतिरिक्त और कोई कविता बिहारी की प्राप्त नहीं होती। यदि २० वर्ष की अवस्था से उनका कविता करना माना जाय तो, सतसई आरंभ करने के पूर्व १८-२० वर्ष तक बिहारी ने क्या कविता की, इसका कुछ पता नहीं चलता। यदि इस अंतराल की उनकी कविता हाथ आती, तो, आशा थी कि, उससे उस समय का उनका कुछ जीवन-वृत्तांत विदित होता, पर, ऊपर कहे हुए खानखानाँ-संबंधी तीन दोहों के अतिरिक्त, और कोई कृति उनकी सुनने में नहीं आती। अनुमान होता है, कि यद्यपि बिहारी में काव्य प्रतिभा तथा स्वाभाविक कवि के अन्यान्य गुण तो पूर्णतया विद्यमान थे, जैसा कि उनके दोहों से लक्षित होता है, तथापि उनकी रुचि कविता बनाने की अपेक्षा सुंदर सुंदर प्राचीन काव्यों के आस्वादन तथा विद्योपार्जन पर अधिक थी। यह बात भी उनकी रचना ही से भली भाँति प्रमाणित होती है।

बिहारी का संस्कृत व्याकरण से पूर्णतया अभिज्ञ होना, तथा व्याकरण के अनुसरण करने का लड़कपन ही से स्वभाव पड़ जाना, उनका अपनी भाषा के निमित्त एक परम सुश्रृंखल, प्रयोग-साम्य-संपन्न तथा व्याकरण-नियमबद्ध ढाँचा बनाकर तदनुसार कविता करने में सफलीभूत होने से लक्षित होता है, और अनेकानेक प्रकार के छोटे बड़े समासों को बहुत सफलतापूर्वक प्रयुक्त करने से भी सिद्ध होता

है। उनके उक्त ढाँचे का 'वाक्य-सौष्ठव' स्पष्ट है, और उनके समासों का प्रयोगौचित्य उनके दस बीस दोहों के पढ़ने से ज्ञात हो सकता है, क्योंकि सतसई के अधिकांश दोहों में समासों का प्रयोग बड़ी सुंदरता से हुआ है। समास-सौष्ठव के निमित्त १०४, १२७, १५२, १५३, १७३, १७५, ४०३ और ५२७ अंकों के दोहे विशेषतः द्रष्टव्य हैं।

बिहारी को संस्कृत कोष का गंभीर ज्ञान होना उनके अनेक संस्कृत शब्दों को ऐसे रूपों तथा अर्थों में प्रयुक्त करने से प्रतीत होता है, जिनमें भाषा के सामान्य कवियों ने उनको प्रयुक्त नहीं किया है, जैसे—

मन (१८,१५०), बारी (१९), बेसरि (२०), करवर (कर्वर५०), सुधादीधिति (९२), अनूप (१०२), संक्रोनु (संक्रमण २७४), अघु (अर्घ्य ३१६,३७६), कर्पूरमनि (कर्पूरमणि ३६२), वृषादित (वृषा-दित्य ३६७), बास (४६४), नंदित (४६९), वारद (वार्द ४७८), कुसुम (५१२), आभार (५५१), परिपारि (६२०), पर(६४८) इत्यादि।

इन शब्दों में कितने शब्द तो ऐसे हैं, जिनका प्रयोग संस्कृत के भी किसी ही किसी कवि ने इन अर्थों में किया है, जैसे—मन (मनस् १८), वारद (वार्द ४७८), परिपारि (परिपालि ६२०)।

संस्कृत के अच्छे अच्छे काव्यों में बिहारी का पूर्ण प्रवेश होना, उनके अनेक संस्कृत कठिन ग्रंथों के श्लोकों को दोहे में बहुत सफलतापूर्वक उद्धृत करने से प्रमाणित होता है। इन दोहों से केवल बिहारी का संस्कृत पांडित्य ही नहीं, प्रत्युत उनकी काव्यप्रतिभा का वैलक्षण्य तथा उत्कर्ष भी, लक्षित होता है। जिन भावों को उन्होंने लिया है, उनको वैसा ही नहीं रहने दिया है, प्रत्युत उनमें कुछ न कुछ विशेष रंग-ढंग तथा काव्य-चमत्कार से नया प्राण फूँक दिया है। इस बात के कतिपय उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

बिहारी के पहले तथा २३८ वें दोहों से प्रतीत होता है, कि उनके हृदय में, उनके बनाते समय, माघ के—

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपांडुभिः।
परस्परेणच्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः॥

इस श्लोक का भाव घूम रहा था, जिसको उन्होंने, अपनी प्रतिभा से एक नया रंग देकर, उक्त दोहों में सुसज्जित कर दिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत श्लोक की उक्ति को एक नए तथा परम चमत्कृत भाव से विभूषित कर दिया। माघ ने श्रीकृष्णचंद्र जी तथा श्री नारद जी के श्याम तथा गौर वर्णों की आभाओं के, एक की दूसरी पर, पड़ने के कारण दोनों के शरीरों का एक रंग, अर्थात् हरित, हो जाना मात्र कहा है, पर दोनों के एक वर्ण हो जाने से कोई विशेष ध्वनि उक्त श्लोक से नहीं निकलती। बिहारी ने भी प्रथम दोहे में श्री राधिका जी की पीत आभा से श्री कृष्णचंद्र जी का हरित हो जाना कहा है। पर दोहे में 'हरित' शब्द ने, एक नया प्राण पिरो कर, उसके भाव को श्लोक के भाव से कहीं अधिक चमत्कृत कर दिया है। 'हरित' शब्द से जो हरेभरे, अर्थात् प्रसन्न, हो जाने का व्यंग्यार्थ दोहे में झलकता है, वह बिहारी की निज प्रतिभा का प्रतिबिंब है। इसके अतिरिक्त, 'हरित' शब्द के 'हृत' अर्थ ने भी दोहे के चमत्कार को चौगुना कर दिया है। इसी प्रकार २३८वें दोहे में श्री कृष्णचंद्र तथा श्री राधिका जी के, परस्पर आभा से, एकवर्ण हो जाने के वर्णन के साथ उनके एकत्र रहने तथा एक-वय एवं एक-मन के कथन ने दोहे के भाव को बहुत अधिक उच्च कर दिया है।

श्री गोवर्धनाचार्य जी की 'आर्यासप्तशती' की कई एक आर्य्याओं के भी भाव बिहारी के दोहों में दिखाई देते हैं। उन भावों में भी बिहारी ने अपनी प्रतिभा का चटकीला रंग चढ़ा दिया है। उदाहरणार्थ दो दो आर्याओं तथा दोहों के भावों का कथन नीचे किया जाता है।

> स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि, बिहंग, बिचारि।
> बाज, पराऐँ पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि॥ ३००॥

इस दोहे में—

> आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय तव सारः।
> त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः॥ १००॥

इस आर्या का भाव दिखाई दे रहा है, पर, 'कुत्ते' के स्थान पर 'बिहंग' कहकर, बिहारी ने अपने दोहे का चमत्कार बढ़ा दिया है, क्योंकि यद्यपि 'सारमेय' शब्द भी साभिप्राय है, और कुत्ते की कुलीनता व्यंजित करता है, तथापि उसकी गति तथा पहुँच परिमित, भूमंडल ही तक है, और बिहंग (विहायसा गच्छतीति विहंगः) की स्वच्छंद गति अपरिमित आकाश तक है; एवं 'बिहंग की दृष्टि' भी बड़ी दूरदर्शिनी होती है। इस दूरदर्शिता के साथ 'देखि' शब्द का प्रयोग बड़ा ही समुचित हुआ है। इन बातों के अतिरिक्त 'पराऐं' तथा 'पच्छी' (पक्षी) शब्दों ने दोहे के भाव को बहुत ही उत्कृष्ट कर दिया है।

मोर-चंद्रिका स्याम-सिर चढ़ि कत करति गुमानु।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा-मानु॥ ६७६॥

इस दोहे में श्री गोवर्धनाचार्य जी की—

मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदः॥ ४३१॥
शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले।
फलमेतस्य भविष्यति तव चण्डीचरणरेणुमृजा॥ ५७८॥

इन दोनों आर्याओं के भाव बिहारी ने आकर्षित कर लिए हैं, पर 'सिर चढ़ि' तथा 'पाइनि पर लुठति' लोकोक्तियों ने दोहे में जो चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, वह आर्याओं से विशेष सरस तथा बिहारी के बाँटे की बात है।

'अमरुकशतक' के भी कई एक पद्यों का भाव बिहारी ने बड़ी सफलता से ग्रहण किया है। उनमें से निदर्शनार्थ एक दोहा लिखा जाता है।

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँहु चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गलु गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥ ६४२॥

बिहारी के इस दोहे में 'अमरुकशतक' के—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

विस्रब्धं परिचुंब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुंबिता ॥ ८२ ॥

इस श्लोक का भाव पूर्णतया झलक रहा है। इन दोनों पद्यों के भावों का एक हो जाना 'काकतालीय न्याय' किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। पर बिहारी ने अपने दोहे में अभीष्ट भाव के उपयुक्त आवश्यक बातें मात्र रक्खी हैं, और श्लोक के प्रथम चरण का भाव एवं अन्य कतिपय अनावश्यक शब्द सर्वथा छोड़ दिए हैं, जिससे दोहे में लाघव तथा सुघराई श्लोक की अपेक्षा अधिक आ गई है। 'मिसहा' के शब्द ने तो दोहे में बड़ा ही चमत्कार तथा जीवन का संचार कर दिया है।

बिहारी का—

प्रगट भए द्विजराजकुल सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराइ ॥ १०१ ॥

यह दोहा भी जान पड़ता है कि श्री गोवर्धनाचार्यजी की—

यं गणयंति गुरोरनु यस्यास्ते धर्मकर्म संकुचितम्।
कविमहमुशनसमिव तं तातं नीलांबरं वंदे ॥ ३८ ॥

इस आर्या के अनुकरण पर बनाया गया है। उधर श्री गोवर्धनाचार्य जी ने आर्या में अपने पिता की वंदना की है, और इधर बिहारी ने अपने पिता से क्लेशनिवारण की प्रार्थना। रूपकालंकार की प्रधानता दोनों ही छंदों में है। गोवर्धनाचार्य जी ने, अपने पिता के नाम (नीलांबर) में अंबर (आकाश) शब्द पाकर, उनकी तुलना शुक्र से की है, और बिहारी ने अपने पिता का नाम 'केशव' होने के कारण उनकी तुलना केशव भगवान् से।

एक बात यहाँ ध्यान देने की है कि श्री गोवर्धनाचार्य जी ने अपने पिता की तुलना जो शुक्राचार्य से की है, उससे उनके पिता का एक महान् कवि होना प्रतीत होता है। पर बिहारी ने जो अपने पिता की तुलना केशव भगवान् से की है, उससे उनका कोई बड़े कवि अथवा सिद्ध महात्मा होना व्यंजित होता है।

संस्कृत कोष तथा साहित्य के अतिरिक्त, बिहारी के कितने ही दोहों से उनका ज्योतिष तथा वैद्यक शास्त्रों में भी प्रवेश प्रतीत होता है। ज्योतिष के संबंध में उनके ४२,१०५, ६९०, ७०७ अंकों के दोहे द्रष्टव्य हैं, और वैद्यक के संबंध में १२०, ४७९ अंकों के दोहे।

संस्कृत के यथेष्ट विषयों के पंडित होने के अतिरिक्त, बिहारी के कितने ही दोहों से प्रतीत होता है कि, वे प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों तथा काव्यों के भी अच्छे ज्ञाता थे। उक्त भाषाओं के व्याकरणों का ज्ञान, गैन (गगन, गअन, गयन, गैन), केम (कदंब कदम, कअम, कयम, कइम, केम), नै (नदी, नई, नइ, नै), निय (निज, निअ, निय) इत्यादि शब्दों के प्रयोग से लक्षित होता है, क्योंकि ये रूप साहित्यक व्रजभाषा में सामान्यतः देखने में नहीं आते; पर प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों से सिद्ध होते हैं तथा ये अथवा इनके कोई पूर्व रूप उक्त भाषाओं में बर्ते भी जाते हैं। बिहारी का प्राकृत काव्यों का ज्ञान, उनके 'गाथासप्तशती' की कितनी ही गाथाओं के भावों को, अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार देकर, दोहों में निबद्ध करने से सिद्ध होता है। निदर्शनार्थ समानभाव के दो दो दोहे तथा गाथाएँ यहाँ दी जाती हैं—

तीज-परब सौतिनु सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे-मुँह करी इहीं मरगजैं चीर॥ ३१५॥

यह दोहा—

हल्लफलह्लाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम्।
अज्जाए मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम्॥ १॥ ७९॥
(उत्साहतरलत्वप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम्।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम्॥)

इस गाथा को देखकर अवश्य बनाया गया, पर बिहारी ने दोहे में 'मरगजे-मुँह करी' कहकर उसको गाथा से अत्यंत उत्कृष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त जिस सुंदरता से अनेक अलंकार इस दोहे को चमत्कृति प्रदान कर रहे हैं, वह शोभा गाथा में नहीं दिखाई देती।

बाम बाँह, फरकति; मिलैं जौ हरि जीवनमूरि ।
तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥ ५७२ ॥.

इस दोहे का भाव, गाथासप्तशती की—

फुरिए बामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरम् ।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम ॥ २।३७ ॥
(स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये—)

इस गाथा से लिया हुआ ज्ञात होता है। गाथा की उक्ति में वस्तुतः बड़ा अनूठापन है। पर प्रियतम के आगमन के समय एक आँख बन्द करके उसको देखना कुछ अस्वाभाविक, तथा अनुचित सा भी, अवश्य है। अतः गाथा का भाव तो बिहारी ने लिया, पर बाईं आँख के स्थान पर बाईं बाँह का फड़कना कहकर, और उसी को पुरस्कृत करने की प्रतिज्ञा कराकर, अपने दोहे को उक्त अस्वाभाविकता तथा अनौचित्य से बचा लिया, क्योंकि यदि बाईं बाहँ से भेटने में भी कुछ अनौचित्य हो तो भी, मिलनोत्सुकता में, इस बात पर ध्यान जाना कठिन है, कि नायिका ने पहले किस बाँह से भेंटा।

[खेद का विषय है कि कुछ दिनों से देव तथा बिहारी के पक्ष-पातियों की कुछ ऐसी दलबंदी हो गई है, कि एक पक्ष के लेखक बिहारी को, और दूसरे पक्ष के देव को, बिना विशेष विचार किए ही, भला बुरा कहा करते हैं जिससे इन दोनों ही कवियों की कविता पर धब्बा लगता है। स्मरण होता है कि कुछ दिन हुए किसी पत्रिका के किसी लेख में, बिहारी के इस दोहे की समालोचना करके, गाथा के भाव से दोहे के भाव को निकृष्ट ठहराया गया था। इसका उत्तर एक इसी प्रश्न से हो जाता है, कि प्रियतम के शुभ आगमन के समय कानी बनकर सामने खड़ा होना अच्छा है, अथवा उसको बाईं बाहँ से भेटना। यह स्मरण रखना चाहिए कि, किसी शुभ कार्य के समय कानी स्त्री का सामने आना बड़ा अशकुन माना जाता है।]

बिहारी ने ७०० दोहे बनाकर अपने ग्रंथ का नाम सतसई रक्खा, उससे भी उनका गाथा तथा आर्या-सप्तशतियों का पढ़ना, तथा उन्हीं की जोड़ पर अपनी सतसई बनाना, अनुमानित होता है।

बिहारी के और भी अनेक दोहों के समानार्थक श्लोक इत्यादि, आर्यासप्तशती, अमरुकशतक, गाथासप्तशती इत्यादि से उद्धृत करके, विद्वद्वर साहित्याचार्य श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने, अपने, संजीवन भाष्य में, बड़ी योग्यतापूर्वक तुलनात्मक समालोचना की है। पाठक महाशयों को यह विषय विशेषत: उक्त ग्रंथ में द्रष्टव्य है।

ऊपर जो बिहारी के कतिपय दोहों के समानार्थक संस्कृत श्लोक लिखे गए हैं तथा बिहारी के प्रयुक्त कुछ शब्दों तथा समासों पर टिप्पणियाँ की गई हैं, उनसे, जैसा कि इसके पूर्व कहा गया है, बिहारी का भिन्न भिन्न विषयों का पांडित्य प्रमाणित होता है, और यह अनुमान होता है कि उनको कविता करने की अपेक्षा विद्योपार्जन का व्यसन अधिक था; कविता वे आवश्यकतानुसार कभी कभी किया करते थे। पर तो भी, सतसई के अतिरिक्त उनकी और स्फुट कविताओं अथवा किसी ग्रंथ का प्राप्त न होना आश्चर्यजनक अवश्य है। यदि और कुछ नहीं तो, समय समय पर उन्होंने शाहजहाँ तथा आगरे के सरदारों इत्यादि के सुनाने को कुछ कविताएँ अवश्य ही बनाई होंगी, जैसा कि उनकी खानखानाँ वाली आख्यायिका के तीन दोहों से प्रमाणित होता है। यदि उन स्फुट कविताओं का भी कोई संग्रह होता, तो आशा है कि न्यून से न्यून सतसई की बराबर का उनका एक ग्रंथ और भी होता। पर, 'बिहारी-रत्नाकर' में स्वीकृत दोहों तथा कतिपय अन्य दोहों के अतिरिक्त, जो सतसई के भिन्न भिन्न क्रमों तथा टीकाओं में बिहारी के नाम से दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी और कोई रचना प्राप्त नहीं होती। अत: यह अनुमान युक्ति-युक्त जान पड़ता है कि वे समय समय पर कुछ स्फुट कविता तो अवश्य करते रहे, पर उनके हृदय में एक सुश्रृंखल तथा प्रयोगसाम्य साहित्यिक व्रजभाषा का ढाँचा स्थिर करने की उत्कंठा बनी रहती थी।

यह कार्य बड़ा कठिन तथा समयसाध्य था, जिसको वे, अपने संतोष के योग्य, कदाचित् अपने आमेर जाकर टिकने के कुछ ही पूर्व, कर पाए। उक्त कार्य में इतना समय लग जाना कोई आश्चर्य नहीं था। श्री पाणिनि जी ऐसे महर्षि के भी जीवन का बड़ा भाग ऐसे ही कार्य में लग गया था, यद्यपि उनकी सहायता के निमित्त उनके पूर्व के अनेक संस्कृत व्याकरण उपस्थित थे। बिहारी के लिये तो, जहाँ तक ज्ञात होता है, कोई ऐसा सहायक साधक भी नहीं था। वे भाषा का यथेष्ट ढाँचा बनाने में कहाँ तक कृतकार्य हुए, इसका अनुमान पाठकगण, जो कुछ उनके दोहों की भाषा के विषय में लिखा गया है, उससे कर सकते हैं। ज्ञात यह होता है कि जब उनके हृदय में उक्त ढाँचा बनकर तैयार हो गया, तो अपनी पूर्व रचनाओं की भाषा को उन्होंने उससे न्यूनाधिक विचलित पाकर, उनको दबा रक्खा, और विख्यात न होने दिया। कारण जो हो, इस समय तक सतसई के अतिरिक्त बिहारी का और कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है। हाँ, एक 'दूहा संग्रह' नामक १५-१६ सौ दोहों के ग्रंथ का जोधपुर में होना सुना जाता है, और यह भी ज्ञात हुआ है कि उसमें से कुछ दोहे बिहारी की सतसई के हैं। इससे यह अनुमान हो सकता है कि आश्चर्य नहीं, जो उक्त ग्रंथ सर्वथा बिहारी ही के दोहों का संग्रह हो, क्योंकि देवकीनंदन टीका में भी बिहारी की स्त्री का १४०० दोहा बनाना माना गया है। हमको स्वयं उक्त ग्रंथ के देखने का सौभाग्य नहीं हो सका।

संवत् १६७७-७८ से संवत् १६९१ तक बिहारी मथुरा, वृंदावन, तथा आगरे में, यथारुचि और यथावसर, रहकर अपनी विद्या की उन्नति करते रहे। इस अंतराल में वे प्रति वर्ष उन राजाओं में से, जिन्होंने उनका वर्षाशन नियत कर दिया था, दस बीस के यहाँ जाकर धनोपार्जन कर लाया करते थे। जोधपुर तथा बूँदी इत्यादि में जो उनका जाना सुना जाता है, वह भी संगत प्रतीत होता है, क्योंकि संभवतः वहाँ के राजा भी उक्त ५२ राजाओं में रहे होंगे।

इन यात्राओं में बिहारी को ४—६ बेर आमेर जाने का अवसर भी मिला होगा।

एक बेर संवत् १६६१ के अंत, अथवा संवत् १६६२ के आरंभ, में बिहारी अपना वर्षाशन लेने आमेर गए। उस समय वहाँ के महाराज, जयसिंह, कोई नवीन रानी ब्याह लाए थे, और उसके सौंदर्य तथा वय:संधि की छटा पर ऐसे मुग्ध हो रहे थे कि रात दिन उसी के महल में पड़े रहते थे, और राजकाज सर्वथा भूल गए थे। सुनने में तो यहाँ तक आया है, कि उन्होंने यह आज्ञा फेर दी थी कि, जो कोई किसी राज-काज की चर्चा से हमारे रंग में भंग डालेगा, उसका अंग भंग कर डाला जायगा। फिर भला किसका साहस था कि उनको कुछ चितावनी देता। उनके मंत्री, कर्मचारी, तथा सभासद् बहुत चिंतित थे, पर कर कुछ नहीं सकते थे। उनकी मुख्य महारानी अनतकुमारी नाम्नी, जो करौली के एक सरदार श्यामदास चौहान की पुत्री थीं और चौहानी रानी कह-लाती थीं, उस समय गर्भवती थीं। उनको भी महाराज के इस प्रकार नवीन रानी के फंदे में फँसने का बड़ा दु:ख था, क्योंकि एक तो सौतिया डाह, और दूसरे राजकाज की हानि।

बिहारी ने वहाँ पहुँचकर बहुत उद्योग किया कि उनका समा-चार राजा तक पहुँचे, पर किसी का साहस राजा से उनके आग-मन के वृत्तांत के जनाने का न पड़ा। अत: महीनों तक वहाँ बिहारी टिके रहे। आमेर गढ़ के पास ही ब्रह्मपुरी नाम की ब्राह्मणों की एक बस्ती थी, जो कि अब भी उसी नाम से जयपुर के पास ही विद्यमान है। उस समय उसमें आमेर राज्य के आश्रित कई एक कवि रहा करते थे; बिहारी ने भी अपना डेरा वहीं पर जमाया, कि कदाचित् राजा चेत कर बाहर निकल आवे, तो इतनी दूर का आना निष्फल न जाय।

बिहारी का आगमन सुनकर, महाराज के शुभचिंतक मंत्रियों, कर्मचारियों तथा चौहानी रानी जी ने, जो कि बड़ी चतुर थीं, बिचारा कि यह बादशाह का दरबारी कवि है, और स्वयं बादशाह का कृपा-

पात्र तथा स्तुत है, अतः यदि यह कोई चितावनी महाराज को देने का साहस करे तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि रुष्ट होने पर भी महाराज इसको कदाचित् दंड देना उचित न समझेंगे। इस विचार से राज्य के मुख्य मंत्रियों तथा कर्मचारियों ने, आमेर गढ़ की विनायक पौरि के सामने के दालान में, एक बैठक की, और एक लाल ढाल वाला मिरदहा भेजकर, परामर्श के निमित्त, बिहारी को वहाँ बुलवा भेजा। उनके वहाँ पहुँचने पर, मुख्य मंत्री जी ने बड़े सन्मान से आगे बढ़कर उनका स्वागत किया, और उक्त गोष्ठी में आसन देकर, सब वृत्तांत सुनाने के पश्चात् कहा—यदि आप महाराज को कोई चितावनी देने का साहस करें तो बड़ा काम हो, क्योंकि राजकाज में बड़ी हानि पहुँच रही है। महाराज के बाहर निकलने से चौहानो रानी जी भी आपसे बहुत प्रसन्न होंगी।

बिहारी जी कवि तो थे ही, जिन बातों पर उन लोगों ने महीनों में विचार किया था, वे उनके हृदय में क्षणमात्र में घूम गईं। अतः उन्होंने आगा पीछा सोचकर कहा, कि यदि आप लोग मेरा एक दोहा तथा मेरे आने का समाचार राजा तक पहुँचवाने का साहस करें तो मैं चितावनी देने को तैयार हूँ। मुझे पूर्ण आशा है कि राजा मेरा दोहा पढ़कर अवश्य बाहर निकल आवेगा, और यह तो मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि इसमें आप लोगों की कोई हानि कदापि न होगी। इस पर उन लोगों ने बिहारी का दोहा राजा के पास पहुँचवाना स्वीकृत किया। बस फिर बिहारी ने—

"नहिँ परागु नहिँ मधुरु मधु नहिं बिकासु इहिँ काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल" ॥ ३८ ॥

यह दोहा लिखकर एक वर्षवर (ख़ाजेसरा) को दिया, और उसने उसको ड्यौढ़ी पर ले जाकर किसी परिचारिका के हाथ राजा के पास पहुँचवा दिया।

इधर तो ये लोग दोहा भेजकर बड़ी उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे, उधर जब राजा के पास दोहा तथा बिहारी के आने का संवाद पहुँचा, तो दोहे के सरस अन्योक्तिगर्भित उपदेश

की छींट से उसकी आँखें खुल गईं, और फिर शाहजहाँ के ध्यान के धक्के तथा राजकाज की चिंता से उसका प्रेमोन्माद एकाएक उतर गया। अब तो उसने यह सोचा, कि यदि बिहारी यहाँ से मेरी यह दशा देखकर निरादरपूर्वक लौट जायँगे तो मेरे लिये अच्छा न होगा। अभी राज्य को ख़ालसा से छूटे थोड़े ही दिन हुए हैं। मेरी इस स्त्रैणता का वृत्तांत बादशाह के कानों तक पहुँचने पर, सो भी एक कवि के मुख से, न जाने क्या आपत्ति आवे। दोहे के 'आगैं कौन हवाल' पद के गूढ़ार्थ का भी उस पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा, और उसने यह सोचा कि बिहारी को तुष्ट कर लेने ही में कुशल है। बस वह उक्त कागज तथा पसर भर स्वर्ण मुद्राएँ लिए हुए रंगमहल से बाहर निकल आया, और बिहारी को बुलाकर, उनकी बड़ी प्रशंसा कर और स्वर्ण मुद्राएँ दे, कहने लगा कि हम आपसे बहुत प्रसन्न हुए।

एक तो बिहारी की कविता मनोहारिणी होती ही थी, दूसरे जयसिंह बड़ा दूरदर्शी, नीतिकुशल तथा अवसरज्ञ था, जैसा कि उस समय के इतिहासों से विदित होता है। अतः उसने यह सोच-कर कि, यदि बिहारी कुछ दिनों यहाँ अटक रहें तो अच्छा है, यह भी कहा कि आपका दोहा बड़ा उत्तम है; आप ऐसे ही और दोहे बनाएँ; प्रति दोहा मैं एक मोहर आपकी भेंट करूँगा।

जब राजा के बाहर निकल आने का समाचार चौहानी रानी ने सुना, तो वे बड़ी प्रसन्न हुईं और बिहारी को अपनी ड्योढ़ी पर बुलवा-कर बहुत कुछ पारितोषिक तथा काली पहाड़ी ग्राम प्रदान किया, और कहा कि, आप हमारी ड्योढ़ी के कवि होकर आमेर में निवास करें। उन्होंने उक्त घटना-संबंधी बिहारी का एक चित्र भी बनवाया, जो कि अभी तक जयपुर के एक महल में विद्यमान है। उस चित्र से उक्त घटना का समाचार सं० १६९२ का प्रतीत होता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। उधर तो राजा ने उनसे और दोहे बनाने का अनुरोध किया था, और इधर रानी ने उनका यथेष्ट सम्मान करके वहाँ रहने का आग्रह किया। इसके अतिरिक्त आमेर के मंत्रियों

तथा कर्मचारियों में भी बिहारी का विशेष आदर सत्कार होने लगा, और उनको जो ग्राम मिला, उसकी देखभाल के निमित्त भी कुछ दिनों सन्निकट रहना अभीष्ट था। अतः बिहारी आमेर में कुछ दिनों ठहरना निश्चित कर ब्रह्मपुरी में रहने लगे, क्योंकि उस समय आमेर में कई एक कवि—सुंदर, चतुरलाल, मंडन, गंग, गोपाललाल, मुकुंद इत्यादि—थे, और वे कदाचित् ब्रह्मपुरी ही में रहते थे।

उक्त घटना के दो ही तीन महीने पश्चात्, चौहानी रानी के गर्भ से महाराज जयसिंह के उत्तराधिकारी, कुमार रामसिंह जी, उत्पन्न हुए। उस अवसर पर अनेक कवियों ने महाराज जयसिंहजी की प्रशंसा में कविताएँ कीं। बिहारी ने भी यह दोहा पढ़ा—

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल॥ १५६॥

फिर उक्त अवसर के उपलक्ष्य में, महीने दो महीने के पश्चात्, कोई बड़ा दरबार 'दर्पण-मंदिर' में हुआ। उसमें बिहारी ने महाराज जयसिंह की शोभा का वर्णन, इस दोहे में, किया—

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति-दीपति दरपन-धाम।
सब जगु जीतन कौं करयौ काय-व्यूहु मनु काम॥ १६७॥

इसी बीच में ज्ञात होता है कि किसी 'लाखन' नामक व्यक्ति की सेना को जयसिंह ने मार भगाया था, जिस पर बिहारी ने यह दोहा बनाया था—

रहति न रन, जयसाहि-मुखु लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊँ चलै लै लाखनु की मौज॥ ८०॥

इसी प्रकार बिहारी समय समय पर दोहे बनाते, और पुरस्कृत होते रहे। समयानुकूल दोहों के अतिरिक्त, वे और भी ५-५, ७-७ दोहे बनाकर दरबार में ले जाने, और मोहरें लाकर सुख से जीवन व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार बिहारी का जीवन आठ दस वर्ष तक बड़े सुख से अन्य कवियों के संग संग व्यतीत हुआ। जान पड़ता है, सं० १७००

के कुछ पूर्व ही कुमार रामसिंह जी का विद्यारंभ हुआ। चौहानी रानी के पूज्य बिहारी हो ही रहे थे, अतः उन्हीं के द्वारा यह शुभ कार्य कराया गया। उस समय बिहारी को बहुत कुछ दान दक्षिणा मिली। संभव है कि 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम पहले न मिलकर इसी अवसर पर मिला हो। उसके वर्ष दो वर्ष पश्चात् कुमार रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त बिहारी ने एक दोहों का संग्रह बना दिया। उस समय तक सतसई पूरी नहीं हुई थी। अतः उन्होंने उक्त संग्रह में ४९३ दोहे तो अपने रखे, और थोड़े थोड़े अन्य कवियों के। यह वही संग्रह था, जिसकी अनुलिपि हमारी प्रथम अंकवाली पुस्तक है।

अनुमान होता है कि इस अंतराल में बिहारी ने अपनी स्त्री को भी आमेर में बुलवा लिया था। बिहारी के वंशजों से ज्ञात हुआ है कि बिहारी को स्वयं अपनी संतान कोई नहीं थी, अतः उन्होंने अपने भाई के एक 'निरंजन' नामक पुत्र को अपना लिया था। उक्त पुत्र भी कदाचित् बिहारी के पास ही रहता था। बिहारी के एक वंशज श्री पं० अमरकृष्णजी के पत्र से तो उक्त पुत्र का नाम निरंजन होना प्रमाणित होता है, पर जो किंवदंतियाँ सुनी जाती हैं उनमें बिहारी के पुत्र का नाम 'कृष्णलाल' कहा जाता है। संभव है कि उक्त पुत्र का नाम 'निरंजनकृष्ण' रहा हो, जिससे उसको कोई 'निरंजन' और कोई 'कृष्ण' कहता रहा हो। यह अनुमान इस बात से भी पुष्ट होता है कि बिहारी के कई एक वंशजों के नामों के अंत में 'कृष्ण' शब्द आया है, जैसे—बालकृष्ण, गोकुल-कृष्ण, अमरकृष्ण इत्यादि।

ज्ञात होता है कि बिहारी कभी कभी अपने प्राप्त ग्राम 'काली पहाड़ी' भी जाया आया करते थे, क्योंकि एक तो कुछ प्रबंध करना होता था, और दूसरे वह उनकी जन्मभूमि के सन्निकट था। इन्हीं यात्राओं में कदाचित् ग्राम-वधूटियों के भाव देखकर उन्होंने समय समय पर उनका वर्णन भी अपने दोहों में कर दिया है, जैसे—९३,२४८,७०८ इत्यादि अंकों के दोहों में। यह भी प्रतीत होता

है, कि ग्वालियर इत्यादि में उनकी कविता का सन्मान अधिक नहीं होता था। यह बात उनकी कई एक अन्योक्तियों से लक्षित होती है। देखो दोहे अंक ४३८,६२४।

बिहारी का गाथासप्तशती तथा आर्यासप्तशती का ज्ञाता होना तो ऊपर कहा ही जा चुका है। कुछ दोहों के बनने के पश्चात् या तो उन्होंने स्वयं ही उक्त सतसइयों के जोड़ पर एक सतसई बनाना निश्चित किया, अथवा महाराज जयसिंह जी के कहने से। जो कुछ हो, सतसई-निर्माण पर उनका लक्ष्य होना इस दोहे से विदित होता है—

हुकुम पाइ जयसाहि कौ हरिराधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद॥ ७१३॥

संवत् १७०४ के जाड़ों में, ज्ञात होता है कि, उन्होंने अपनी संकलित सतसई पूरी कर दी। उसी साल महाराज जयसिंह औरंगज़ेब के साथ बलख़ की चढ़ाई पर गए थे, और वहाँ से बड़ी चतुरता तथा वीरता से बादशाही सेना को पठानों तथा बर्फ़ से बचा लाए थे, जैसा कि 'यौं दल काढ़े० ७११' इस दोहे की टीका में कहा गया है। उक्त कार्य के निमित्त उनको आगरे आने पर बड़ा सन्मान प्राप्त हुआ था। आमेर लौटने पर, उनके ऐसी कठिन चढ़ाई पर से सकुशल लौट आने तथा बादशाही दरबार में विशेष रूप से सम्मानित होने के उपलक्ष्य में, बड़ा उत्सव मनाया गया, और कोई दरबार भी किया गया। 'बिहारी-सतसई' के 'हुकुम पाइ०' दोहे को मिलाकर ७१० दोहे तैयार हो चुके थे, अतः उन्होंने उक्त घटना की प्रशंसा के—

सामाँ सेन, सयान की सबै साहि कैं साथ।
बाहु-बली जयसाहि जू, फते तिहारैं हाथ॥ ७१०॥
यौं दल काढ़े बलक तैं, तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ, गुवाल॥ ७११॥
घर घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि॥ ७१२॥

ये तीन दोहे बनाकर, और उनको 'हुकुम पाइ० ७१३' इत्यादि दोहे के पूर्व रखकर, कदाचित् उक्त दरबार ही में अपनी सतसई, ग्रंथ रूप से, महाराज को भेंट कर दी।

अनुमान से जान पड़ता है, कि, इस घटना के कुछ पूर्व ही, बिहारी की स्त्री का देहांत हो गया था, जिससे उनका चित्त संसार से कुछ विरक्त सा हो रहा था। एक तो वे आरंभ ही से वृंदावन के भक्त थे, और दूसरे उस समय की चित्त-वृत्ति ने उनका हृदय वृंदावन की ओर और भी आकर्षित किया। अतः वे महाराज से बिदा होकर आमेर से चले आए।

यदि निरंजन जी तथा कृष्णलाल कवि के एक ही होने का अनुमान युक्त माना जाय, तो एक कृष्ण कवि के विषय में जो बिहारी के पुत्र होने की किंवदंतियाँ प्रायः सुनी जाती हैं, वे ठीक ठहरती हैं। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि, इस नाम से धोखा खाकर, जो प्रायः लोगों ने, सतसई की कवित्तोंवाली टीका के कर्ता कृष्णदत्त को बिहारी का पुत्र मान लिया है, वह सर्वथा भ्रम है। बिहारी के पुत्र यदि कोई कृष्ण कवि हो सकते हैं, तो वे हो सकते हैं, जिनकी सतसई पर गद्य टीका है। निरंजन जी तथा कृष्णलाल जी दोनों व्यक्तियों के एक ही होने के अनुमान के अवलंब पर, हम कुछ और बातें भी यहाँ लिखना अनुपयुक्त नहीं समझते।

जान पड़ता है, कि आमेर से चलते समय बिहारी ने अपने पोष्य पुत्र को जयसिंह तथा रामसिंह जी के पास छोड़ दिया था, जो कि कुछ दिनों के पश्चात् उन लोगों के द्वारा बादशाही दराबर तक भी पहुँच गए, जैसा कि उनके औरंगजेब की प्रशंसा के कवित्त बनाने से प्रतीत होता है। बिहारी के जीवनकाल ही में उन्होंने कदाचित् कुमार रामसिंह जी के अनुरोध से बिहारी सतसई की एक गद्य टीका भी रची। उसकी समाप्ति का समय इस दोहे से—

संबत ग्रह ससि जलधि छिति छठि तिथि बासर चंद।
चैत मास पख कृष्न में पूरन आनँदकंद॥

संवत् १७१९ की चैत्र कृष्ण ६ सोमवार ठहरता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मासों के सामान्य-मान-प्रचार के अनुसार इस दोहे में दी तिथि तथा वार का मिलान नहीं होता, पर अमांतमास के मान से मिलान हो जाता है। अमांतमास मान की गणना से सामान्य चैत्र कृष्ण वैशाख कृष्ण होता है। यह दोहा सतसई की समाप्ति का न होकर उक्त टीका की समाप्ति का है, यह हम अन्यत्र कह चुके हैं।

किसी किसी का यह भी कथन है कि बिहारी आमेर से बिदा होने पर जोधपुर, बूँदी इत्यादि राज्यों में भी गए थे, और बहुत संभव है कि उन्होंने वर्षाशन के उगाहने के निमित्त ऐसा किया हो। पर, जो हो, यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे आमेर छोड़कर, चाहे सीधे चाहे और राज्यों में घूमते फिरते, अपने गुरु श्री नरहरि जी के पास वृंदावन गए, और, अपना शेष जीवन वहीं शांतिपूर्वक भगवद्भजन में व्यतीत करके, संवत् १७२१ में परमधाम को सिधारे।

श्री वृंदावन धाम में निवास करते समय मथुरा में उनसे जोधपुराधीश, महाराज श्री जसवंतसिंह जी, से भी भेंट हुई थी, जिसका विवरण साहित्याचार्य स्वर्गीय श्री पं० अंबिकादत्त जी व्यास ने यों दिया है—"बिहारी कवि भ्रमण करते हुए श्री मथुरा में आए। दैवात् इस समय वहाँ जोधपुर के महाराज श्री जसवंतसिंह बहादुर भी आए थे। (जसवंतसिंह ने सं० १६९५ से सं० १७३६ तक राज्य किया था।) महाराज ने बहुत दिनों से उनकी प्रशंसा सुनी थी, और बिहारी ने भी 'भाषाभूषणकार' जसवंतसिंह की चिरकाल से कीर्ति सुनी थी। दोनों को परस्पर मिलने की उत्कंठा थी। यहाँ भेंट होने से दोनों को बड़ा आनंद हुआ। महाराज ने कहा "थारी कविता में सूनो लाग गयो।" अर्थात् तुम्हारी कविता में कीड़े पड़ गए, घुन लग गए, जीव पड़ गए, इत्यादि। बिहारी कुछ न समझे, घर चले आए। बिहारी की बेटी* बड़ी बुद्धिमती थी। उसने उदास पिता को देख

* बिहारी के किसी बेटी का होना और किसी भी ग्रंथ से प्रकट नहीं होता।

विचारपूर्वक कहा कि 'इसका यह तात्पर्य विदित होता है कि आपकी कविता सज़ीव है।' दूसरे दिन बिहारी ने यह अर्थ महाराज को सुनाया, तो वे प्रसन्न हुए और कहा कि मैंने इसी तात्पर्य से कहा था।"

किसी किसी का यह भी अनुमान है कि जसवंतसिंह जी का भाषाभूषण नामक ग्रंथ बिहारी ही का रचित है। यद्यपि 'भाषा-भूषण' के दोहे बड़ी ही उच्चकोटि के, तथा रचनालाघव के आदर्श, कहे जा सकते हैं, एवं उनकी भाषा भी बहुत ही सुथरी हुई है, तथापि जो टिकसाल बिहारी ने अपनी भाषा के लिये स्थापित की थी, उससे प्राय: उसकी भाषा बाहर हो जाती है। इससे यदि वह बिहारी-रचित हो भी तो सतसई के पश्चात् का तो हो नहीं सकता; पर हाँ, यदि सतसई के पूर्व का हो तो ईश्वर ही जाने।

खेद का विषय है कि जिस प्रकार बिहारी की सतसई के पूर्व की कोई रचना नहीं मिलती, उसी प्रकार उसके पश्चात् की भी कोई कृति देखने में नहीं आती। ज्ञात होता है कि वृंदावननिवास करने पर बिहारी सर्वथा भगवद्भजन तथा महात्माओं के सत्संग में लगे रहते थे। कविता का व्यसन उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया था। हमने स्वयं वृंदावन जाकर श्री मौनीदास जी की टट्टी इत्यादि स्थानों में खोज की, पर उनकी किसी कविता का कहीं कुछ पता नहीं मिला।

जैसा कि आरंभ में निवेदन किया गया है, इधर उधर से कुछ बातें एकत्रित करके, उन पर अनुमान को अवलंबित कर यह जीवनी सुशृंखल रूप में लिखने का यत्न किया गया है। इसमें अनेक त्रुटियों तथा अशुद्धियों की संभावना है। अत: पाठकों से सविनय निवेदन है कि यदि उनकी दृष्टि में कोई त्रुटि आवे, अथवा उनको और कोई वृत्तांत बिहारी के संबंध में विदित हो तो वे कृपया सूचित कर दें, जिसमें इस जीवनी में यथोचित सुधार कर दिया जाय। इसी विचार तथा आशा से यह अभी नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कर दी जाती है कि जिसमें भूमिका में सन्निविष्ट होने के पहिले इसमें यथेष्ट सुधार तथा न्यूनाधिक्य हो सके।

प्राचीन शल्य-तंत्र

[लेखक—कविराज श्री अत्रिदेवजी गुप्त बी० ए० भिषग्रत्न, गुरुकुल, कांगड़ी]

(ना० प्र० पत्रिका भाग ८ सं० १ पृ० ४७ से आगे)

तालयंत्र

ताल शब्द का कोई मछली के छिलके (scales) अर्थ करते हैं और कोई तालु (palate) अर्थ करते हैं। यह दो प्रकार के होते थे। एक जिसमें एक ताल लगा हो, और दूसरा जिसमें दो ताल लगे हों। इनकी लंबाई १२ अंगुल होती थी। इनका कार्य कान, नाक आदि में प्रविष्ट शल्य के निकालने में होता था*।

नाड़ीयंत्र

यह नाना प्रकार के होते थे। इनकी संख्या २० थी। इनमें से कुछ यंत्र दोनों ओर से खुले होते थे, और कुछ एक पार्श्व से बंद होते थे; एवं कुछ में अनेक छेद होते थे। इनके कार्य निम्न प्रकार के थे—

(१) स्रोतों में फँसे हुए शल्य को देखने एवं निकालने में।

(२) आशयों (cavities) का निरीक्षण करने में।

(३) कार्य में सुगमता होने के लिये।

(४) आशय में भरे द्रव्य के आचूषण करने में†।

---

* तालयंत्रे द्वादशांगुले मत्स्यतालवदेकतालद्वितालके।
कर्णनासानाड़ीशल्यानामाहरणार्थम्।
सुश्रुत।

† नाड़ीयंत्राणि सुषिराण्येकानेकमुखानि च।
स्रोतोगतानां शल्यानामाशयानाञ्च दर्शने॥
क्रियाणां सुकरत्वाय, कुर्यादाचूषणाय च।
तद्विस्तारपरीणाहदैर्घ्यं स्रोतोऽनुरोधतः॥
सुश्रुत।

इनकी लंबाई और चौड़ाई निश्चित नहीं थी। स्रोतज्ञों के अनुसार बनाए जाते थे।

कंठशल्यावलोकिनी

इसका उपयोग गले में फँसे शल्य को निकालने में किया जाता था। सुश्रुत ने गले में फँसे शल्य को निकालने के लिये दो तीन विधियाँ दी हैं। यथा—

(१) एक लोहे की गरम शलाका को अन्य शीत शलाका में रखकर गले में प्रविष्ट करें। इसकी उष्णिमा से या तो वह वस्तु पिघल जायगी, या घुल जायगी, अथवा इसके साथ चिपक जायगी। फिर धीरे धीरे बाहर कर लें।

(२) लाख या मोम को पिघलाकर शलाका में लगा दें, जिससे वस्तु चिपककर बाहर आ जायगी*।

(३) इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने कंठ में फँसे शल्य को निकालने की एक अन्य विधि दी है। इसमें एक बालों का ब्रुश (केशोंडुक) एक दृढ़ धागे से बाँधकर रोगी को निगलवा देते हैं; और धागा अंदर न चला जाय, इसलिये एक दूसरे सिरे पर एक लकड़ी बाँध देते हैं। शल्य निकालने के लिये रोगी को बहुत सा पानी पिलाकर वमन कराते हैं जिससे शल्य बाहर हो जाता है। यदि शल्य पार्श्व में लगा हो तो ब्रुश से बाहर कर लें। यह विधि ग्रास शल्य में अधिक प्रशस्त है।

पंचमुखी और त्रिमुखी

ये चतुष्कोण एवं तीन कोणवाले बाण को शरीर से निकालने में प्रयुक्त होती थीं †।

---

* "दशांगुलार्द्ध नाहान्तः कण्ठशल्यावलोकिनी नाड़ी"।
जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडिं प्रवेश्याग्नितप्ताञ्च शलाकां॥
तथावगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतमुद्धरेत्।
अजातूषं मधूच्छिष्टलिप्तया शलाकया पूर्व्वकल्पेन॥

सुश्रुत।

† नाड़ीपंचमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य संग्रहे।
वारङ्गस्य द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः॥

शल्य-निर्घातनी

इस यंत्र का एक सिरा कमल के समान होता था। दूसरा सिरा खुला एवं चार भागों में विभक्त होता था। इसकी लंबाई १२ अंगुल होती थी। इसका उपयोग शरीर में गंभीर प्रविष्ट हुए शल्य को निकालने में होता था। कारण, इससे पकड़कर शल्य को चारों ओर घुमाकर ढीला कर सकते थे *।

सुश्रुत ने दृढ़ संलग्न शल्य को निकालने के लिये लोहे के एक हथौड़े का उपयोग करने को कहा है जिससे शल्य ढीला करके बाहर निकालते थे।

अर्शोयंत्र

यह यंत्र हाथीदाँत, लोहे, सींग या लकड़ी के बनाए जाते थे। इनका आकार गौ के स्तन के समान होता था एवं बीच से ये खोखले होते थे। पुरुषों के लिये इनका आकार चार अंगुल और परिधि पाँच अंगुल होती थी। परंतु स्त्रियों के लिये अधिक चौड़े और ६ अंगुल परिधि के बनाए जाते थे। इनमें दो छेद होते थे। एक छेद से रोग की परीक्षा की जाती थी और दूसरे छेद से क्रिया करते थे। यह क्रिया प्रायः क्षार एवं दाह द्वारा होती थी। छिद्र की लंबाई तीन अंगुल और परिधि अंगुष्ठ के बराबर होती थी। छिद्र से आध अंगुल की दूरी पर आधा अंगुली भर ऊँचा एक गोल उभार होता था †।

वाग्भट्ट ने उपर्युक्त दोनों अर्थों के लिये दो भिन्न भिन्न यंत्रों का उपयोग बताया है। इनकी लंबाई और परिधि एक समान होती थी। ये दोनों इकट्ठे प्रयुक्त होते थे। एक के द्वारा रोग-परीक्षा की जाती थी और दूसरे से क्रिया कर्म।

---

* पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशी द्वादशांगुला।
चतुर्थशुषिरा नाड़ी शल्यनिर्घातनी मता॥

† अर्शसांगोस्तनाकारं यंत्रकं चतुरङ्गुलम्।
नाहे पंचाङ्गुलं पुंसां प्रमदानां षडङ्गुलम्॥
द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रन्तु कर्मणि।

वाग्भट्ट।

इसी प्रकार के एक और यंत्र का वर्णन आता है, जिसके पार्श्वों में छेद नहीं होते थे। उसके द्वारा मस्से देखे जाते थे। इस यंत्र को शमीयंत्र कहते थे * ।

इसी प्रकार के अर्शयंत्र का घोड़ों के अर्श (piles) देखने में भी व्यवहार किया जाता था † ।

भगंदर यंत्र

इसका आकार, और लंबाई अर्श यंत्र के समान ही होती थी; परंतु उभार (कर्णिका) नहीं होता था। आकार अर्द्धचंद्र के समान होता था ‡ ।

नासायंत्र

इसका स्वरूप अर्शयंत्र के समान होता था। इसका उपयोग नासार्बुद (Tumour of the Nose) एवं नासार्श न (Palypas of the Nose) देखने में होता था। यह आकार में अर्शयंत्र से छोटा तथा परिधि में पतला होता था। इसकी लंबाई दो अंगुल और छिद्र तर्जनी उँगली जाने योग्य होता था। इसमें एक ही पार्श्व होता था§।

इसके द्वारा नासिका में फूत्कार द्वारा चूर्ण (प्रधमन नस्य) भी प्रविष्ट किया जाता था ×। नासिका में औषध समान रूप से पहुँचाने

---

* शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यंत्रमर्शःप्रपीडनम् ॥

† अर्शस्तेन तु वाहस्य द्विच्छिद्रेण विलोकयेत् ।
एकच्छिद्रेण वै कर्म कुर्य्याच्छेदादिपूर्वकम् ॥ — अश्वविद्या ।

‡ "सर्वथाऽपनयेदोष्ठं छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे ॥"
"छिद्रादूर्ध्वं हरेदोष्ठं अर्शो यंत्रस्य यंत्रविद् । — वाग्भट्ट ।
ततो भगन्दरे दद्यात् एतदर्धेन्दुसन्निभम् ॥ — सुश्रुत

§ "घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाडी, द्व्यङ्गुला, प्रदेशनीपरिणाहा स्याद् भगन्दरयंत्रवत् ।"

× "ध्मानं विरेचनं चूर्णं युञ्ज्यात् तु मुखवायुना । — वागभट्ट ।
"......नावनं चूर्णश्चैषां प्रधमने हिताम् ।" — चरक ।

के लिये भगवान् बुद्ध ने "यमल नतुकरनी" (Double Nose spoon) बनाने की आज्ञा दी थी* ।

चक्रदत्त और शार्ङ्गधर में इनका आकार ६ अंगुल बताया है। इनका छिद्र नासा के छिद्र के बराबर कहा है† ।

नासा में तेल डालने के लिये फाहा तैल में भिगोकर नली में रखकर नासा में प्रविष्ट करते थे‡ । नासास्थि के भंग (Fracture of the Nasal bone) तथा Rhinaplastic operation में नाड़ी का उपयोग करने को कहा है§ ।

अंगुलित्राण

इसका आकार कौए की चोंच के समान और लंबाई चार अंगुल होती थी। इसका उपयोग रोगी का मुख खोलने में होता था। इससे उँगलियों की रक्षा होती थी। इस कार्य के लिये आजकल Mouth gang नामक यंत्र व्यवहृत होता है × ।

योनिव्रणेक्षण

इसकी लंबाई १६ अंगुल और परिधि ६ अंगुल होती थी। इसमें चार फलक होते थे जो आधार (जड़) पर जुड़े हुए होते थे।

---

* राजा पिंदिवलक के सिर दर्द के लिये नासा में नस्य देने के लिये नतुकरणी एवं यमक नतुकरणी का आदेश भगवान् ने दिया था। देखिए महावग्ग।

† षडंगुला द्विवक्त्रा या नाड़ी चूर्णतयाधमेत्।
तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हितम् ॥

‡ नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत्।
उष्णं भैषज्यं पुनर्नाड्या पिचुनाऽथवा ॥

§ (१) नासासन्नां विवृत्तां वां ऋज्वीं कृत्वा शलाकया।
पृथग् नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत् ॥
(२) सुसंहितं सम्यगथो यथावन्नाड़ीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बध्वा......।
सुश्रुत।

× तत्र वक्त्र विवृत्तौ संवृत्तमुखस्यातुरस्य मुखव्यादाननिमित्तं सुखं सुखकरं स्यात्। त इदं दंतघातात् रक्षति।
अंगुलीर्दंतेभ्यो रक्षणार्थत्वादंगुलीत्राणमिति नाम।
सुश्रुत।

खुलने पर इसका आकार कमल के समान होता था। फलकों को चिकित्सक अपने इच्छानुसार खोल एवं बंद कर सकता था*।

एक अन्य प्रकार का योनिव्रणेक्षण होता था, जो भैंसे के सींग को बीच से सीधा काटकर बनाया जाता था। क्रिया के समय इसका नतोदर पृष्ठ सामने रहता था। आजकल व्यवहृत होनेवाला Veginal spaculum स्वरूप में इससे विभिन्न नहीं होता।

व्रणवस्ति

यह वस्ति वातिक व्रणों में, विशेषतः कटि से निचले भाग में, मूत्राघात, मूत्रदोष, अश्मरी, आर्त्तवदोष, शुक्रदोष और मूत्रमार्ग के व्रणों में प्रयुक्त होती थी। इसके लिये दो प्रकार के यंत्र बनाए जाते थे। एक के द्वारा स्नेह सिंचन किया जाता था और दूसरे से व्रणों का विशोधन किया जाता था। वर्त्तमानकाल में भी दो एनिमा व्यवहृत होते हैं। एक के द्वारा या दूध अन्य तरल भोजन गुदा द्वारा देते हैं; और दूसरा व्रण या अन्य कार्य में व्यवहृत होता है†।

इसके साथ एक नाड़ी और चमड़े का बैग लगा रहता था। नली गोल, चिकनी, गौ के स्तन की भाँति आगे से पतली और जड़ में मोटी, ६ अंगुल लंबी होती थी। इसका आगे का भाग मटर के दाने के बराबर होता था। मुख से कुछ दूरी पर एक गोल उभार होता था।

---

* योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशांगुलम्।
मुद्राबद्धं चतुर्भिस्तमम्भोजमुकुलाननम्॥
चतुः शलाकमाक्रांतं मूले तद्विकसन्मुखे।
वाग्भट्ट।

† मूत्राघाते, मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरी व्रणे।
तथैवार्त्तवदोषे च, वस्तिरप्युत्तरो हितः॥
विशेष बातें जानने के लिये देखिए "वस्ति यंत्र"

दकोदर के लिये

इस रोग की चिकित्सा के लिये नाड़ी किसी धातु अथवा मोर के पंख के समान खोखली वस्तु की बनाई जाती थी। इसके दोनों ओर मुख होता था। कोष का बंधन व्रीहिमुख (Trocar) करने के पश्चात् इस नाड़ी (Cannula)* से पानी बाहर किया जाता था। यह नाड़ी ताँबे वा टिन की भी होती थी; इसको Empyema (उरो गुहा में पूयोत्पत्ति) में भी प्रयुक्त कर सकते थे।

वृद्धि (Hydrocele) रोग के लिये

इसकी भी रचना उपर्युक्त यंत्र के समान होती थी। इसमें भी व्रीहिमुख से भेदन कर उपर्युक्त की भाँति पानी निकाल देते थे। कोई कोई चिकित्सक छेदन करके पानी निकालते थे †।

निरुद्ध प्रकर्ष (Stricture in urethra) में लौह नाड़ी‡

जब मूत्रमार्ग अवरुद्ध हो जाता था, तब शलाका (Bougie or catheter) द्वारा खोला जाता था। यह शलाकाएँ लोहे वा

---

* (१) द्विद्वारा नलिका, पिच्छनलिका वा दकोदरे।

(२) तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं, द्विद्वारां पत्त्रनाडीं वा संयोज्य—दोषोदकमवसिञ्चेत्।

आजकल Trocar और cannula साथ ही बना आता है, जिसमें नाड़ी स्वयं विद्ध करने पर प्रविष्ट हो जाती है। जैसा Ascites रोग में करते हैं।

† सेविन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद् भिषक्॥

‡ (१) निरुद्धप्रकर्षे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम्।
दारवीं वायसकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत्॥
त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ् नाडीं प्रवेशयेत्॥

इस रोग की चिकित्सा अथर्ववेद प्रथम अध्याय में भी विस्तार से आई है। उसमें इसी प्रकार बंध को आन्त्र, गविनी (Uraters), वस्ति (Prosletic uretratia), मेहन (Urethra) और योनि (Vagina) में से वर्त्ति द्वारा तोड़ने का विधान है।

(२) सेवनीं त्यक्त्वा शस्त्रेण वा मूत्रस्रोतःसंकोचकराणां चर्म विदारयेत्।
(३) सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकर्षक्रिया।

वाग्भट्ट।

लकड़ी की बनी होती थीं। प्रविष्ट करने से पूर्व उन पर घी लगा दिया जाता था। प्रविष्ट करने के समय सूक्ष्म से आरंभ करके शनैः शनैः स्थूल को प्रविष्ट करते थे। शलाका को छिद्र के विस्तार के लिये तीन दिन तक वहीं रखते थे अथवा तीन दिन तक एक का ही प्रयोग करते थे। यदि इस प्रकार सफलता नहीं होती थी तो शल्य-कर्म करते थे* ।

यही क्रिया सन्निरुद्ध गुदा (Stricture in rectum) में भी की जाती थी। यह शलाकाएँ स्वर्ण की भी बनाते थे।

वस्तियंत्र

इस यंत्र में एक बैग और एक नली होती थी। यह नली किसी धातु या लकड़ी की बनाई जाती थी जो कि चिकनी, साफ, दृढ़ और गौ की पूँछ की भाँति जड़ से मोटी और आगे से पतली होती थी। इसके सिरे पर गोल बल्ब (Bulb) होता था। इनके आकार, लंबाई एवं परिधि में अवस्था के अनुसार भेद होता था। यथा—

अवस्था	लंबाई { नाड़ी का भाग जो बैग में रहता था	परिधि,	मुख की परिधि,	वस्ति का प्रमाण
१ वर्ष	६ अंगुल	१½ अंगुल	कनिष्ठिका के समान,	कंक पुंख के समान,	२ अंगुल
८ ,,	८ ,,	२ ,,	अनामिका ,,	श्येन ,, ,,	४ ,,
१६ ,,	१६ ,,	३½ ,,	मध्यमा ,,	मोर के ,, ,,	८ ,,
५० ,,	१२ ,,	३ ,,	अंगुष्ठ मध्य ,,	खजूर की गुठली के समान	१२ ,,
७०	१६ वर्ष के समान जानना।				

सुश्रुत† ।

---

* निरुद्धप्रकर्षे नाड़ीं द्विमुखीं कनकादिजाम् ।
पुनः स्थूलतरा नाडी देया स्रोतोविशुद्धये ॥
........रुद्ध गुदेऽप्येषा क्रिया कर्म ॥

चक्रदत्त ।

† चरक और वाग्भट्ट में और भेद दिए हैं।

हारीत ने लिखा है कि बाँस की चार अंगुल शलाका बनाकर गुदा में दो अंगुल प्रवेश करे* ।

साधारणत: जब प्रयोग न होता था तब जंतु आदि के प्रवेश से बचाने के लिये छिद्र बंद रखते थे । गुदा में अधिक न प्रविष्ट हो जाय, अत: एक और उभार बनाया जाता था । इसी प्रकार आधार से दो अंगुल की दूरी पर एक और उभार होता था जो ट्यूब को वस्ति से नीचे खिसकने नहीं देता था । यह उभार धागा या वस्त्र लपेटकर बनाते थे ।

वस्ति—यह पशुओं के मूत्राशय से बनाई जाती थी । दुर्गंध को दूर करने के लिये चूने और पानी से अच्छी तरह साफ किया जाता था । उसको पूर्ण शुष्क करते थे । वस्ति स्वच्छ और चिकनी होती थी । यदि मूत्राशय नहीं मिलता था, तो मेंढक की त्वचा या उदर झिल्ली (Peritoneum) की बनाई जाती थी । सब के अभाव में वस्त्र या चर्म की बनाते थे† । नलिका निम्न कारणों से, एवं निम्न दोषों से शून्य होती थी‡ ।

(१) छोटी—पानी उचित स्थान तक नहीं पहुँचेगा ।
(२) दीर्घ—पानी आवश्यकता से अधिक चला जायगा ।
(३) पतली—पानी उचित रूप से नहीं जायगा ।
(४) मोटी—नली को निकालते समय कली भी बाहर आ जायगी ।
(५) शिथिलबन्ध—पानी के चूने का भय है ।
(६) जीर्ण—नली के अंदर टूटने का भय है ।
(७) पार्श्वछिद्र—नर्म स्थानों में व्रण का भय है ।
(८) वक्र—पानी दूर तक नहीं जायगा ।

---

* 'चतुरंगुलां वेणुमयीं नाड़ीं प्रतिलक्षणां कृत्वा तया वस्तिप्रतिकर्म कुर्यात् । गुदाभ्यंतरे द्व्यंगुलमात्रम् ।''

हारीत ।

† अजाविके सौम्यगजोष्ट्रयोर्वा, गवाश्वयोर्वस्ति मुशंति माहिषम् ।
सुवस्तिमष्टादशषोडशांगुलम्—तथैव नैतञ्च दशांगुलं क्रमात् ॥

‡ ह्रस्वं, दीर्घं, तनु, स्थूलं, जीर्णं, शिथिलबंधनम् ।
पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत् ॥

इसी प्रकार निम्न आठ दोषोंवाली वस्ति भी त्याज्य थी* ।

(१). मांसवाली—दुर्गंध के कारण ।

(२) छिद्र—पानी चूने के कारण ।

(३) विषम दबाव के समान न होने से गुदा में प्रविष्ट न होगा।

(४) स्थूल—पकड़ने में असुगमता के कारण दबाव ठीक नहीं पड़ेगा ।

(५) जालक—द्रव बाहर आवेगा ।

(६) वातला—वायु भी पानी के साथ जायगा† ।

(७) छिन्न—द्रव नीचे गिरेगा ।

(८) क्लिन्न—वेग से पानी बाहर नहीं आवेगा ।

सुश्रुत ने नलिका में ग्यारह और वस्ति में पाँच दोष बताए हैं‡ ।

"उत्तर वस्ति" जो कि मूत्र-मार्ग और योनि में दी जाती थी, इन्हीं नियमों के आधार पर बनाई जाती थी । परंतु नली का परिमाण तथा परिधि आवश्यकतानुसार होती थी§ ।

---

* मांसल, छिद्र, विषम, स्थूल, जालक, वातलाः ।
छिन्नः, क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्ज्जयेत् ॥

† वातला वस्ति—वस्ति के पानी के साथ वायु का प्रविष्ट होना आध्मान (Flacutation) और आनाह उत्पन्न कर देता है । अतः आचार्य्य ने कहा है—सावशेषञ्च कुर्वीत...वायुः हि तिष्ठति । अर्थात् थोड़ा सा द्रव वस्ति में बचा ले ।

‡ (१) अतिस्थूलं, कर्कश, मवनत, मणु, भिन्नं, सन्निकृष्टं, विप्रकृष्टं, कर्णिकं, सूक्ष्मम, त्तिच्छिद्र, मतिदीर्घ, मतिह्रस्वमिति एकादश नेत्रदोषाः ।
(२) बहुलताल्पता सच्छिद्रता प्रस्तीर्णता दुर्विबद्धतेति पंच वस्तिदोषाः ।

§ पणनवद्वादशेत्येवमायामेन यथाक्रमम् ।
शशादिभेदभिन्नानां त्रिधा साधनसंस्थितिः ॥
स्त्रीणां संसारमार्गोऽपि तद्वदेव प्रभिद्यते ।
आयामपरिणाहाभ्यां मृग्यादीनां शशादिवत् ॥
नियतं नेति केचित्तु परिणाहं प्रचक्षते ।
कामसूत्र की टीका, जयमंगला ।

पुष्पनेत्र

इसका उपयोग लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिये होता था। इसकी लंबाई १२ या १४ अंगुल होती थी। यह सोने या चाँदी की बनाई जाती थी। इसकी परिधि जाति-पुष्प के समान, छिद्र सरसों के समान होता था। मध्य में एक उभार होता था। नलि-प्रवेश से पहले शलाका के मार्ग की परीक्षा आवश्यक थी।

स्त्रियों में नली की लंबाई साधारणतः १० अंगुल होती थी। आधार से ४ अंगुल दूरी पर एक उभार होता था। इसका छिद्र मूँग के दाने के बराबर होता था*।

मूत्र-मार्ग की भाँति स्त्रियों में "योनिवस्ति" भी दी जाती थी। इसमें नलिका मोटी तथा परिधि कनिष्ठिका के समान होती थी। योनि में चार अंगुल प्रविष्ट करते थे। युवतियों (१६ से ३५ वर्ष की अवस्था) में दो अंगुल, और बाला (१६ वर्ष तक) में एक अंगुल प्रविष्ट करते थे। इसका छिद्र मूँग के बराबर होता था।

धूम्रनेत्र

यह भी वस्ति यंत्र की भाँति भिन्न भिन्न वस्तुओं के बनते थे। इनके तीन भेद थे—

(१) विरेचन के योग्य...नली की लंबाई २४ अंगुल
(२) स्नेहन के योग्य ... " " ३२ "
(३) प्रयोग के योग्य ... " " १६ "

कासघ्न एवं वामक प्रयोग में इनका आधार अंगुष्ठ के समान, सिरा कनिष्ठिका के समान और छेद, मटर या माष के बराबर होता था।

पंचनदीय दीर्घबल ने धूम्रपान के लिये ओषधियों के पिष्ट कल्क (Paste) को रेशम के वस्त्र पर लपेटकर सिगरेट की भाँति पीने का

---

* वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतःपरम्।
चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरांगुलसम्मितम्॥
मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपसन्निभम्।
पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशांगुलम्॥

आदेश दिया है। पीने से पूर्व उसे घी में डुबो लेना चाहिए। इससे जहाँ आग शीघ्र लगेगी, वहाँ रूक्षता एवं विषजन्य रोगों (Cancer आदि) की संभावना कम हो जायगी। कारण घृत विषघ्न है।

चरक में एक और प्रकार की धूम्रवर्त्ति का विधान है। इसमें औषधों का कल्क सरकंडे पर आठ अंगुल लपेट दिया जाता है। उनको छाया में सुखाकर सरकंडा निकाल देते हैं; और तब वर्त्ति का उपयोग करते हैं*।

चरक में एक अन्य प्रकार के इनहेलर (Inhaler) का वर्णन है। इसमें मिट्टी के दो बर्तन होते थे जिनके मुख आपस में जोड़ दिए जाते थे। जोड़ने से पूर्व निचले पात्र में औषध और खैर के कोयले रख देते थे। ऊपर के बर्त्तन में १० अंगुल लंबी एक नली होती थी। इसका धूम फुप्फुस के रोगियों के लिये उपयोगी था।

धूम्रपान पाँच प्रकार का होता था। प्रत्येक नली की लंबाई भिन्न भिन्न होती थी। यथा—

	चरक,	सुश्रुत,	वाग्भट्ट,	शार्ङ्गधर
मध्यम	३२ अंगुल,	४८ अंगुल,	३२ अंगुल,	४० अंगुल
मृदु	९६ ”	२४ ”	४० ”	३२ ”
तीक्ष्ण	२४ ”	३२ ”	२४ ”	२४ ”
कासघ्न	×	×	×	१६ ”
वामक	×	१६ ”	×	× ”

धूपन

यह क्रिया प्रायः व्रणों के लिये प्रयुक्त होती थी। इसमें प्रयुक्त होनेवाली नलिका की परिधि बेर के समान और छेद कुलत्थी के बराबर होता था। शरावसंपुट में औषध रखकर उसको जला देते थे।

* (१) "पिष्ट्वा लिम्पेच्छिरीषकां तां वर्त्तिं यवसन्निभाम्" ॥
(२) कृत्वा वर्त्तिं पिबेद्धूमं क्षौमचैलानुवर्त्तिताम् ॥
चरक।

उससे उत्पन्न धूएँ से कृमिनाश के लिये धूपन किया जाता था*। यह धूम्र बाह्य व्रणों के अतिरिक्त गर्भसंग की अवस्था में (To make the contraction of the Womb) योनि और गर्भाशय में भी दिया जाता था; एवं मूत्रावरोध में भी प्रयुक्त होता था।

आचूषण शृंग

इस कार्य के लिये प्रायः गौ का सींग प्रयुक्त होता था। इसकी लंबाई १८ अंगुल और आधार तीन अंगुल होता था। इसके चूषण-भाग पर राई के बराबर छेद होता था। आकार चूचुक की भाँति होता था। इसका प्रयोग रक्त निकालने में (Wet cupping) होता था। जहाँ का दूषित रक्त निकालना होता था, वहाँ पर स्केरीफिकेशन (Scarification) करके उस पर पतला वस्त्र डालकर चूषण किया जाता था†। यह क्रिया अर्बुद आदि रोगों में की जाती थी।

वालुकी ने शृंग-प्रयोग की निम्नलिखित विधि बताई है। श्वेत गौ के सींग को अर्द्धचन्द्राकार काटे। उसकी चौड़ाई सात अंगुल और परिधि अंगुष्ठ के आधार के सामान, एवं छिद्र मूँग के बराबर करे।

सुश्रुत ने कान में फँसे कीड़े-मकोड़े, मल आदि को भी चूषण के द्वारा निकालना बताया है। चरक में सर्पादि का विष चूसने के लिये इसका प्रयोग बताया गया है। परंतु सुश्रुत ने विष को चूसने के लिये वस्ति यंत्र का उपयोग किया है‡।

---

* (१) सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।
(२) द्विरह्नः कारयेद्धूमं दशरात्रमतन्द्रितः।
भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्याः योनिं धूपयेत्।
सुश्रुत।

† (१) ततः प्रच्छिन्ने तनुवस्त्रपटलावनद्धेन शृंगेण शोणितमवसेचयेदाचूषणात्।
सुश्रुत।
(२) स्वेदं विदध्यात् कुशलश्च नाड्यां शृंगेण रक्तं बहुशो हरेच्च।
योगरत्नाकर।

‡ (१) "कर्णछिद्रेषु वर्त्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा शृंगेणापहरेद्धीमान्।"
सुश्रुत।

अलावू

यह कद्दू होता है जिसको घिया भी कहा जाता है। इसको गूदे से खाली करके धूप में सुखाया जाता है। इसकी लंबाई १२ से १८ अंगुल, मुख गोल, तथा व्यास तीन चार अंगुल होता है। चूषण से पूर्व इसकी वायु तिनके आदि जलाकर बाहर कर देनी चाहिए। यह एक प्रकार का Dry cupping है। वालुकी ने लिखा है कि इसको उत्तम बनाने के लिये काली मिट्टी का लेप करे*।

चरक और योगरत्नाकर में रक्त-मोत्तण के लिये इसका विधान किया गया है।

घटि यंत्र

रचना में यह भी अलावू के समान होता था। यह बड़े बड़े गुल्मों में प्रयुक्त किया जाता था। यह प्रायः पीतल से बनाया जाता था। इसमें तिनके आदि जलाकर वायु बाहर कर देते थे; पश्चात् गुल्म पर प्रयोग करते थे। इससे दर्द कम हो जाता था†।

---

(२) प्रतिपूर्य्य मुखं वस्तेर्हि तमाचूषणं भवेत्।

सुश्रुत।

प्रच्छन्नवेधजलौकैः शृंगैःस्राव्यं ततो रक्तम्॥

चरक।

* (१) "कृष्णमृदालिप्ता तनुश्रेष्ठा रक्तावसेचनेऽलावूरिति"।

वालुकीतंत्र।

(२) सान्तर्दीप्याऽलाव्वा।

सुश्रुत।

(३) जलौकालावुशृंगैर्वा रुधिरं तस्य निर्हरेत्।

चरक।

(४) रुधिरागमनार्थमथवा शृंगालाव्वादिभिर्हरेत्।

योगरत्नाकर।

† स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते।
परिवेष्क्य प्रदीप्तांस्तु वल्वजानथवा कुशान्॥
भिषक् कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे क्षिपेत्।
संगृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्॥

चरक।

वर्त्तमान काल में शीशे के cupping में मैथिलेटड स्प्रिट जलाकर कार्य किया जाता है।

शलाका यंत्र

यद्यपि इनकी संख्या २८ बताई गई है, तथापि यह संख्या अनिश्चित है। कारण, आवश्यकता के भेद से। कार्य-भेद के कारण इनकी लंबाई और परिधि में भी भेद होता था। साधारणतः यह दो प्रकार का होता था। एक "गंडूपद" जिससे नाड़ी-व्रण आदि का पता लगाया जाता था; दूसरा "व्यूहन" जिसके द्वारा वस्तु इकट्ठी की जाती थी; जैसे अश्मरी रोगी में।

उष्णीष शलाका

इनके सिरों पर रूई लपेटी जाती थी। इनका उपयोग बाह्य स्रोतों को साफ करने में होता था। गुदा को साफ करने के लिये १० या १२ अंगुल, कान के लिये ८ या ९ अंगुल, नाक के लिये ६ या ७ अंगुल की होती थी*। इस प्रकार की शलाका घोड़े के कान साफ करने में भी प्रयुक्त होती थी†।

खल्लमुख

इसका आकार चम्मच या कड़छी के समान होता था। इसमें क्षार आदि रखकर रुग्ण स्थान पर डाला जाता था; यथा अर्शरोग में‡।

नखाकृति

इनकी लंबाई आठ अंगुल होती थी। यह आगे से झुकी होती थी। इनकी संख्या तीन थी। इनका आकार कनिष्ठिका, अना-

* कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट् प्रमार्जने।
सुश्रुत।

† पिचुना वेष्टयित्वा तु शलाकाग्रं समाहितः।
तेन कर्णान्तरे पूयं कर्षयित्वा विचक्षणः॥
अश्वविद्या।

‡ त्रीणि दर्व्याकृतानि खल्लमुखानि। क्षारौषधप्रणिधानार्थम्।
सुश्रुत।

मिका और मध्यमांगुलि के समान होता था। यह भी क्षार आदि गिराने के कार्य में उपयुक्त होती थी* ।

जांबौष्ठ—अंकुशाकृति

इनमें से कुछ का आकार जामुन के समान और शेष का अंकुश के समान होता था। इनकी लंबाई आवश्यकता के अनुसार होती थी। इनके द्वारा क्षार आदि लगाए जाते थे† ।

एक और प्रकार का यंत्र होता था जिसका आकार अंकुश के समान होता था। इसके द्वारा नासा के अर्बुद बाहर खींचे जाते थे और आंत्र-वृद्धि रोग Inguinal Canal में का दाह किया जाता था। इसके किनारे तेज और बेर की गुठली के समान गोल होते थे‡ ।

सलाई

इनकी लंबाई आठ अंगुल और मोटाई मटर के दाने के बराबर होती थी। इनके दोनों सिरे गोल (Buds) होते थे। इनका उपयोग आँख में औषध डालने में किया जाता था§ ।

पलकों में औषध लगाने की शलाका ६ अंगुल लंबी और फूले किनारोंवाली होती थी। यह सब धातुओं की बनाई जाती थीं। परंतु आँख में अंजन के लिये सीसे (lead) की अधिक बनती थी। लेखन में ताम्र की; रोपण (Healing) में लोहे की; प्रसादन (To make clear) में सोने वा चाँदी की उत्तम मानी है। यह १० अंगुल लंबी, बीच से पतली, और सिरों पर मोटी होती थी‖ ।

---

* अष्टांगुला निम्नमुखास्तिस्रः क्षारौषधक्रमे ।

† शलाका जाम्बौष्टानां क्षारेऽग्नौ च पृथक् त्रयम् ।

‡ कोलास्थिदलतुल्या स्यान्नासाऽर्शोऽर्बुददाहकृत् ॥

§ अञ्जनार्थमेककलायपरिमण्डलमुभयतोमुकुलाग्रम् ।

सुश्रुत ।

‖ सवितुरुदयकाले साञ्जना व्यञ्जना वा
करकरिकसमेता वर्म्म पैचिण्ड्य रोगान् ।
असितसितसमुत्थान् संधिवर्त्माभिजातान्,
हरति नयनरोगान् सेव्यमाना शलाका ॥

चक्रदत्त ।

कर्णशोधन के लिये

इसका आकार स्रुवा तथा पीपल के पत्ते से मिलता था। इसका उपयोग कान की मैल या कीड़े आदि निकालने में होता था*।

गर्भशंकु

इसकी लंबाई १० से १२ अंगुल और चौड़ाई आठ अंगुल होती थी। अग्र भाग अंकुश के समान टेढ़ा होता था। इसका उपयोग मूढ़ गर्भ (Difficult labour) में किया जाता था†। इसको प्रयुक्त करने से पूर्व मण्डलाग्र से सिर का विदीर्ण कर लेते थे।

प्रजनशंकु

इसका उपयोग जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने में होता था। इसका प्रयोग करने से पूर्व हाथ से क्रिया (manual fraction) की जाती थी। यदि हाथ से कृतकार्यता नहीं होती थी, तब इसका प्रयोग करते थे‡।

---

* क्लेदयित्वा तु तैलेन स्वेदेन प्रविलाप्य च।
शोधयेत् कर्णगूथं तु भिषक् सम्यक् शलाकया॥

चक्रदत्त।

† (क) नतोऽग्रे शंकुना तुल्यो गर्भशंकुरिति स्मृतः।
अष्टांगुलायतस्तेन मूढ़गर्भं हरेत् स्त्रियाः॥

(ख) ततः स्त्रियमाश्वास्य मंडलाग्रेण अंगुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य शिरः कपालान्याहृत्य शंकुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वा प्रहरेत्। अभिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गंडे वा।

सुश्रुत। मूढगर्भ-चिकित्सा।

‡ गर्भे जीवति मूढं तु गर्भं यत्नेन निर्हरेत्।
हस्तेन सर्पिषाक्तेन योनेरन्तर्गतेन सा॥
मृते तु गर्भे गर्भिण्या योनौ शस्त्रं प्रवेशयेत्।
शस्त्रशास्त्रार्थविदुषी लघुहस्ता भयोज्झिता॥

योगरत्नाकर।

शरपुंख

इसका आकार सर्पफण के समान होता था। इसकी लंबाई चार अंगुल होती थी। इसका कार्य दंतकोश में से दाँत को निकालना था*।

सर्प-फण

इसका आकार सर्प के फण की भाँति आगे से मुड़ा होता था। इसके एक छोर पर चाकू और दूसरे छोर पर चम्मच होता था। इसका उपयोग अश्मरी के शल्य कर्म में, अश्मरी को मूत्राशय से निकालने में, होता था। यह शल्य कर्म सीवन (Perinium) पर होता था†।

अर्द्धचंद्रमुख

इसका आकार आधे चंद्रमा के समान होता था। इससे आंत्र-वृद्धि का मार्ग (Inguinal-canal) तथा कठोर अर्बुद ग्रंथि, उपची (Bubo) आदि दागे जाते थे। आंत्रवृद्धि का मार्ग दागने से वहाँ दाग बनकर संकोच हो जाता था, जिससे मार्ग का अवरोध हो जाता था‡।

मूषल

इन शलाकाओं का उपयोग टूटी अथवा दबी अस्थियों को अपने वास्तविक स्थान पर बैठाना होता था§।

---

* शरपुंखमुखं दंतपातनं चतुरंगुलम् ॥

† (क) अश्मर्याहरणं सर्पफणाद् वक्त्रा अग्रतः।

(ख) अल्पमप्यवस्थितं पुनः परिवृद्धिमेति।

तस्मात् समस्तमग्रवक्त्रेणाददीत।

सुश्रुत।

‡ मध्योर्ध्वं वृत्तदंडा च मूले चार्द्धेंदुसन्निभा।

तत्र या वंक्षणस्था तां दहेदर्द्धेन्दुवक्त्रया। सम्यग्मार्गावरोधार्थम्।

सुश्रुत।

§ (क) नासां सन्नां विवृत्तां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया।

(ख) सन्नमुन्नमयेत् स्विन्नमसकं मुसलेन तु ॥

(ग) मूसलेनोत्क्षिपेत् कक्षामंसंसंधौ विसंहते ॥

मूत्रमार्गविशोधक

इसका अग्र भाग मालती-पुष्प के समान होता था। इसके द्वारा मूत्र-मार्ग की शुद्धि की जाती थी*।

एषणी

इसका उपयोग भगंदर, नाड़ी व्रण और गतिव्रणों का पता लगाने में होता था†।

उपयंत्र

इस शीर्षक में शल्य कर्म के उन उपकरणों का समावेश होता था जो किसी धातु आदि से नहीं बनाए जाते थे। इनके द्वारा शोथ घट जाता था और विद्रधि (Abscesses) फट जाते थे। इसके अतिरिक्त यह शल्य कर्म में बहुत सहायक होते थे।

क्षारसूत्र

इसके बनाने की विधि यह थी कि रेशम के धागे को चार पाँच दिन तक हल्दी के सांधुघोल में भिगोकर, पुनः थूहर के दूध में सात आठ दिन रखते थे। पश्चात् इनके द्वारा अर्श के अंकुर या भगंदर अथवा गतिव्रणों (Sinus) की गति खोली जाती थी। इनका प्रयोग प्रायः निर्बल और भीरु पुरुषों के लिये होता था‡।

---

* (क) मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलम्।
(ख) ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ़्रे घृतान्विते। शलाकयान्विष्य—
गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत्। ततः शेफप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्।
चरक।

† (क) पराचीनमवाचीनं बहिर्म्मुखमन्तर्मुखं वा ततः
प्रणिधाय एषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेत्
सुश्रुत।
(ख) नाडीनां गतिमन्वीक्ष्य शस्त्रेणोत्पाट्य कर्मवित्।
योगरत्नाकर।

‡ (क) कृशदुर्बलभीरूणां नाड़ी मर्मश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्नतु शस्त्रेण बुद्धिमान्॥
(ख) बन्धनात् सुदृढं सूत्रं भिनत्त्यर्शोभगन्दरम्।

वेणिका

यह एक प्रकार के बंध हैं जो रस्सी के द्वारा दिए जाते थे। इनका उपयोग सर्पादि विष की अवस्था में विष के विस्तार को रोकने में होता था*।

पाश

प्राचीन वैदिक साहित्य में भीषणता या क्रूरता के सूचक वरुण के पाश बताए गए हैं। अतः जिन अवस्थाओं में रोगी को भयभीत करने की आवश्यकता होती थी (यथा उन्माद रोग में), उनमें इन्हीं पाशों का उपयोग किया जाता था†।

चर्मबंधन

इसके द्वारा एक दृढ़ बंध बँधता था। अतः शिरावेध के समय अथवा विष की अवस्था में विष का वेग रोकने के लिये यह शल्य कर्म के स्थान से चार अंगुल ऊपर बाँध दिया जाता था‡।

पट्टी

यह प्रायः सूत, रेशम, कौशेय आदि से बाँधी जाती थी। इसके साधारणतः चौदह भेद बताए हैं। परंतु यह निश्चित नहीं। कारण जिस किसी स्थान पर जो पट्टी जिस किसी प्रकार उचित रीति से बँध सके, उसे ही बाँधना चाहिए। साधारणतः पट्टियाँ निम्न प्रकार से बाँधी जाती थीं।

---

* (क) दंशात्तु विषं दष्टस्य विसृतं वेणिकां भिषक् बद्ध्वा निष्पीडयेत्।
चरक।

(ख) सा तु रज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता।
सुश्रुत।

† (क) ये ते पाशा विपाशा......। अथर्वण।
अथर्व।

(ख) भीषयेत् सततं पाशैः कशाभिर्वाथ ताडयेत्॥
चरक।

‡ प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनान्यतमेन च।
न गच्छति विषं देहेऽरिष्टाभिः निवारितम्॥

कोश

यह एक खोल के समान होती थी। इसका स्वरूप जानने के लिये कागज को उँगली पर लपेटकर नख के पास से मोड़कर जाना जा सकता है। यह पट्टी प्रायः इसी स्थान पर बँधती थी।

दाम

यह एक माला के समान चौड़ी बाँधी जाती थी। इसका उपयोग दर्द कम करने में होता था। इससे अवयव पर दबाव होता था। इसका स्थान उदर है।

स्वस्तिक

इसका स्वरूप अँगरेजी के आठ (8) से मिलता था। यह संधि-स्थानों में और कंधे में भंग या व्रण की अवस्था में बाँधी जाती थी।

अनुवेल्लित

इसका अर्थ बेल की भाँति पट्टी बाँधने से है। निचले चक्कर से आरंभ करके प्रत्येक निचले चक्कर का $\frac{1}{3}$ भाग छोड़कर ऊपर को बढ़ाते जाते थे। इसका उपयोग पार्श्वास्थि (Ribs) के भंग में, तिरछे, कटे, गहरे व्रणों में तथा शाखाओं (Limbs) में होता था।

प्रतोली

इसकी चौड़ाई तीन अंगुल के लगभग होती थी। उपयोग गले या शिश्न पर होता था। इसमें पट्टी ऊपर ही ऊपर घुमाई जाती थी।

मंडल

इसका आकार गोल होता था; अतः यह गोल अंगों पर बाँधी जाती थी। यथा—जंघा, भुजा, कोष्ठ आदि पर।

स्थगिका

इसके द्वारा अवयव की गति रोकी जाती थी। इसका व्यवहार करने में फलक (Splint) या चिपकनेवाले कल्क (Paste, Emplastor) की सहायता ली जाती थी। यह अँगूठे, उँगली और शिश्न पर भी बाँधी जाती थी। सुश्रुत में वृद्धिरोग (Hydrocele) के लिये इसका उपयोग पानी निकालने में बताया गया है।

यमक

इसमें दो पट्टियाँ आपस में काटती हुई या १० अंश के कोण पर सी जाती थीं। इसका उपयोग हनु या यमक व्रणों में होता था।

खट्वा

आजकल इसको Four Tail कहते हैं। इसको बनाने के लिये एक पट्टी के दोनों छोरों को बीच में चीर देते थे; एवं बीच में स्थानानुसार तीन या चार इंच जुड़ा रहने देते थे। इसका उपयोग माथे, गाल और अधोहनु में होता था।

चोन

यह आँख पर बाँधी जाती थी।

विबंधक

यह चौड़ी और गोल होती थी तथा छाती और पीठ पर बाँधी जाती थी।

वितान

यह तंबू के समान होती थी। इसके लिये एक चौड़ा वस्त्र लेकर सिर पर फैलाकर अगले सिरे को पीछे खींचकर बाँध देते थे। यह पट्टी सिर पर बाँधी जाती थी।

गोफणिका

इसका आकार नतोदर होता था। यह उन्नतोदर स्थानों पर—यथा ठोड़ी, नाक और सीवन पर बाँधी जाती थी।

पंचांगी

इसकी पाँच पुच्छें होती थीं। यह अधोहन्वस्थि, एवं असकास्थि (Clonical) के भंग पर बाँधी जाती थी*।

---

* "स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशाभिश्चैव संस्थितम्।
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैः बध्नीयात्............॥"
हनुसंधौ—
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीं विचरेद्भिषक्।
....

पट्टी बाँधने के समय व्रण पर कवलिका (Pad) रख ली जाती थी। पट्टी को वाम हाथ में पकड़कर बाँधा जाता था। पट्टी की गाँठ व्रण से हटाकर देते थे। इसका अभ्यास लकड़ी वा मिट्टी के बने मनुष्य के मॉडल (पुस्त) पर कराया जाता था*। सुश्रुत ने पट्टी का बंध तीन प्रकार का बताया है। यथा—१ गाढ़, २ शिथिल और ३ समबंध। इनको यथास्थान एवं दोषानुसार बाँधने की आज्ञा थी।

उदरबंध

जलोदर (Ascitis) की अवस्था में पानी निकालते समय एवं उसके पश्चात्, एवं प्रसव के पश्चात् गर्भिणी के कोष्ठ उदर पर पट्टी बाँधी जाती थी। इसका अभिप्राय वातप्रकोप को नहीं होने देना था। यह पट्टी चौड़े वस्त्र से बाँधी जाती थी†।

भगवान् बुद्ध ने भी खुजली की चिकित्सा बताते हुए व्रण की चिकित्सा में पट्टी बाँधने की आज्ञा दी है‡।

इसी प्रकार सिर पर औषध लगाने के लिये केशों को भी बाँध दिया जाता था।

बद्ध्वा वेल्लितिकेनाशु वचस्तैलेन सेचयेत्।

....

"चर्मणा गोफणा बन्धः"

सुश्रुत।

* (१) ततः कवलिकां दत्त्वा वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्।
(२) पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यंगविशेषे तु बंधयोग्याम्।

पुस्तका-लक्षण—

मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा।
लौहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते॥

† वेष्टयेदुदरं महता वाससा...तथा न तस्य वायुरुदरे विकृतिमापादयति।

आत्रेय।

‡ देखिए महावग्ग।

चर्म

इसका बंधन वस्त्र की अपेक्षा दृढ़ और उष्ण होता था; अतः गुदभ्रंश (Prolapsus of the anus) रोग में इसका बंधन किया जाता था। इसी प्रकार शाखाओं के संधिभंग या अस्थिभंग की अवस्था में चर्म का बंधन किया जाता था। इसके अतिरिक्त चर्म पर औषध लगाकर व्रण पर भी रखते थे। इसके द्वारा व्रणों को सीया भी जाता था; तथा विष की अवस्था में बंधन प्रयुक्त करते थे*।

यंत्रण शाटिका

अर्श एवं मूत्राशय से अश्मरी निकालते समय रोगी को यंत्रित किया जाता था। इनको यंत्रित करने के लिये शाटिका का उपयोग होता था†।

दृति

इसका वर्णन वेदों में सोमरस को एकत्र करने में आता है। वेद में अगस्त्य ने इससे विष को निकालने का आदेश किया है। मनुस्मृति में बुद्धि के नष्ट होने की उपमा मशक से पानी गिरने के रूप में दी है। इसके द्वारा कूपादि से पानी भी निकाला जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों में चर्म्म के अनेक उपयोग आए हैं‡।

---

* (१) गुदभ्रंशे गुदस्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्।
(२) कारयेद् गोफणामच्छच्छिद्रेण चर्मणा॥
चक्रदत्त।
(३) मुञ्चेद् रात्रौ दिवाबद्धं चर्मभिश्च सुलोमभिः।
सुश्रुत।

† (१) प्राणानबाधमानोवस्त्रपट्टचर्मान्तवल्कललतानां अन्यतमेन यंत्रयित्वा।
(२) तंत्रविद्धशिरं पुरुषं.... यंत्रणशाटकं ग्रीवायामुष्टयोपरि
सुश्रुत।

‡ (१) दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यं अच्छिद्रस्य दधन्वतः—"
(२) यो हवां मधुनो दृतिराहतोरथ चर्षणे ततः पिवतमश्विना।
ऋग्वेद।
(३) सूर्ये विषमासृजामि दृतिः सुण्वतो गृहे।
(४) ततोऽस्य चरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्।
मनुः

कुश और अन्तर्वल्कल

यह वृक्षों की निचली त्वचा होती है। इसका उपयोग फलक (Splint) के अभाव में होता था। इस कार्य के लिये बाँस या फट्टियाँ भी व्यवहार में लाई जाती थीं। वाग्भट्ट ने लिखा है कि फलक चौड़े, चिकने, पतले, दृढ़ और साफ होने चाहिएँ*।

लता

इनका उपयोग उत्तेजना (Stimulation) देने में या बंधन में किया जाता था। सर्प की चिकित्सा में यदि लता से प्रहार करने पर भी त्वचा रक्तवर्ण न हो, तो उसे असाध्य समझे। इसके द्वारा रक्तसंचार का बंद होना जाना जाता था†।

पत्थर

इसका उपयोग नवजात शिशु की श्रवण शक्ति को जाग्रत करने के अतिरिक्त दृढ़ संलग्न शल्य को ढीला करने में होता था। इसके अतिरिक्त उँगलियों के संधिभंग के ठीक होने पर उनमें बल लाने के लिये भी इनका उपयोग था‡। कामंदकी नीतिशास्त्र में लिखा है कि राजा विषहर, पत्थर और मणि अपने पास रखे।

मुद्गर

इसका आकार लोहे के हथौड़े के समान होता था। इसका भी उपयोग शल्य को ढीला करने में होता था§।

---

(५) "परिशुद्धजीर्णचर्म्मकुरंडकैव अभ्युद्धृता, चर्म्मकुरण्डः चर्मपुटः

(६) रौरवे वा चर्म्मे। "कृष्णाजिनम्"।

* "पंकेनालेपनं कार्य्यं बंधनञ्च कुशान्वितम्"।

†(१) राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति।
विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम्॥

‡(१) अश्मनोर्वादनं चास्य कर्णमूले समाचरेत्॥
चरक।

(२) हस्ते जातबले चापि कुर्य्यात् पाषाणधारणम्।

§ अस्थिदेशो तुण्डितमष्ठीलाश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहरणे।
सुश्रुत।

उँगली

सब यंत्रों में हाथ ही प्रधान है। कारण, इसके अभाव में कोई यंत्र प्रयुक्त नहीं हो सकता।

(१) थोड़ी सूजन को हटाने के लिये धीरे धीरे उँगली से प्रतिलोम मर्दन करते थे, जिससे संचित रक्त पीछे लौट जाता था*।

(२) ग्रास शल्य में यदि भोजन कंठ में रुक गया हो तो गले पर धीरे धीरे प्रहार करे।

(३) नवजात शिशु के मुख की श्लेष्मा उँगली पर रूई लपेटकर साफ करे†।

(४) अधोहन्वस्थि भंग में अँगूठों से दाढ़ों को नीचे दबाकर तर्जनी से चिबुक को दबावे‡।

(५) रोगों की परीक्षा के लिये सुश्रुत ने छः उपाय बताए हैं। इनमें हाथ के स्पर्श से शरीर की रुक्षता, चिक्कणता, मृदुता, ज्वर आदि जाना जाता है।

(६) शल्य यदि अस्थि में फँसा हो तो अस्थि को पाँव से दबाकर दोनों हाथों से लकड़ी में फँसी कील की भाँति उसे खींचे।

(७) गर्भाशय से कमल (Placenta) को निकालने के लिये परिचारिका स्त्री अपने दक्षिण हाथ से गर्भाशय को दबावे और वाम हस्त से हिलावे। एड़ियों से रुग्णा को दबाए रखे, जिससे वह उठ न सके।

---

* संस्वेद्य बहुशो ग्रन्थिं विमृद्नीयात् पुनः पुनः।
विमर्दयेत् भिषक् प्राज्ञः तलेनाङ्गुष्ठकेन वा॥

सुश्रुत।

† (१) अंगुल्या सुपरिलिखितनखया......

‡ (१) व्यात्तानेन हनुस्विन्नं अंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च।
प्रदेशनीभ्याञ्चोन्नम्य चिबुकोन्नमनं हितम्॥

(२) स्पर्शेन्द्रियविज्ञेयाः—शीतोष्ण, श्लक्ष्ण, कर्कश, मृदु, कठिनत्वाद्योज्वरशोफादिषु।

दाँत

इसमें प्रायः हाथीदाँत का ही उपयोग होता था। इसके यंत्र बनाने के अतिरिक्त औषध में भी व्यवहार करते थे*।

नख

शल्यकर्म में एक ओर जहाँ (मनुष्य के) नखों को हानिकारक बताया है, वहाँ सिंहादि के नख आहर्य (Extraction) के कार्य में प्रयुक्त होते थे†।

मुख

इसका प्रयोग प्रायः आचूषण में किया जाता था। सर्पदंश की अवस्था में जौ या रेत से मुख को भरकर चूषण करते थे। सर्प-दंश की अवस्था में सर्प को बीच से काटने की चिकित्सा भी सुश्रुत ने बताई है, जिससे उसका पित्त (Bile) प्रतिविष का कार्य करता है‡।

बाल

यह प्रायः मनुष्य या अश्व की पुच्छ के बाल होते थे। इनका उपयोग अर्शादि के मस्से बाँधने में, सिर में से शल्य निकालकर उनका उण्डुक प्रयुक्त करने में (जिससे मस्तुलुंग का स्राव न हो), केशोंडुक के रूप में, वमन कराने में और मुख्यतः सीने में होता था§।

---

* (१) हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यञ्चैव रसाञ्जनम्।
(२) तैलाक्तहस्तिदन्तस्य मसीं वा चौषधं परम्॥

† (१) सदा नीचनखरोम्णा भवितव्यम्।
तत्कस्य हेतोः हिंसा विहाराणि महावीर्य्याणि॥
सुश्रुत।
(२) आहर्य्ये छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत्॥

‡ (१) निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमंथेन दारयेत्।
नाडीं दत्त्वाऽस्थनि भिषक् चूषयेत् पवनं बली।
सुश्रुत।
(२) दंशं वा चूषयेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन।
चरक।
(३) दष्टव्यः सोऽहिः।
सुश्रुत

§ (१) वालाः अश्वादीनां पुच्छभवाः केशाः।
नृकेशाश्च, अर्शोवाव्यादिबंधनार्थं युज्यन्ते।

पिपीलिका

यह चिउँटियाँ सीने के काम में आती थीं, विशेषतः आँतों में। इनमें काली चिउँटी उत्तम समझी जाती थी। इनसे कटवाकर सिर वहीं छोड़कर शेष भाग निकाल लेते थे। सिर पिन का काम करता था *।

सूत्र

इसके अतिरिक्त कई प्रकार के सूत्र यथा—वल्कल, स्नायु, सन भी सीने के काम में आते थे।

---

(२) शिरसोपहते शल्ये बालवर्त्तिं प्रवेशयेत्।
बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुंग व्रणात् स्रवेत्॥
सुश्रुत।

(३) व्रणे रोहति चैकैकं शनैरपनयेत् कचम्।
मस्तुलुंगस्रुतौ खादेन्मस्तिष्कानन्यजीवजान्॥
वाग्भट्ट।

(४) केशोन्दुकेन पीतेन द्रवैः कण्टकमाक्षिपेत्।
सहसा सूत्रबद्धेन वमतः।

(५) अथास्य बालवेण्या कण्ठतालु परिमृशेत्।
चरक।

(६) केशवेष्टितयांगुल्या तस्याः कण्ठं प्रघर्षयेत्॥
योगरत्नाकर।

(७) स्नाय्वा बालेन वा पुनः।

* (१) शल्यमुद्धृत्यान्तःस्रावान् संशोध्य तच्छिद्रमात्रं समाधाय कृष्ण-पिपीलिकाभिः दंशयेत्। दष्टे च तासां कायानपहरेत् न शिरांसि।
सुश्रुत।

(२) छिद्राण्यन्त्रस्य तु भिषक् दंशयित्वा पिपीलकैः।
बहुशः संगृहीतानि मत्वाच्छित्वा पिपीलकान्॥
प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं बहिः सीव्येद् व्रणं ततः॥
चरक।

(३) अभिन्नमंत्रं निष्क्रांतं प्रवेश्य स्वनिवेशने।
पिपीलकाशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु॥
प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांशुभिः।
प्रवेशयेत् कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः॥
सुश्रुत।

सीना

इसके लिये सूई को न तो अति समीप से न बहुत दूर से ले जाना चाहिए। एवं सूई को न तो अधिक प्रविष्ट करें और न उपरिपृष्ठ में रहने दे *।

यह सीना चार प्रकार का होता है, परंतु इसका परिमाण नियत नहीं और न कोई स्थान ही नियत है। जो जहाँ उपयुक्त हो, वह वहाँ प्रयुक्त कर लेना चाहिए।

वेल्लित

यह लता के समान चक्करदार होता है। इसमें टाँके पास पास होते हैं और प्रत्येक टाँके में से पुनः सूत्र निकाला जाता है। यह प्रायः भुजाओं के सीने में काम आता है†।

गोफणिका

इसका आकार और स्थान गोफणिका पट्टी के समान ही है‡।

तुन्न

यह सीवन प्रायः उस स्थान पर उपयुक्त होती है जहाँ पर वसा-तन्तु (Adipose Tissue) या वसा नहीं होती। यथा अंडकोष, पलकों और शिश्न में§।

---

* (१) सीव्येत् सूक्ष्मेण शस्त्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा।
षणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा बालेन वा पुनः॥
(२) सीव्येन्न दूरे नासन्ने गृह्णन्नाल्पं न वा बहु।

† अल्पान्तरन्तु कुटिलं संसीव्येत् बहुवेष्टनम्।
यत्तद्वेल्लितकं नाम शाखादौ युज्यते बुधैः॥

‡ पाटितं योनिगुदयोरन्तरं वा तथाविधम्।
देशं स्यूतं यथायोगं पुनस्तच्छेदशंकया॥
नातिस्थूले नातिदूरे शलाके द्वे निपात्य च।
तदा सिक्तेन सूत्रेण संवेष्ट्य सेवनीकृता॥
नाम्ना गोफणिकाबंधः दुष्करा मंदबुद्धिभिः॥

§ पृथक् पृथक् तु संछिन्नां सीव्येत्तां तुन्नसेवनीम्।
या योज्या पक्ष्मकोषादौ..................॥

ऋजुग्रंथि

यह प्राय: मांस से भरे अवयवों में सीया जाता है; यथा ओष्ठ आदि में*।

आंत्र

यह भी सीने के काम आती है। इसके लिये मेष की आँतें प्राय: व्यवहार में लाई जाती थीं†।

अश्वंवक्त्र

यह यंत्र तीव्र गंभीर प्रविष्ट शल्य को निकालने में प्रयुक्त करते थे। इसको घोड़े की काठी में फँसा दिया जाता था। शल्य को इससे बाँधकर घोड़े को सहसा चलाया जाता था, जिसके झटके से शल्य बाहर हो जाता था‡।

शाखा

गंभीर शल्य को निकालने के लिये उसे धनुष की कोटि में अथवा झुकाकर शाखा में फँसा देते थे और उसे छोड़ देते थे। इस प्रकार शल्य बाहर हो जाता था§।

प्रसव के समय यदि गर्भशल्य अवरुद्ध हो जाता है, तो अफ्रीका के असभ्य पुरुष प्रसूता को वृक्ष की शाखा पकड़ाते हैं और

---

* पार्श्वात्पार्श्वान्तरं यावत् ऋजुसूचीं निपात्य च।
संवेष्ट्या कृष्णसूत्रेण ग्रंथिर्य्या संधिहेतवे॥
क्रियते सा ऋजुग्रंथि: ओष्ठादिषु विधीयते॥

सुश्रुत टीका हारायणचंद्र।

† आंत्रं मेषादीनां शुष्कांत्राणि इति ख्यातं। शस्त्रछेदनानंतरं सूक्ष्मशिरादिबंधनादिषु युज्यते॥

‡ अश्ववक्त्रं कटके वा बध्नीयादथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नमयन् शिरो वेगेन शल्यमुद्धरति॥

§ (१) दृढां वा वृक्षशाखां अवनम्य तासां पूर्ववत् बद्ध्वा उद्धरेत्॥
(२) विनमितायां शाखायां शल्याग्रभागं दृढं बद्ध्वा सहसा शाखात्यागेन उच्छ्रितायाः शाखायाः शल्यमुद्ध्रियते।

सुश्रुत।

उसके झटके से शल्य बाहर आ जाता है। वाग्भट्ट ने उपर्युक्त दोनों उपायों का वर्णन किया है* ।

अयस्कान्त

यह आँख में से अथवा व्रण में से लोहा निकालने के काम आता था। रस ग्रंथों में इसके चार भेद दिए हैं। इसे भस्म करने का भी विधान दिया है† ।

क्षार

शस्त्रों और अनुशस्त्रों में क्षार सबसे श्रेष्ठ बताया गया है। कारण, इसके द्वारा छेदन, भेदन और लेखन रूपी शल्य-कर्म स्वयं हो जाते हैं। यह भीरु और दुर्बल पुरुषों में प्रयुक्त होता था। इसको बनाने की विधि सुश्रुत में विस्तार से दी हुई है। इसको अंतः और बाह्य दोनों कार्यों में व्यवहृत करते थे। इसकी तीव्रता के कारण इसके तीन भेद थे—मृदु, मध्य और तीव्र। क्षार का उपयोग तीन उपायों के द्वारा किया जाता था। (१) दार्व्वी के द्वारा—यह लकड़ी का स्रुवा होता था। इसमें क्षार भरकर उचित स्थान पर डालते थे। (२) शलाका—यह एषणी (Probe) की भाँति की होती थी। इनके सिरे पर तीन उँगलियों के समान चम्मच होते थे। यथा—कनीनिका, मध्यमा, और अनामिका के समान।

---

* तथाप्यशक्ये वारंगं वक्रीकृत्य धनुर्ज्यया।
सुबद्धं वक्त्रकटके बध्नीयात् सुसमाहितः॥
सुसंयतस्य पंचाङ्ग्या वाजिनः कशयाऽथ तम्।
ताडयेदिति मूर्द्धानं वेगोन्नमयन् यथा॥
उद्धरेच्छल्यमेवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः॥

वाग्भट्ट।

†(१) "मणिगमनं सूच्यभिसर्पणं अदृष्टकारणकम्"।
सूच्यभिसर्पणमिति—सूचीपदेन लौहमात्रं तृणञ्चोपलक्ष्यते। तथा चायस्कान्ताभिमुखं॥
(२) "अनुलोममनवबद्धकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन"।
देखिए रससरत्नसमुच्चय।

२४

(३) कूर्ची जो बुरुश के समान होती थी। क्षार प्रयोग में अन्य स्थान की रक्षा टिन आदि के प्लेटों से की जाती थी*।

अग्नि

यह क्षार एवं सब यंत्रों तथा शस्त्रों में श्रेष्ठ है। कारण, इससे नष्ट किए हुए रोग पुनः उत्पन्न नहीं होते; एवं उनके द्वारा जो रोग असाध्य हैं, वे इससे साध्य हैं। इस दाह-कर्म में निम्न उपकरण व्यवहार में लाए जाते थे।

(१) त्वचा का दाह करने में—पिप्पली, अजाशकृत, गोदंत, शर, शलाका।

(२) मांस का दाह करने में—जांबौष्ठ, अन्यलौह।

(३) रक्त-प्रणाली वा संधि के दाह में—क्षौद्र, गुड़, स्नेह, घी (स्नेह, तेल और वसा)।

सुश्रुत ने रक्तावरोध का अंतिम उपाय दाह ही बताया है†। इसके अतिरिक्त पद्मकोप रोग में बालों की जड़ों का तथा आँतों की झिल्ली के अर्शस के दाह का भी विधान किया है।

---

* (१) शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः। छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्। त्रिदोषघ्नत्वात्। सौम्यः॥

(२) आस्वाद्य च दर्व्वीकूर्चशलाकानामन्यतमेन क्षारं पातयेत्।

देखिए सुश्रुत क्षारप्रकरण।

† (१) तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भवात्।

क्षारादग्निर्गरीयान्। तदसाध्यानां (रोगाणां) तत् साध्यत्वाच्च।

सुश्रुत।

(२) अर्शोभगंदरग्रंथिनाडीपृष्ठव्रणादिषु।

मांसदाहो मधुस्नेहजाम्बवोष्ठगुडादिभिः।

तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद्दाहविशेषवित्॥

(३) अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यान्मधुसमायुतम्।

(४) रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तहेमशलाकया।

पक्ष्मरोगे पुनर्नैवं कदाचिद्रोमसंभवः॥

चक्रदत्त

भैषज्य

व्रण-चिकित्सा में बताए हुए सात कर्मों की पूर्त्ति के लिये औषध का उपयोग होता था। इनके द्वारा व्रण की शुद्धि-रोहण, पाक, अवसेचन और पाटन कार्य किया जाता था। इनके द्वारा व्रण को कृमिरहित करने के लिये धूआँ दिया जाता था*।

रक्तावरोध के उपाय

सुश्रुत ने आवश्यकता से अधिक निकलते हुए रक्त को रोकने के लिये चार उपाय बताए हैं। इनमें से प्रथम तीन उपाय ही करने चाहिएँ; परंतु असाध्यावस्था में चतुर्थ उपाय का भी आश्रय लेना चाहिए। वाग्भट्ट ने रक्तावरोध का एक और उपाय शिरावेध बताया है †।

संक्षेपतः यंत्रों का वर्णन यही है। अनुयंत्र और भी हैं; परंतु मुख्य न होने के कारण औरों का वर्णन यहाँ नहीं किया गया। वाचक-वृंद उनका वर्णन अन्य ग्रंथों में देख सकते हैं।

---

* आदौ विम्लापनं कार्य्यं द्वितीयमवसेचनम्।
तृतीयमुपनाहञ्च चतुर्थीं पाटनक्रियाम्॥
पंचमं शोधनं प्रोक्तं षष्ठं रोपणमिष्यते।
एते क्रमाः व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम्॥

सुश्रुत।

विम्लापन = मालिश। अवसेचन = शीत-परिषेक। उपनाह = पुलटिस। पाटन = भेदन। शोधन = शुद्धि। रोपण = Healing. वैकृतापह = कृमिघ्न, कृमिनाशक।

† (१) संधानं स्कंदनं चैव पाचनं दहनं तथा।
अस्कन्दमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत्।

(२) व्रणं कषायः सन्धत्ते, रक्तं स्कन्दयते हिमम्।
तथा सम्पाचयेद् भस्म, दाहः संकोचयेत् शिराः॥

(३) तामेव तां शिरां विध्येत्। व्यधनान्तरं शिरामुखं वा त्वरितं दहेत् तप्तशलाकया।

वाग्भट्ट।

बारहवाँ प्रकरण

शस्त्र

मंडलाग्र

इसकी लंबाई ६ अंगुल होती थी। एक सिरा गोल तथा दूसरा सिरा उस्तरे के समान होता था। वाग्भट्ट ने इसका आकार तर्जनी के नख की भाँति बताया है।

इसका उपयोग गलशुंडिका रोग में, मूढ़ गर्भ में, आँख के रोग (Pterygium) आदि में, एवं आँख की नवीन वृद्धि (अर्श) में तथा जिह्वा के अधिजिह्वा रोग में होता था* ।

करपत्र

इसके शब्दार्थ से पता लगता है कि यह हाथ की उँगलियों के समान होता था। कोई आचार्य इसे बढ़ई की आरी के समान मानते

---

* **गलशुंडिका रोग में**—अथाष्टांगुलिसन्दंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि च संस्थिताम्॥

मूढ गर्भ में—(१) मण्डलाग्रेण कर्त्तव्यं छेद्यमन्तर्विजानता।
(२) ततः स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणांगुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य॥

Pterygium में—(१) अर्म्मवन्मण्डलाग्रेण तासां छेदनमिष्यते।
(२) उल्लिखेन्मण्डलाग्रेण वडिशेन बलान्वितः।

अर्श (वृद्धि) में—(१) अर्शस्तथा वर्त्मनाम्ना शुष्कार्शोऽर्बुदमेव च।
मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन मूले छिन्द्याद् भिषक् शनैः।

अधिजिह्वा में—"उन्नम्य जिह्वामाकृष्य वडिशेनाधिजिह्वकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण........................"

सुश्रुत।

हैं। इसकी लंबाई ६ या १२ अंगुल होती थी। चौड़ाई दो अंगुल होती थी। उपयोग अस्थियों के काटने में होता था*।

वृद्धिपत्र

इसका आकार "वृद्धि" वृक्ष के पत्ते की भाँति होता था। इसके दो रूप होते थे। १—सीधा जिससे त्वचा की विद्रधियाँ खोली जाती थीं। २—वक्र जिससे गंभीर विद्रधियाँ खोली जाती थीं। इनको "अंचिताग्र" और "प्रयताग्र" कहते थे। इनकी लंबाई ६ या ७ अंगुल होती थी। अंचिताग्र को "क्षुर" भी कहते थे।

इसका उपयोग व्रण के पास से बालों को हटाने में, छेदन या लेखन करने में, वृद्धि रोग के शल्य-कर्म में और सिर में काकपद करने में करते थे। इसके अतिरिक्त पशु-चिकित्सा में भी इसका उपयोग देखा गया है†।

---

* **करपत्रमिति**—करवत् पत्रं करपत्रम्। यथा करोऽङ्गुलीभिः रचितो भवति तद्वत् यत्कंटकैः रचितं स्यात्तत् करपत्रम्।
छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधारं दशांगुलम्॥
वाग्भट्ट।

† **बाल साफ करने में**—रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति।
क्षुरकर्त्तरिसन्दंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत्॥

छेदन या लेखन में—"वृद्धिपत्रेण मतिमान् सम्यग्दंशमथोद्धरेत्।"

वृद्धि रोग में—"रक्षेत् फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत्।
मेदस्तथा समुद्धृत्य दद्यात्कासीससैन्धवे॥"
सुश्रुत।

काकपद क्रिया में—"प्रच्छयित्वा क्षुरेणांगं केवलानिलपीडितम्।
कुर्यात् काकपदाकारं ....॥
वाग्भट्ट।

काकपद—Anterior foramen (पूर्व विवर) पर क्षुर से कौए के पाँव की भाँति निशान बनाते थे। वहाँ पर औषध रखकर मर्दन करते थे जिससे औषध रक्त के साथ मिल जाती थी और सीधी शरीर में विलीन हो जाती थी। यह क्रिया प्रायः मूर्च्छा रोग में की जाती थी। इस मूर्च्छा का कारण विष, या अन्य मस्तिष्क संबंधी, वा वात संबंधी

नखशस्त्र

यह दो प्रकार का (वक्रधार और ऋजुधार) होता था। इसकी लंबाई ८ या ९ अंगुल होती थी। इसका प्रयोग छेदन, भेदन और लेखन करने में तथा विशेषतः आचूषण (Wet-cupping) क्रिया में होता था*।

मुद्रिका

इसका दूसरा नाम अंगुलि शस्त्र था। इसका आकार तर्जनी के प्रथम पर्व की भाँति होता था। इसका उपयोग गलरोग और मूढ़ गर्भ (विषकुंभक) में होता था†।

[विषकुंभक रोग को आजकल Hydrocephalus कहते हैं। इस रोग में शिशु के मस्तिष्क में पानी भर जाता है।]

उत्पलपत्र

इसका आकार कमल के पत्ते की भाँति होता था। अग्र भाग नोकदार और तेज होता था। यह काटने और छेदने के कार्य में

(Nervous system) रोग होता था जिसमें औषध मुख से पिलाना कठिन होता था; अथवा औषध का शीघ्र प्रभाव अभीष्ट होता था।

इस क्रिया के स्थान में आँख में अंजन और नाक में तीक्ष्ण नस्य भी देते थे। नस्य और काकपद से दी गई औषध मस्तिष्क पर सीधे प्रभाव करती है। शरीर यंत्र की रचना के कारण आँख में दी गई औषध Law of diffusion के कारण शीघ्र रक्त में मिल जाती है। (यह नियम वही है जिससे फुप्फुस में शुद्ध वायु पहुँचती है और अशुद्ध बाहर आती है।) आजकल यहा कार्य Hypodermic injection से किया जाता है।

सर्पविष की अवस्था में विष (Aconite) और पारा (Mercury) क्रम से ४ तोले और ४ माशे लेकर सूची मात्रा प्रमाण में दिया जाता था।

* वृद्धिपत्र-नखशस्त्र-मुद्रिकोत्पलपत्रार्द्धधाराणि छेदने भेदने। सुश्रुत।

† प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका। सुश्रुत

विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः।
मंडलाग्रांगुलिशस्त्राभ्यां तत्कर्म प्रशस्यते॥ सुश्रुत।

आता था। इसका उपयोग मुख्यत: शिरावेध में होता था। पशु-रोग (अश्व के Ascitis) में भी इसका उपयोग बताया गया है*।

अर्द्धधार

इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। कई आचार्य इसे एक धार का मानते हैं। डल्हण ने इसको लंबाई में आधी धारवाला कहा है। इसकी संपूर्ण लंबाई ८ अंगुल होती थी, जिसमें हत्था ६ अंगुल और फलका दो अंगुल लंबा और एक अंगुल चौड़ा होता था। इसका उपयोग शरीर को विभक्त करने में होता था†।

सूची

इसकी मोटाई मालती-पुष्प के तने के बराबर होती थी। सिरे पर सूत्र डालने के स्थान से चिपटी बनी होती थी। इसके तीन भेद थे। (१) ३ अंगुल लंबी जो मांसल स्थानों को सीने में प्रयुक्त होती थी। (२) २½ अंगुल लंबी जिसका उपयोग वहाँ होता था जहाँ कि मांस-पेशियाँ कम हैं। यथा जोड़ों के पास। (३) २ अंगुल लंबी, आमाशय, आँत, अंडकोष आदि स्थानों को सीने के लिये। ये सब धनुष के समान अर्द्धगोल होती थीं।

---

* (१) शस्त्रेणोत्पलपत्रेण वृद्धिपत्रेण वा भिषक्।
शिरावेधविधिं सम्यक् दृष्टकर्मा प्रयोजयेत्॥

(२) पशु-चिकित्सा—हृदयस्याधरे भागे ऊर्ध्वभागे च नाभितः।
अधो वा नाभितः कुर्याद् छेदनं चतुरंगुलम्॥
शस्त्रेणोत्पलपत्रेण वामभागे विचक्षिणः।
एकमेवांगुलं शस्त्रं कुक्षौ चापि प्रयोजयेत्॥
....
प्रक्षिप्य गालयेद्वारि यावद्वै कोष्ठलाघवम्॥

† (१) अर्द्धधारा यस्य तत् अर्द्धधारम्। चक्रधारमिति प्रसिद्धम्। तच्चाष्टाङ्गुलायतम्।

(२) अन्ये तु अधिकमर्द्धं धारा यस्य तत् अर्द्धधारम्। यह बहुव्रीहि समास करते हैं।

सीने के अतिरिक्त इनका उपयोग कोष्ठ से द्रव निकालने में भी होता था*। गतिव्रण (Sinus) तथा अर्बुदों (Tumers) की चिकित्सा में भी इनका उपयोग होता था। इस चिकित्सा में चार सूत्र प्रविष्ट करते थे; अथवा बंध देकर रक्त-संचार रोका जाता था।

कुशपत्र

यह कुश के पत्र के समान बारीक, नोकदार, पतला और तेज धारवाला होता था। इसकी पूरी लंबाई ६ अंगुल थी, जिसमें चार अंगुल हत्था और दो अंगुल फलक होता था। इसका उपयोग विद्रधि में से पूय निकालने में होता था। यह प्रायः कोमल स्थानों पर व्यवहार किया जाता था†।

आटीमुख

इसका आकार "आटी" पक्षी के समान होता था। लंबाई ६ अंगुल होती थी। प्रयोग कुशपत्र की भाँति था‡।

---

* (१) जलौकाभिः तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः।
(२) अवर्त्तमानं रुधिरं रक्तार्शोभ्यः प्रवाहयेत् ॥
सूचीसूत्रेण वा पुनः।

सुश्रुत।

(३) एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारणीम्।
सूचीं निदध्याद् गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत् ॥
सूत्रस्यान्तं समानीय-गाढं बन्धं समाचरेत्।
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत्प्रयोजयेत् ॥
(४) अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले ज्ञानं निधापयेत्।
सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितं वा समन्ततः ॥
मूले सूत्रेण बध्नीयात् छिन्ने चोपाचरेद् व्रणम् ॥

† जिह्वाधः पार्श्वयोर्मूले शिरा द्वादश कीर्त्तिताः।
तासां स्थूले शिरे द्वे च छिन्द्याद्वै च शनैः शनैः ॥
वडिशेनैव संगृह्य कुशपत्रेण बुद्धिमान्।
स्रुते रक्ते व्रणे तस्मिन् दद्यात्सगुडमार्द्रकम् ॥

योगरत्नाकर।

‡ आटीमुखमिति—आटीजलवर्द्धिनी नाम पक्षिविशेषः तन्मुखवन्मुखं यस्य तत् आटीमुखम्।

शरारीमुख

यह कैंची होती थी, जिसका आकार शरारी पक्षी के समान होता था। यह पक्षी दो प्रकार का होता है—धवलस्कंध और रक्तशीर्षक। इनमें से प्रथम को शरारी कहते हैं। इसका प्रयोग स्रावण में था।

सुश्रुत ने इसे "कर्त्तरि" (कैंची) के नाम से कहा है। परंतु वाग्भट्ट ने कर्त्तरि शब्द से उनका ग्रहण किया है जो कि कर्त्तन करें, न कि स्रावण करें। कर्त्तरि से स्रावण हो सकता है; परंतु सुश्रुत में इसका कीर्त्तन अन्य स्रावण करनेवाले त्रिकूर्चक आदि के साथ किया गया है। अतः "कर्त्तरि" पृथक् स्वीकार किया गया है*।

अंतर्मुख

यह भी एक प्रकार की कैंची का ही भेद है। इसकी लंबाई ६ अंगुल और चौड़ाई १½ अंगुल होती थी। वाग्भट्ट ने इसका आकार अर्द्धचंद्राकार बताया है और लंबाई आठ अंगुल कही है। कार्य विद्रधियों से पूय निकालना बताया है।

हारीत ने अर्द्धचंद्राकार शस्त्र का उपयोग मूढ़गर्भ में बाहूच्छेदन करना बताया है†।

---

* (१) दशाङ्गुला शरारीमुखी सा कर्त्तरीति कथ्यते।

सुश्रुत।

(२) शरारीमुखमिति—तस्य शस्त्रस्य लोके कर्त्तरिः इति संज्ञा।

डल्हण।

(३) स्राव्ये शरारीमुखत्रिकूर्च्चके।

सुश्रुत।

(४) स्नायुसूक्ष्मकचच्छेदे कर्त्तरी कर्त्तरीनिभा॥

वाग्भट्ट।

† (१) तद्वदन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्द्धमङ्गुलम्।
अर्द्धचन्द्राननं चैतद् तथाध्यर्द्धाङ्गुलं फले॥

वाग्भट्ट।

(२) अथवा अर्द्धचन्द्रेण शस्त्रेणैव मृतगर्भस्य बाहुयुगलं संच्छिद्य बाहू निस्सारयेत्॥

हारीत।

त्रिकूर्चक

एक लकड़ी या धातु के मूठ में तीन कूर्चक (नोकदार कूचीयाँ) लगे होते थे। इन कूर्चकों के बीच का अंतर एक चावल होता था। इनका उपयोग कुष्ठ रोग में अथवा नासार्शस में लेखन द्वारा रक्त निकालने में होता था।

आजकल Vaccination करने के लिये (लेखन करते समय) तीन-चार सूईवाला जो शस्त्र प्रयुक्त होता है, वही आर्यों का त्रिकूर्चक है।

वाग्भट्ट ने इसी प्रकार के अन्य दो शस्त्रों का वर्णन किया है।—प्रथम "कूर्च"—इसमें सात या आठ सूइयाँ एक लकड़ी के हत्थे में लगी होती थीं। इनकी लंबाई चार अंगुल होती थी। उपयोग गंज (Baldness) नीलिका रोग में होता था। इसके द्वारा उपरि-त्वचा का लेखन होता था। द्वितीय "खज" है। इसमें १½ अंगुल लंबी आठ तेज सुइयाँ लगी होती थीं। इनका काम नासार्शस में रक्त निकालना था*।

कुठारिका

इसका आधार मोटा और चौड़ा होता था। हत्था लकड़ी का बना होता था। हत्थे की लंबाई ७½ अंगुल होती थी। फलक गौ के दाँत के आकार का एक अंगुल लंबा होता था। उपयोग शिरावेध में (विशेषतः अस्थियों के) होता था†।

---

* (१) स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रनाडीभिः।
कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तात् क्लेशोऽपनेतव्यः॥

आत्रेय।

(२) कूर्चे वृत्तैकपीठस्था सप्ताष्टौ वा सुबन्धनाः।
संयोज्य नीलिकाव्यङ्गकेशशातेषु कोथने॥

(३) अर्द्धाङ्गुलैर्मुखैर्वृत्तैः अष्टाभिः कण्टकैः खजः।
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृग्॥

वाग्भट्ट।

† (१) कुठारिकाख्यशस्त्रेण ततस्तं प्रच्छेदङ्गिषक्।
नाति गाढं न च लघु न घनं विरलं न च॥

पालकप्य ने "वत्सदन्ताकृति" नामक अन्य शस्त्र का वर्णन दिया है जिसकी लंबाई दस अंगुल थी। इसका उपयोग छेदन भेदन में था।

व्रीहिमुख

इसका मुख व्रीहि के समान आगे से तेज होता था। इसकी पूरी लंबाई ६ अंगुल थी, जिसमें दो अंगुल हत्था और चार अंगुल शस्त्र होता था। इसका प्रयोग करते समय संपूर्ण शस्त्र को हाथ में इस प्रकार से पकड़े कि मूठ करतल के मध्य में हो और नोक अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य में आ जाय। इसका उपयोग जलोदर (Ascitis), वृद्धि रोग (Hydrocele) तथा मूढ़गर्भ में शिरोदय में होता था।*

आजकल उपर्युक्त कार्यसिद्धि के लिये Trocar प्रयुक्त होता है। यही धन्वंतरि का व्रीहिमुख था।

---

(२) कुठार्यालक्षयेन्मध्ये वामहस्तगृहीतया।
फलोद्देशे सुनिष्कम्पं शिरां तद्वच्च मोक्षयेत्॥

(३) यवार्द्धमस्थ्नामुपरि शिरां विध्यन् कुठारिकाम्॥

(४) कुठारिकाकृतिं कुर्यात्—कुठारिशस्त्रप्रच्छेदनार्थम्।
वत्सदन्ताकृति वत्सदन्तं दशांगुलम्॥

* जलोदर—तत्र जातोदकं सर्वमुदरं च व्यधेत् भिषक्।
वामपार्श्वेत्वधो नाभेः नाडीं दत्त्वा च गालयेत्॥
लब्धानुज्ञो भिषक् कुर्यात् पाटनव्यधनक्रियाम्।
सुवेष्टितमधो नाभेः वामतः चतुरंगुलात्॥
अंगुलीरुदरमात्रं तु व्रीहिवक्त्रेण भेदयेत्।
नाडीमुभयतो द्वारां संयोज्याहरेज्जलम्॥
आत्रेय।

मूढ़गर्भ—व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं च तत्शिरोदयसन्निधौ

वृद्धिरोग—(१) सेविन्या पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येत् व्रीहिमुखेन वै।
वाग्भट्ट।

(२) अथात्र द्विमुखां नाडी दत्त्वा विस्रावयेद्भिषक्॥
सुश्रुत।

प्रयोगविधि—अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु तलप्रच्छादितं भिषक्।

आरा

लकड़ी के एक हत्थे में मोटी सूई लगी होती थी। हत्था गाय की पूँछ के समान पीछे से मोटा होता था। सूई की लंबाई १६ अंगुल, सिरा तेज नोकदार होता था। यह मोचियों के सूए से मिलता था। इसका उपयोग कर्णपाली रोग में वेधन करने में, अस्थि आदि के वेधन में, तथा शोथ के पक्वापक्व का निश्चय करने में होता था।

यूथिका

सुश्रुत ने यूथिका शस्त्र का उपयोग कर्णपाली में दिया है। इसका आकार आरे की भाँति होता था। परंतु यह उससे बारीक (सूक्ष्म) कार्य करने में प्रयुक्त होता था*।

वेतसपत्र

यह बेंत के पत्ते की भाँति तेज़, काटनेवाला शस्त्र था। इसमें हत्था और शस्त्र दोनों चार चार अंगुल होते थे। शस्त्र की चौड़ाई एक अंगुल होती थी। उपयोग वेधन करने में होता था†।

वडिश

यह मछली को पकड़नेवाले हुक के समान होता था। इसकी लंबाई कुल ६ अंगुल होती थी जिसमें ५½ अंगुल हत्था और ½ अंगुल हुक होता था। यह हुक सिरे पर मुड़ा हुआ आधे चंद्र के समान होता था। यह जौ के पत्ते की भाँति तेज होता था। उपयोग मूत्र-मार्ग में फँसी अश्मरी को खींचने में और अक्षिरोगों तथा गलशुंडि में होता था। यह पशुचिकित्सा में भी प्रयुक्त होता था‡।

---

* (१) आरेव आरा असिः चर्म्मकाराणां शस्त्रम्।
(२) व्यधने कर्णपालीनां यूथिका मुकुलानना।
(३) आरार्द्धांगुलवृत्ता स्यात्तत्प्रवेशो ततोद्धृवंतः।

† (१) तीक्ष्णांगुलविस्तारं चतुरंगुलायतम्।
(२) अंगुलानि तु चत्वारि वृन्तं कार्यं विजानता।
(३) वेतसे व्यधने।

‡ अश्मरी—(१) मूत्रमार्गप्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं, शर्करां वा स्रोतसा अपहरेत्। एवं चाशक्ये विदार्य वा नाडिशस्त्रेण वडिशेनोद्धरेत्।

दंतशंकु

यह चौखूँटा और तेज किनारों का शस्त्र था। इसकी लंबाई १½ अंगुल होती थी। इसका उपयोग दाँतों की शर्करा (Tartar) को नष्ट करने में होता था। वर्त्तमान काल का Tooth Elevator प्राचीन आर्यों का दंतशंकु है*।

सुश्रुत के समय दाँत उत्पाटन किए जाते थे। इस कर्म का अभ्यास मृत पशुओं पर कराया जाता था। यदि दाँत में नाड़ी-व्रण या गति (Sinus) हो जाती थी, तो दाँत को उखाड़कर उसको जला दिया जाता था†।

प्राचीन आर्य नवीन कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना भी जानते थे‡।

गलशुण्डिका—(१) उत्तमाख्यान्तु पिडिकां संच्छिद्य वडिशेनाद्धरेत्।
(२) ग्रहणे शुण्डिकर्म्मादेर्वडिशः सुवृताननः॥

अक्षिरोगे—क्षितौ निपात्य तुरगं ततो नेत्रं प्रसारयेत्।
कृतकर्म्मा भिषक् विद्वान् वडिशेनाक्षिवर्त्मनि॥

* (१) दन्तलेखनकं तेन शोधयेत् दन्तशर्करान्।
(२) कपालिकां शर्कराञ्च......शोधयेत्।
(३) शस्त्रेण दन्तवैदर्भं दन्तमूलानि शोधयेत्॥

सुश्रुत।

† (१) "मृतपशुदन्तेषु आहर्यस्य"
(२) यं दन्तमधिजायेत नाडी तद्दन्तमुद्धरेत्।
छित्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरुजो भवेत्॥
सशूलं दशनं तस्माद् उद्धरेद्भग्नमस्थि च।
उद्धरेत्तूत्तरे दन्ते सशूले स्थिरबन्धनैः॥

सुश्रुत।

‡ चरक में "पूषन्" देवता के दाँत बनाए जाने का वर्णन आया है।
प्रशीर्णा रदनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भः ताभ्यामेव चिकित्सितः॥

आत्रेय।

इसके अतिरिक्त राजा जयचंद्र के शव की परीक्षा उसके कृत्रिम दाँतों से ही की गई थी। देखिए—Elphinstone's History of India, P. 365.

पालकप्य ने दाँत उखाड़ने के लिये "एनीपद" शस्त्र का वर्णन किया है। यह लोहे का और ३२ अंगुल लंबा होता था।

एषणी

इसका सिरा गंडूपद के समान होता था। इसकी लंबाई आठ अंगुल होती थी। यह दो प्रकार की वस्तुओं से बनाई जाती थी। एक कठिन लोहे आदि से बनाई जाती थी, जिसका उपयोग गंभीर व्रणों की परीक्षा में होता था। दूसरी मृदु जो नाल आदि से बनाई जाती थी। इसका उपयोग ऊपरी त्वचा के व्रणों की परीक्षा में होता था।

वाग्भट्ट ने एक ऐसी "एषणी" का वर्णन किया है जिसमें छिद्र होता था। उसमें धागा डालकर भगंदर आदि में प्रयुक्त करते थे। इस प्रकार का कृत्य (Directure) आजकल भी होता है। इसके अतिरिक्त वाग्भट्ट ने लिंग-नाश (Cataract) में प्रयुक्त होनेवाली एषणी का आकार "कुरव" के समान बताया है। सुश्रुत ने एषणी का जो वर्णन दिया है, वह वर्त्तमान काल का Probe है जो आगे से डोडे की भाँति होता है*।

सुश्रुत में वर्णित उपर्युक्त बीस शस्त्रों के अतिरिक्त वाग्भट्ट ने और भी दो शस्त्रों का वर्णन किया है।

सर्पास्य

इसका आकार सर्प के मुख के समान और फलक की लंबाई १ $\frac{१}{२}$ अंगुल होती थी। इसका उपयोग नासार्श और गुदार्श के छेदन में होता था†।

"The body of Raja being recognised by the false teeth."

* (१) गतिरन्विष्यते श्लक्ष्णा गण्डूपदमुखैषणी।
(२) एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारणीम्।
(३) पर्व्वसमिता वक्त्र योर्मुकुलाकृतिः॥
(४) भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा"।
(५) ताम्री शलाखा द्विमुखा मुखे च कुरवाकृतिः। लिंगनाशं तया विध्येत्॥

† (१) सर्पास्यं घ्राणकर्णाशंशछेदनेऽर्द्धांगुलं फलम्।

प्रतुद

इसके द्वारा लेखन किया जाता था ।*

इन शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य अनुशस्त्रों का वर्णन भी सुश्रुत में आया है, जो या तो शस्त्रों के स्थानापन्न होते थे या उनके सहायक बनते थे । इनमें से मुख्य ये हैं—

(१) जलौका—इनका उपयोग रक्त-मोक्षण में किया जाता था । इनकी संख्या सुश्रुत में बारह बताई है, जिनमें से ६ विषयुक्त होती हैं और ६ निर्विष । विषयुक्त जलौका सर्वथा त्याज्य है । निर्विष जलौका का उपयोग रक्तमोक्षण के लिये बताया है । जिस प्रकार राजहंस दूध और पानी के मिश्रण में से दूध पृथक् पान कर लेता है, उसी प्रकार शुद्ध और दुष्ट रक्त के मिश्रण में से जलौका अशुद्ध रक्त का पान करती है । जब तक यह अशुद्ध रक्त का पान कर रही हो, तब तक रोगी को दंश या कंडु प्रतीत नहीं होता । परंतु शुद्ध रक्त के आस्वादन करते समय दंश और कंडु उत्पन्न होता है । उस समय वैद्य को चाहिए कि उसको हटा दे । हटाने के लिये बल-प्रयोग न करके नमक का पानी या हल्दी का प्रयोग करना चाहिए । इनके उपयोग से जहाँ जलौका स्थान से गिर पड़ेगी, वहाँ यह दोनों वस्तुएँ विषघ्न कार्य भी करेंगी† ।

(२) नाल—इसके लिये कमल की नाल का विशेष उपयोग होता था । इसका प्रयोग एषणी-कार्य के अतिरिक्त हनुभंग की अवस्था में क्षीरपान कराने में तथा वमन कराने में होता था । वमन एवं क्षीर-पान के लिये प्राचीन आर्यों का Stomach Pump यही था‡ ।

---

* प्रतुदैर्दारयेच्चैनं मर्मघातं विवर्जयेत् ॥

† आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव ।

....

क्षेत्राणि ग्रहणं जातिं पोषणं सावचारणम् ।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद्गदान् ।

‡ (१) उत्पलस्य च नालेनं क्षीरपानं विधीयते ।
(२) कण्ठमैरण्डनालेन स्पृशन् तं वामयेद्भिषक् ॥

सुश्रुत ।

(३) पत्र—शल्य-चिकित्सा में कई प्रकार के पत्र लेखन-कार्य में आते थे। चक्रदत्त ने अर्श के अंकुरों का लेखन करने के लिये शेफालिका के पत्तों का उपयोग बताया है*।

(४) बाँस—इसका उपयोग Splint के रूप में किया जाता था। इसके अतिरिक्त ग्रंथि आदि पर दबाव भी दिया जाता था†।

---

* (१) कर्कशाणि च पत्राणि लेखनार्थं प्रदापयेत् ॥ सुश्रुत।

(२) गोजीशेफालिकापत्रैरर्शः संलिख्य लेखयेत् ॥ चक्रदत्त।

† (१) विभग्नञ्च नरं दृष्ट्वा वेणुखण्डेन बन्धयेत्।
मृत्तयेन्नवनीतेनैरण्डपत्रैश्च वेष्टयेत् ॥

(२) अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाड्या ततः शनैः। सुश्रुत

परिशिष्ट

(बौद्ध काल)

बौद्ध काल में आयुर्वेद शास्त्र की कितनी उन्नति थी, यह बात बौद्ध ग्रंथों से, विशेषत: विनय पिटक के महावग्ग से, विशेष रूप से ज्ञात होती है। राजा मिलिंद तथा नागसेन भिक्षु के कथोपकथन से* भी उस समय की चिकित्सा-पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

बौद्ध काल में "जीवक" वैद्य का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। उसके विषय में वर्णित संपूर्ण विवरण महावग्ग में से उद्धृत करता हूँ, जिससे उस समय की अवस्था का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जायगा।

(१) राजा बिंबिसार के समय राजगह (राजगृह) में "सालवती" नामक एक स्त्री रहती थी जो कि सुन्दर, आनंद-दायक, प्रसन्नमुख तथा अति सौंदर्य्यपूर्ण थी। सालवती राजगृह की एक सभ्या, प्रतिष्ठिता थी। उसने गाने और नाचने में कुशलता प्राप्त की थी। जो पुरुष उसके लिये उत्कंठित रहते थे, उनसे वह एक रात्रि का १०० (मुद्रा) माँगती थी। एक बार सालवती को गर्भ रह गया। अब सालवती ने सोचा कि पुरुष गर्भवती स्त्री को पसंद नहीं करते। यदि किसी मनुष्य को यह ज्ञात हो गया कि सालवती गर्भवती है, तो मेरी सब प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी। यदि मैं यह कह दूँ कि मैं रोगी हूँ, तो क्या आपत्ति है ?

सालवती ने अपने द्वाररक्षक को यह आज्ञा दे दी कि किसी को अंदर न आने दो। और जो कोई मुझको बुलाने आवे तो कह

---

* राजा मिलिन्द काबुल का ग्रीक राजा था। इसने १५५ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया था। इसने नागसेन भिक्षुक से बौद्ध धर्म के विषय में प्रश्न किए थे और अंत में स्वयं बौद्ध हो गया था। उन्हीं प्रश्नों को मिलिंद-पन्हो (प्रश्न) कहते हैं।

देना कि मैं रोगी हूँ। द्वाररक्षक ने उसकी आज्ञा को "जी हाँ" कहकर स्वीकार किया।

(२) नियत समय पर सालवती ने गर्भ प्रसव किया। सालवती ने अपनी परिचारिका स्त्री को आज्ञा दी कि 'हे दासी, तुम इस गर्भ को एक टोकरे में रखकर दूर ले जाओ और कूड़े के ढेर पर फेंक आओ।' परिचारिका उसकी आज्ञा को स्वीकार करके गर्भ को पुराने टोकरे में रखकर कूड़े के ढेर पर फेंक आई।

राजकुमार "अभय" राजा को नमस्कार करने जा रहा था। मार्ग में उसने लोगों की भीड़ देखी। उसने उनसे पूछा कि यहाँ किस लिये इतनी भीड़ एकत्र हुई है ?*

"महाराज ! यहाँ एक लड़का है।"

"क्या यह जीता है ?"

"हाँ महाराज ! जीता है !"

"मनुष्यो ! इसको तुम हमारे स्थान पर लाओ; वहाँ इसको पुष्ट करने के लिये पोषक द्रव्य दिए जायँगे।"

मनुष्यों ने उस बच्चे को वहाँ पहुँचा दिया और अभय ने पोषण देने की आज्ञा दी। लोगों ने अभय से कहा था कि 'जीवति', अतः इसका नाम "जीवक" रक्खा गया; और कुमार अभय ने इसका पोषण किया था, अतः इसका नाम "कुमारभक्क" रखा गया†।

जीवक जब बड़ा और समझदार हुआ, तब वह राजकुमार "अभय" के पास गया और पूछा कि मेरी माता कौन है? और महाराज ! मेरा पिता कौन है ?

---

* "अभयकुमार का नाम अभय है। यह राजा बिंबिसार का पुत्र था।

† कुमारभक्क—शब्द कुमार + अभय से बना प्रतीत होता है, जिसका अर्थ यह है कि जिसकी कुमार-अभय द्वारा रक्षा की गई हो। परन्तु संस्कृत शब्द "कुमारभृत्य" है जो आयुर्वेद का एक अंग है। देखिए सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १। संभवतः "कुमार भक्क" का वास्तविक अर्थ 'कुमारभृत्य का विद्वान्' है।

(३) जीवक! मैं नहीं जानता कि तुम्हारी माता कौन है। परन्तु तुम्हारा पालन मैंने किया है, अतः तुम्हारा पिता मैं हूँ।

अब जीवक ने सोचा कि बिना कोई हुनर सीखे यहाँ कोई आश्रय प्राप्त करना कठिन है। यदि मैं कोई हुनर सीखूँ तो बहुत उत्तम है।

(४) उस समय तक्षशिला में एक प्रतिष्ठित चिकित्सक रहता था। जीवक राजकुमार अभय से बिना पूछे तक्षशिला की ओर चल पड़ा। घूमते घामते वह तक्षशिला में उसी चिकित्सक के पास पहुँचा। उसके समीप जाकर उसने कहा कि चिकित्सक! मैं तुम्हारा हुनर सीखना चाहता हूँ।

अच्छा मित्र जीवक! आओ सीखो।

(५) जीवक कुमारभक्त ने बहुत सीखा, सुगमता से याद कर लिया, अच्छी तरह समझ लिया, और जो पढ़ा वह भूला नहीं। जब सात वर्ष बीत गए, तब जीवक ने सोचा कि मैंने बहुत सीखा, सुगमता से स्मरण किया, अच्छे प्रकार समझ लिया और जो पढ़ा वह भूला भी नहीं। मैंने सात वर्ष तक यह हुनर सीखा, परन्तु कहीं इसकी समाप्ति नहीं देखी*। क्या मैं इसका छोर पा सकता हूँ?

(६) जीवक चिकित्सक के घर में पहुँचकर, उसके समीप जाकर, कहने लगा—हे चिकित्सक, मैंने बहुत पढ़ा; और जो पढ़ा, वह सुगमता से याद कर लिया, और सब भली भाँति समझ लिया, एवं कुछ भुलाया भी नहीं। मैंने सात व ं तक पढ़ा, परन्तु कहीं इस विज्ञान की समाप्ति नहीं देखी। क्या मैं इस विज्ञान का छोर पा सकता हूँ?

अच्छा मेरे प्यारे जीवक! यह लो कुदाल (खनित्र) और तक्षशिला के चारों ओर एक एक योजन में जो वनस्पति आयुर्वेदीय न हो, वह मेरे पास ले आओ।

---

* "न ह्यस्ति आयुर्वेदस्य पारम्। तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोग-मस्मिन् गच्छेत्।"

आत्रेय।

जीवक चिकित्सक की आज्ञा को स्वीकार कर कुदाल लेकर चला। वह तक्षशिला के चारों ओर एक योजन घूमा। परन्तु कोई ऐसी वनस्पति नहीं मिली जो कि आयुर्वेदीय न हो। अन्त में जीवक लौट आया और चिकित्सक के पास जाकर बोला कि मैं तक्षशिला के चारों ओर एक एक योजन घूमा; परन्तु कोई ऐसी वनस्पति नहीं मिली जो आयुर्वेदीय न हो।

(चिकित्सक ने उत्तर दिया) मेरे अच्छे, जीवक! तुमने अच्छी तरह पढ़ा। यह तुम्हारे जीवन-निर्वाह के लिये पर्य्याप्त होगा। ऐसा कहते हुए यात्रा के लिये कुछ (रुपया) दिया।

जीवक वह रुपया लेकर राजगृह की ओर चल पड़ा। परंतु वह रुपया रास्ते में खर्च हो गया। अब जीवक सोचने लगा कि यह मार्ग जंगली है। यहाँ पानी और भोजन बहुत कम मिलता है। सो अब बिना रुपए के काम चलना कठिन है। यदि मार्ग-व्यय के लिये कुछ रुपए प्राप्त करूँ तो उत्तम हो।

उन दिनों "साकेत" में एक सेठानी सात साल से शिरोरोग से पीड़ित थी। उसने सब विख्यात चिकित्सकों की चिकित्सा की थी। परन्तु सब लोग रुपए लेकर चले गए, उसे कुछ आराम नहीं हुआ था।

जब जीवक साकेत में पहुँचा, तब उसने लोगों से पूछा कि यहाँ कौन रोगी है? क्या मैं उसे अच्छा कर सकता हूँ?

लोगों ने कहा कि एक सेठानी सात साल से शिरोवेदना से पीड़ित है। जाकर उसे अच्छा करो।

(७) जीवक ने उस सेठानी के दरवाजे पर जाकर नौकर से कहा कि सेठानी से जाकर कह दो कि एक चिकित्सक तुमको देखने के लिये आया है। नौकर ने अंदर जाकर कहा कि "एक चिकित्सक आपको देखना चाहता है।"

सेठानी ने पूछा कि वह चिकित्सक किस प्रकार का है? "श्रीमती, वह युवा है।" "मेरे नौकर! युवा चिकित्सक क्या कर सकता है!

जब वृद्ध और विख्यात चिकित्सक बिना आराम किए सोना (रुपए) लेकर चले गए।"

(८) नौकर ने लौटकर जीवक को सेठानी का उत्तर सुना दिया। जीवक ने उत्तर दिया कि तुम जाकर सेठानी से कहो कि मुझे पहले कुछ मत देना, जब अच्छी हो जाओ, तब जो चाहे दे देना। नौकर ने जीवक की आज्ञा मानकर सेठानी के पास जाकर जीवक का संदेश दे दिया। "अच्छा मेरे नौकर, चिकित्सक को आने दो।" नौकर ने जाकर कहा कि सेठानी आपको बुलाती हैं।

सेठानी के पास जाकर जीवक ने ध्यान से उसमें हुए परिवर्त्तनों का निरीक्षण करके कहा—"सेठानी, हमको एक पसथ (दो पल) घी चाहिए।" जीवक ने उस घी को बहुत सी ओषधियों के साथ उबाला और सेठानी से कहा कि आप पीठ के भार लेट जायँ और यह औषध नासा द्वारा लें। घी नासा के द्वारा दिया, परन्तु वह मुख से निकल आया। उसने उसे पीकदान में थूक दिया और नौकरानी से कहा कि आकर इसको रूई से उठा ले जा।

यह देखकर जीवक चकित रह गया कि इस सेठानी ने इस घी को रूई से उठवाकर दूर फिंकवा दिया। मैंने इसमें बहुमूल्य ओषधियाँ डाली थीं। यह मुझे क्या फीस देगी!

सेठानी ने जीवक के मुख का भाव जब बदला हुआ देखा, तो पूछा कि चिकित्सक, तुम क्यों चकित हो गए? जीवक ने उपर्युक्त कारण बता दिया। हमारे गृहस्थ जानते हैं कि किस प्रकार कमखर्ची की जाती है। नौकर या नौकरानियाँ या तो इसको दीपक में डाल देंगी, या अपने पाँव पर मल लेंगी। तुम चकित न हो, तुमको फीस मिल जायगी।

जीवक ने सेठानी का सात साल का रोग नाक से औषध देकर अच्छा कर दिया। जब सेठानी अच्छी हो गई, तो उसने चार हजार (खपनाज) दिए और चार हजार उसके पुत्र ने अपनी माता के अच्छे होने पर, चार हजार उसके पति ने, और चार

हजार उसके जामाता ने अपनी खास के अच्छे होने पर दिए। इसके अतिरिक्त पति ने एक नौकर, एक नौकरानी तथा घोड़े और पलंग दिया।

जीवक १६ हजार (खपनाज), नौकर, नौकरानी, घोड़े और पलंग के समेत राजगृह में पहुँचा। राजकुमार अभय के पास जाकर उसने कहा कि मैंने अपने पहले कार्य से १६ हजार, और नौकर नौकरानी, घोड़े और पलंग प्राप्त किए। मुझे पालने के उपकार में इनको आप स्वीकार करें।

अभय ने कहा कि मेरे प्यारे जीवक! इन्हें, तुम्हीं रखो। परंतु हमारे राज्य को छोड़कर और कहीं मत जाना। जीवक अभय की आज्ञा को स्वीकार करके वहीं रहने लगा।

एक बार राजा बिंबिसार को भगंदर (Fistula) रोग हुआ। उसकी पोशाक रक्त से रँगी गई। उसको देखकर रानी चकित हुई और सोचने लगी कि क्या राजा को भी ऋतुधर्म होता है? जब राजा को रानी के विचार का पता लगा, तो उसने अभय से कहा कि राजकुमार, मैं इस प्रकार रोग से पीड़ित हूँ जिससे मेरे वस्त्र रक्त से रँगे जाते हैं। कोई ऐसा चिकित्सक बताओ जो इस रोग को अच्छा कर दे।

"राजन्! यह युवा चिकित्सक जीवक आपको अच्छा कर देगा।" राजा ने जीवक को बुलाया। जीवक अभय की आज्ञा को स्वीकार करके अपने नख में राजा के पास औषध लेता गया। राजा के पास जाकर उसने कहा कि राजन्! हम आपका रोग देखना चाहते हैं। और जीवक ने राजा बिंबिसार का भगंदर एक प्रलेप से अच्छा कर दिया। इसके उपलक्ष में राजा ने ५०० स्त्रियों के आभूषण उतरवाकर जीवक को भेंट देने चाहे, परंतु जीवक ने इनकार कर दिया।

राजगृह में एक सेठ को सात साल से शिरोरोग था। उसने बड़े बड़े चिकित्सकों से चिकित्सा करवाई। सब लोग स्वर्ण लेकर

चले गए, परंतु कुछ आराम नहीं हुआ। किसी ने कहा कि इस घर का मालिक सेठ आज से सातवें दिन मर जायगा। किसी ने कहा कि आज से पाँचवें दिन मरेगा। अंत में राजा बिंबिसार से प्रार्थना करके लोगों ने जीवक को सेठ की चिकित्सा के लिये भिजवाया।

जीवक ने पास जाकर सेठ के परिवर्त्तनों को देखा और कहा कि सेठ! यदि तुम स्वस्थ हो जाओगे तो मुझको क्या दोगे? सेठ ने उत्तर में कहा कि जो कुछ मेरा है, वह सब आपका हो जायगा और मैं भी आपका दास हो जाऊँगा। जीवक ने यह अस्वीकार किया और पूछा कि क्या तुम सात मास तक एक पार्श्व पर, सात मास तक दूसरे पार्श्व पर और सात मास तक पीठ के बल लेट सकोगे? सेठ ने तीनों बातों की स्वीकृति दे दी।

तब जीवक ने सेठ को बिस्तर के साथ मजबूत बाँधकर सिर का छेदन किया; और दोनों पार्श्वों से छेदन करके मांस निकाला जिसमें दो कीड़े थे। उन कीड़ों को लोगों को दिखाते हुए जीवक ने कहा—"देखो, यह दो कीड़े हैं—एक बड़ा और एक छोटा। जिन चिकित्सकों ने कहा था कि सेठ पाँचवें दिन मर जायगा, उन्होंने यह बड़ा कीड़ा देखा था जो कि पाँचवें दिन सेठ के मस्तिष्क का वेधन करता; और जिन्होंने कहा था कि सातवें दिन मृत्यु होगी, उन्होंने इस छोटे कीड़े को देखा था। यह सातवें दिन सेठ के मस्तिष्क का भेदन करता। अतः सातवें दिन सेठ की मृत्यु होती। इसलिये दोनों ने सत्य कहा था।" यह कहते हुए उसने व्रण को बंद कर दिया, शिर पर त्वचा सी दी और प्रलेप लगा दिया।

× × × ×

इसके पश्चात् २१ दिन में सेठ अच्छा हो गया। और उसने अपने कथनानुसार सब कुछ जीवक की सेवा में उपस्थित किया; परंतु जीवक ने सब कुछ अस्वीकार करके एक हजार (खपनाज) राजा के लिये और एक हजार अपने लिये ले लिए।

× × ×

एक बार बनारस में सेठ के पुत्र को एक रोग हो गया था, जिससे कि आँतें बढ़ गई थीं। इस कारण वह न तो दूध ही पचा सकता था और न और कुछ पचा सकता। यहाँ तक कि सुगमता से हिल भी नहीं सकता था। इसके कारण वह भयानक, कुरूप और बहुत पीला हो गया और उसकी शिराएँ चमकने लग गई थीं।

अंत में निराश होकर सेठ राजगृह में जाकर राजा बिंबिसार से जीवक को चिकित्सा के लिये माँगकर लाया। बनारस में सेठ के घर पहुँचकर जीवक ने उसके लड़के को ध्यान से देखा और देखकर लोगों को कमरे से बाहर जाने के लिये कहा; एवं बाहर से परदा गिरा दिया।

रोगी को स्तंभ के साथ दृढ़ बाँधकर उसकी धर्मपत्नी को उसके सामने खड़ा किया। फिर पेट को चीरकर मुड़ी हुई आँतें निकालीं और उसकी धर्मपत्नी को दिखाते हुए कहा—"देखो, यहाँ रोग था जिससे तुम्हारा पति दुःखित था। इसके कारण ही वह कुछ भी पचा नहीं सकता था। देखने में कुरूप, भयानक, पीला और फूली शिराओंवाला हो गया था।" यह कहते हुए उसने आँतों को सीधा करके उनको यथास्थान बैठाकर पेट को सीकर लेप लगा दिया।

सेठ ने पुत्र के अच्छे होने के उपलक्ष में १६ हजार (खपनाज़) जीवक को भेंट किए।

× × × ×

एक बार राजा पग्गोत (उज्जैन का) को कामला (Jaundice) रोग हुआ। उसने बड़े बड़े चिकित्सकों से चिकित्सा कराई, परंतु वे स्वर्ण लेकर चले गए। कोई आराम न कर सका। अंत में उसने राजा बिम्बिसार के पास संदेश भेजकर अपनी चिकित्सा के लिये "जीवक" को बुलाया। राजा ने जीवक को पग्गोत के यहाँ जाने की आज्ञा दे दी।

राजा की आज्ञा स्वीकार करके जीवक उज्जैन गया और वहाँ जाकर राजा का निरीक्षण करके बोला "राजन्! मैं ओषधियों के साथ घी उबालूँगा। वह तुमको पीना होगा।"

राजा ने कहा—जीवक! तुमको मुझे बिना घी के अच्छा करना होगा। मुझे घी की गन्ध से घृणा है।

जीवक ने सोचा कि राजा का रोग बिना घी के अच्छा नहीं हो सकता *। मैं इसको इस प्रकार काथों के साथ उबालूँगा जिससे कि इसका रंग, गंध, स्वाद कुछ और ही हो जायगा।

जीवक ने ओषधियों के साथ घी को उबाला जिससे उसका रंग, गन्ध और स्वाद बदल गया। जीवक ने सोचा कि राजा जब इसको खायगा, तब अवश्य वमन होगा। राजा निर्दय है; वह मुझे मार डालेगा; अतः पहले ही भाग जाना चाहिए। यह सोचकर वह राजा के पास गया और बोला—"हम वैद्य हैं; हमको खास समय में औषध लाकर रखनी पड़ती है। अतः अश्वशाला में और शहर के मुख्य दरवाजे पर यह आज्ञा भिजवा दीजिए कि "जीवक जिस पशु पर चढ़ना चाहे, चढ़ सके; जिस दरवाजे से, जिस समय जाना चाहे जा सके, और जब लौटना चाहे, लौट सके।" राजा ने यही आज्ञा सब स्थानों पर भेज दी।

राजा की हस्तिशाला में "भद्रवतिका" नाम की एक हथनी थी जो एक दिन में ५० योजन जा सकती थी। जीवक राजा को घी का काथ पीने को कहकर आप शीघ्रता से हस्तिशाला में जाकर भद्रवतिका पर बैठकर चल पड़ा।

राजा ने जब उस घी को पिया तो जी मचलाकर वमन हो गया।

---

* कामला रोग में घृत अव्यर्थ है। कारण, पित्त उष्ण है और घृत शीत है। अतः आत्रेय ने कहा है—घृतं वात, पित्त, श्लेष्माणं जयति। स्नेहाद्वातम्, शैत्यात् पित्तम्, संस्कारानुवर्तनात् कफम्।

देखिए चरक में पाण्डु-चिकित्सा प्रकरण में त्रिफलादि घृत, जो वृद्ध वैद्य-पूजित है।

उसने अपने परिचारकों को बुलाकर कहा कि धूर्त्त जीवक मुझे धोखा दे गया। तुम उसे बुला लाओ।

नौकरों ने कहा कि वह तो भद्रवतिका पर चढ़कर शहर से बाहर चला गया।

तब राजा ने "काक" दास को बुलाया जो एक दिन में ६० कोस चल सकता था। उससे कहा कि तुम शीघ्र जाकर जीवक को बुला लाओ। कहो कि "राजा तुमको बुला रहा है।" परंतु यह वैद्य चतुर होते हैं, अतः इसके हाथ से कुछ मत लेना।

काक ने जीवक को "कौशांबी" में प्रातराश करते हुए पकड़ा और कहा कि राजा की आज्ञा है कि आप वापस चलें।

जीवक ने कहा—काक! ठहरो, भोजन करके चलेंगे। लो, यह भोजन है, तुम भी करो। काक ने इनकार करते हुए सोचा कि राजा ने कहा था कि वैद्य चतुर होते हैं; उनसे कुछ मत लेना।

जीवक ने आँवला खाते और पानी पीते समय अपने नख से औषध निकाल ली और काक से कहा कि यह आँवला है, इसे खाओ और पानी पीओ।

काक ने सोचा कि यह वैद्य स्वयं आँवला खाकर पानी पी रहा है। इसमें कोई हानि नहीं। उसने आधा आँवला खाकर थोड़ा पानी पी लिया। जीवक के दिए हुए उस आँवले के खाते ही उसे वहीं विरेक हो गया।

काक ने कहा कि हे जीवक, मेरा जीवन तो सुरक्षित है? जीवक ने कहा—डरो मत। तुम अच्छे हो जाओगे। वह राजा क्रूर है; और यदि मैं लौटूँगा तो मुझे मार डालेगा, इसलिये मैं नहीं जाऊँगा। यह कहकर भद्रवतिका पर चढ़कर वह राजगृह की ओर चला गया। राजा बिंबिसार के पास जाकर उसने सब समाचार सुना दिया।

जब राजा पज्जोत स्वस्थ हो गया, तब उसने जीवक के पास "शिवयक वस्त्र" भेजे जो कि सर्वोत्तम, अति सुंदर, और सब से मूल्यवान थे। इसके साथ अन्य बहुत से अच्छे वस्त्र आदि भेजे।

जीवक ने सोचा कि मैं इनके अयोग्य हूँ। इनके योग्य या तो अर्हत बुद्ध हैं या राजा बिंबिसार।

अंत में उसने अर्हत बुद्ध को वह पोशाकें, जो शिवयक की बनी थीं, दे दीं।

× × × ×

एक बार भगवान् बुद्ध को दाने (Rash) निकल आए। आनंद से भगवान् ने कहा कि मैं विरेचन लेना चाहता हूँ। आनंद जीवक के पास आए और कहा कि भगवान् को दाने निकल आए हैं; वह विरेचन लेना चाहते हैं।

जीवक ने आनंद से कहा कि तुम भगवान् के शरीर को कुछ दिन तक चर्बी से मलो। कुछ दिन मलकर आनंद ने जीवक से फिर औषध माँगी। जीवक ने सोचा कि भगवान् को तीव्र औषध देना उचित नहीं। यह सोचकर तीन सुंदर नीले कमलों को अन्य ओषधियों के साथ लेकर वह भगवान् की सेवा में गया और कहा कि भगवन्! आप पहले सुंदर कमल को सूँघेंगे, तो आपको दस बार विरेक होगा। और दूसरे को सूँघेंगे तो फिर दस बार विरेक होगा। इसी प्रकार जब आप तीसरे को सूँघेंगे तो फिर दस बार विरेक होगा। इस प्रकार ३० बार विरेक होगा।

यह कथानक महावग्ग से लिया गया है जो कि विस्तार के साथ वहाँ देखा जा सकता है*।

× × × ×

इससे उस समय की आयुर्वेद-शिक्षा का स्वरूप सामने आ जाता है। कितने ही दीर्घ काल तक चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने पर भी संतुष्टि नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान काल के सब major operations का खाका भी अच्छी तरह मिल जाता है।

इसके अतिरिक्त उस समय भगंदर का शल्य-कर्म भी वर्णित है जो कि संक्षेप से इस प्रकार है—

* देखिए विनयपिटक (महावग्ग) ८वाँ कंधक।

(१) भगवान् बुद्ध श्रावस्ती से राजगृह की ओर जाते हुए "वेलुवन" में "कलंदक निवाय" में ठहरे। उस समय एक भिक्षु भगंदर रोग से पीड़ित था। उसका चिकित्सक "आकाश-गोत" ने छेदन किया था।

(२) आकाश-गोत ने गौतम बुद्ध को बुलाया और कहा कि गौतम बुद्ध आवें और भिक्षु के व्रण के मुख को देखें जो कि गुदा के समान है।

(३) भगवान् बुद्ध ने समझा कि यह मुझसे हँसी कर रहा है। वह उस समय चुप रहे और फिर विहार में भिक्षु संघ की सभा बुलाई। उसमें पूछा कि क्या कोई भिक्षु रुग्ण है? लोगों ने कहा—"हाँ"। "हे भिक्षुओ, उसे क्या हुआ है?" उसे भगंदर रोग था, जिसे चिकित्सक आकाशगोत ने छेदन किया है।

(४) भगवान् बुद्ध ने कहा यह ठीक नहीं। यह मूर्खता है, इसकी आज्ञा नहीं है। शर्मणों के लिये अयोग्य है और नहीं करना चाहिए। यह कितना मूर्ख है। हे भिक्षुओ! क्या शरीर के इस भाग में शल्य-कर्म करना चाहिए? हे भिक्षुओ! यहाँ की त्वचा कठोर है, व्रण की चिकित्सा करना कठिन है चाकू, को रास्ता नहीं दिखाई देता। यहाँ रोहण नहीं होता। हे भिक्षुओ! स्थान के अशुद्ध रहने से।

इसके पश्चात् भगवान् बुद्ध ने एक धार्मिक व्याख्यान दिया; और कहा कि शरीर के इस भाग में शल्य-कर्म नहीं करना चाहिए। और जो करेगा, उसे "थौलक्रिय" पाप होगा।

बुद्ध की आज्ञा से भगंदर रोग में शल्य-कर्म रुक जाने से "खब्बगिया" भिक्षुक वर्त्ति-कर्म (Clyster)* का प्रयोग करने लगे। यह बात उन्होंने भगवान् बुद्ध से कही। बुद्ध ने इसकी सत्यता की परीक्षा की और सत्यता जानकर उनको झिड़का और धर्मोपदेश

* पाली में वत्तिकम्म पाठ है जो वर्त्तिकर्म्म का अपभ्रंश है। भगंदर में क्षार सूत्र का प्रयोग सुश्रुत में बताया है। देखिए इस निबंध के ग्यारहवें प्रकरण में "क्षार सूत्र"।

देते हुए कहा कि गुदा से दो इंच की दूरी में कोई वर्तिकर्म वा शल्यकर्म नहीं करना चाहिए। जो करेगा, वह थौलक्रिय अपराध का भागी होगा।

(१) पूज्य "पिलिंदवक" को ज्वर (Intermittent Ague) हुआ। भगवान् बुद्ध ने रक्त निकालने की आज्ञा दी*। परंतु रोग अच्छा नहीं हुआ। हे भिक्षुओ, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि रक्त निकालने के लिये "सींग" का उपयोग करो।

(२) एक बार एक भिक्षु को पिटिका (Boils) हो गईं। हे भिक्षुओ, मैं तुमको आज्ञा देता हूँ कि इसको चीरो।

(३) संकोचक क्वाथ चाहिए थे। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि संकोचक वनस्पति एकत्र करो।

(४) दबाव की आवश्यकता हुई। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि कवलिका (कवलिकान्) का उपयोग करके पट्टी बाँधो†।

(५) व्रण में अधिक मांस उठ आया। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि इस (अधिक मांस) को चाकू से काट दो।

(६) एक बार पूज्य "पिलिंदवक" के पाँव में छाला हो गया। हे भिक्षुओ, में आज्ञा देता हूँ कि प्रलेपों का प्रयोग करो।

(७) एक बार एक भिक्षु को साँप ने काट खाया। लोगों ने यह बात भगवान् बुद्ध से कही। हे भिक्षुओ, मैं तुमको आज्ञा देता हूँ कि इन चार मैली वस्तुओं का उपयोग करो।

१ गोबर, २ मूत्र, ३ भस्म (राख) और ४ चिकनी मिट्टी‡।

भिक्षुओं को संदेह हुआ कि इन चारों का ही उपयोग करें या एक का। भगवान् बुद्ध ने कहा कि इनमें से जो मिले, उसका उपयोग करो।

---

* रक्त का दबाव कम करने के लिये रक्तमोक्षण किया जाता है।

† ततः कवलिकां दत्त्वा वस्त्रपट्टेन बध्नीयात् ॥

सुश्रुत।

‡ ये चारों वस्तुएँ वामक (Emetics) हैं। चिकनी मिट्टी विष को चूस लेती है। अतः सर्प के काटे हुए मृत पुरुष को गाड़ते हैं।

(८) एक बार एक भिक्षु ने विष खा लिया था। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि इसे गोबर का काथ पिलाओ। (वमन के लिये)

(९) एक बार एक भिक्षु को कामला हो गया। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि इसे मूत्र (गौ) का काथ दो।

(१०) एक बार "पिलिंदवक्क" को आमवात हो गया। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि स्वेदन करो। परंतु कुछ आराम न हुआ। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि रोग पर प्रभाव करनेवाली औषध से स्वेदन दो। (संभरो सेदन।) परंतु रोग अच्छा नहीं हुआ। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि बड़ा भारी स्वेद दो। परंतु रोग फिर भी अच्छा नहीं हुआ। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि भाँग के पानी का उपयोग करो। परंतु रोग अच्छा नहीं हुआ। हे भिक्षुओ, मैं आज्ञा देता हूँ, उस गरम पानी का उपयोग करो जिसमें ओषधियाँ पड़ी हैं।

इसके अतिरिक्त संकोचक काथ, पत्ते, पाँच नमक, आँखों के अंजन, प्रलेपों को रखने के लिये डिब्बे, डिब्बों के ढक्कन, उनको लगाने की शलाका, उनको ले जाने के थैले, नासा में औषध डालने की नली और औषध का धूआँ पीने या नस्य के लिये नल का वर्णन महावग्ग में आता है।

इन सब उद्धरणों से उस समय की चिकित्सा का विशेष दिग्दर्शन हो जाता है।

उपसंहार

आयुर्वेद का देवता अश्विनौ बताया गया है; एवं निरुक्त में अश्विनौ को देवताओं का चिकित्सक बताया गया है*।

ऋग्वेद दशम मंडल में ओषधि सूक्त का ऋषि "अथर्वा" कहा है।

---

* अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहविति स्मृतौ।

चरक में "अश्विनौ" तथा "अथर्वा" दोनों ही को आयुर्वेद का जन्मदाता कहा है*। एवं अश्विनौ के कार्यों का वर्णन करते हुए जहाँ चंद्रमा के यक्ष्मा रोग को अच्छा करने का तथा च्यवन ऋषि को वृद्धावस्था से युवा करने का वर्णन आता है, वहाँ भग देवता की आँखें बनाने का, और पूषन् देवता के दाँत बनाने का, तथा यज्ञ का सिर जोड़ने का वर्णन भी स्पष्ट शब्दों में आता है†।

आत्रेय शास्त्र में कहीं काय-चिकित्सा को सब से मुख्य एवं प्रथम नहीं कहा है। यह कहलाने का सौभाग्य धन्वंतरिशास्त्र (Surgery) को ही प्राप्त है। सुश्रुत में कहा है अभिघात (प्रहार आदि) से उत्पन्न व्रणों का संरोहन करने के लिये शल्य-तंत्र की सब से प्रथम आवश्यकता पड़ती है। अतः यह शल्य-तंत्र सब से प्राचीन है।

इसी बात को सिद्ध करने के लिये पुराण-प्रसिद्ध कथा का उदाहरण भी सुश्रुत में दिया है। अर्थात् रुद्र द्वारा काटे गए यज्ञ के सिर को अश्विनौ ने पुनः जोड़ दिया था। अश्विनौ और दध्यङ्-थर्वा के शिरःसंधान की कथा भी प्रसिद्ध है।

इसी के साथ प्राचीन काल से देवासुर-संग्राम की कथाएँ (जो सृष्टि के आरंभ की बताई जाती हैं) आज तक प्रसिद्ध हैं। उनमें शस्त्र-जन्य व्रणों की चिकित्सा आवश्यक एवं अनिवार्य रही होगी। आंग्ल विश्वकोष का यह वचन परम सत्य है—"शल्य-तंत्र मनुष्य की आवश्यकताओं के समान ही प्राचीन है।"

प्राचीन आर्यों का जीवन प्रायः जंगलों में बीतता था। यह बात कम से कम चरक के समय में भी थी, जैसा कि विसर्प-चिकित्सा तथा जनपद एवं अन्य प्रकरणों के पढ़ने से स्पष्ट होता है‡।

---

* ऋग्यजुसामाथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्यथर्वा स्वस्त्ययनबलिमंगलहोमप्रायश्चित्तोपवासादिभिः चिकित्सां प्राह।

† प्रशीर्णा दन्तकाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भः ताभ्यामेव चिकित्सितः॥ आत्रेय

‡ कैलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे।

अतः यह स्वाभाविक है कि उनके ऊपर इसका प्रभाव अवश्य होता। यही कारण है कि उनकी उपमा प्रायः जंगल के पदार्थों से मिलती है। रोगों के नाम भी उसी ढंग पर रख दिए हैं जिससे कि पहचानने में सुगमता हो। यथा—"वल्मीक", "उदुंवर", "ऋष्यजिह्व" आदि।

इसके अतिरिक्त औषधियों कि नाम भी उनके पत्ते, फूल, वृक्ष आदि पर ही रख दिए गए जिससे उनके पहचानने में सुगमता हो। यथा, कंटकारी, सिंहास्य, चतुरंगुल, पृश्नपर्णी आदि।

इसी प्रकार यंत्र शस्त्रों के नाम भी पशुओं और वृक्षों की मुखाकृति पर रख दिए गए जिससे नाम संकीर्त्तन मात्र से उनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता था। यथा सिंहास्य, काकमुख, कंकमुख, कपिला आदि।

इस प्रकार यंत्रों का नाम-कीर्त्तन करके उनका स्वरूप भी साथ ही बता देते थे।

यंत्र शस्त्रों की संख्या का वचन उसी प्रकार है जिस प्रकार रोगों की परिगणना का। आयुर्वेदशास्त्र के अपार होने से रोगों की परिगणना असंभव है; अतः शस्त्र यंत्रों की भी इयत्ता धारण करना असंभव है। आवश्यकतानुसार इनकी नवीन रचना, एवं रचना में भेद भी किया जा सकता था।

वाग्भट्ट के समय तक आयुर्वेद का यह विभाग भी उसी प्रकार जीवित था जिस प्रकार कायचिकित्सा का। परंतु अशोक के पीछे इसका ह्रास आरंभ हो गया था। मुगल काल में तो इस कर्म का सर्वथा लोप ही हो गया था। पठान और मुगल अपने साथ अपने हकीमों को लाए। वे इस कर्म से प्रायः अनभिज्ञ एवं अपरिचित थे। राजा ने अपने दूर देश से लाए हुए हकीमों को आश्रय दिया जिससे हकीमी राजकीय चिकित्सा-प्रणाली हो गई। आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति को, जो कि एक बड़े गड्ढे के किनारे खड़ी थी, जोर का एक धक्का दे दिया गया जिसके लगते ही वह अगाध समुद्र की तह में पैठ गई।

इससे क्या आयुर्वेदशास्त्र की मृत्यु हो गई? क्या उसका संसार से नामोनिशान मिट गया? क्या उसका जीवन असाध्य हो गया? कदापि नहीं। कारण इस मकान की नींव भगवान् के हाथों की रखी हुई है जो कि रसातल से भी नीचे पहुँच चुकी है। समय और दुर्दैव ने उसकी दीवारों को तोड़ दिया, उसके स्वरूप को कुरूप कर दिया; परंतु इस कुरूप रूप को जिन यात्रियों ने हजारों वर्ष पश्चात् आकर देखा था, वे भी इस अवस्था को टकटकी बाँधकर देखते थे। उनको आश्चर्य था कि जिसको इतने दिन हो गए, जिस पर इतनी आपत्तियाँ आईं, उसका अब भी यह सौंदर्य कैसे बचा रहा!

जब तक कि प्राचीन इतिहास की जड़ में वेदों की दृढ़ नींव पड़ी रहेगी, तब तक आर्य जाति की सभ्यता सब से प्राचीन, आर्य जाति का विज्ञान सब से ऊँचा, आर्य जाति की शिक्षा सब से श्रेष्ठ मानी जायगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। चारों ऋषियों का तप व्यर्थ नहीं जा सकता*। कितना ही समय बीत जाय, कितनी आँधी और तूफान उठकर उसकी भित्तियों को तोड़ तोड़कर ईंट ईंट पृथक् पृथक् कर दें, परंतु तब भी वह मिट्टी देखनेवाले को अपना रूप अवश्य दिखा देगी। उसका एक एक कण स्वयं बोल उठेगा कि मैं यह था, और अब भी वही हूँ। यही कारण है कि हजारों लाखों वर्षों के बाद भी प्राचीन सभ्यता और विद्या की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। देखनेवाले चकित हैं कि जो वस्तुएँ हम इतने परिश्रम से इतने सालों में पाते हैं, वह हजारों वर्ष पूर्व के साहित्य में पहिले से ही रखी हैं। यह महत्व आर्यों के प्राचीन साहित्य वेदों का ही है। कारण, संसार में इससे पुरातन साहित्य किसी देश का नहीं है।

* यद्दुष्करं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुस्तरम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः॥
महाभारत।

(६) पुरानी हिंदी का जन्म-काल

[लेखक—श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि, पटना ।]

महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने वंग भाषा का पूर्व रूप भुसुक आदि कवियों की कृति से कोई ई० १०००—११०० तक पहुँचाया है। उन्होंने पुराने दोहों की एक पुस्तक भी छापी है। यह मैथिली और पूर्वी हिंदी से मिलती जुलती पुरानी भाषा में है। इसमें कुछ लक्षण बँगला के भी हैं। पर छंद दोहा आदि होने और भाषा अधिकतर हिंदी की ओर झुकती हुई होने के कारण मैंने उसे पुरानी हिंदी का नमूना कहा। यथा भुसुक ने लिखा है—"आज भुसुक बंगाली भइली। निज गिहिनी चंडाली लइली।" अर्थात् "मैं भुसुक आज बंगाली बन गया, (कामवश) चंडालिन को मैंने गृहिणी कर लिया।" यह तो साफ चौपाई और पूर्वी हिंदी है। पर शास्त्रीजी ने मेरे इस विचार को पसंद नहीं किया और एक सभा में मेरे समक्ष हँसते हुए मेरे कथन का खंडन किया। मेरे दूसरे सुहृद् आचार्य सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी शास्त्री महाशय-आविष्कृत भाषानमूनों को बँगला की पूर्व जननी मान उसे अपना लिया। मैं संतोष कर गया।

संतोष का फल मीठा होता है। वह मीठा फल जाबालिपुर से आया। इसे मैं अकेले न खाकर समस्त हिंदीभाषियों को भेंट करता हूँ। मैं परोसने मात्र का अधिकारी हूँ। इसके चुननेवाले मेरे और हिंदीभाषियों के श्रद्धाभाजन, नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति, लब्धकीर्ति, पंडितप्रवर, राय हीरालाल बहादुर हैं। उन्होंने जांगल्य मध्यप्रदेश के पवित्र जैनमंदिर-वृक्षों से यह सत्य-फल संकलित किया है।

पंडितवर राय बहादुर ने मध्यप्रदेश की सरकार के लिये एक तालिका संस्कृत और प्राकृत पोथियों की, जो उस प्रदेश में पाई गई हैं, (Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Central Provinces, Government Press, Nagpur, 1926.) बनाई है। इस अनुसंधान-तालिका में ८१८५ हस्तलिखित पुस्तकों की चर्चा है जिनमें से नं० ६-६२२ से ८१८५ तक प्राकृत-ग्रंथों की इतिवृत्ति है। इनमें १४१५ संवत् तक की हाथ की लिखी किताबें हैं।

इनमें बेरार ज़िला अकोला के कारंजा शुभ स्थान-स्थ श्रीसेन गणीय तथा बलात्कार गणीय और काष्ठा-संघीय जैन-भांडारों में सुरक्षित पुराने आचार्यों के ग्रंथ हैं जो हिंदी भाषा का पूर्व-इतिहास, लगातार शताब्दियों की हिंदी-भाषा-जीवनी स्वरूप, अपने अंक में छिपाए हुए थे।

मातृभाषा के इस इतिहास की, फल की जगह, अब रत्न से तुलना करनी चाहिए, क्योंकि रत्न के समान यह चिरस्थायी और प्यारा, हिंदीभाषियों का उत्तराधिकार और बपौती-धन भविष्य में बहुत दिनों तक बना रहेगा। वह स्वनामधन्य ख्यातनामा राय हीरालाल के प्रयास और उनकी सूक्ष्मदर्शिता से हम लोगों को प्राप्त हुआ है।

इस इतिहास से विदित होता है कि हिंदी भाषा प्राकृत से अलग हो विक्रमीय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रादुर्भूत हो चुकी थी। इस काव्यगत प्राचीन भाषा के लक्षण ये हैं। प्राकृत के छंद छोड़ हिंदी के छंदों का प्रयोग; अंत्यानुप्रास का, जो प्राकृत काव्य में कभी नहीं बर्ता गया, उदय और अवश्योपयोग; शब्द-कलाप में देशी शब्दों का प्राकृत शब्दों के साथ बाहुल्य (देशी शब्द वे हैं जिनकी निःसृति संस्कृत प्राकृत से नहीं है); फिर सब के ऊपर यह कि व्याकरण प्राकृत का एक दम दूर होकर, हिंदी-व्याकरण का शासन। इन

बातों को देखते हुए, हमें इस भाषा को पुरानी हिंदी कहते हुए कोई संदेह या हिचकिचाहट नहीं होती। उदाहरण मैं नीचे देता हूँ।

देवसेन (तालिका नं० ६९९५-७०१३, ७२८२-८४, ७३७१-७३, ७४७८, ७९३५) एक नामी जैन ग्रंथकार हुए। विक्रम संवत् ९९० में यह वर्त्तमान थे। इनके ग्रंथ **दर्शन-सार** में यह वर्ष दिया हुआ है और राय हीरालाल साहब ने इसका निर्णय बड़ी योग्यता से (तालिका की भूमिका में) किया है। राय साहब इतिहास-वाचस्पति हैं, उनका काल-निर्णय-पाण्डित्य लोक-विदित है। देवसेन का एक ग्रंथ "श्रावकाचार" कारंजा के सेन गण मंदिर के पुस्तकभांडार में है। यह ग्रंथ दोहों में है। दोहों के नमूने लीजिए—

देवसेन के दोहे

णम-कारे पिणु पंच-गुरु दूरि दलिय दुहकम्मु।
संखे वेपय डक्खरहि, अक्खमि सावय धम्मु ॥ १ ॥

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि, सुयणु पयासि उजेण।
अमियउ विसु वासर जमह जिम मरगउ कच्चेण ॥२॥

जिह समिला सायर गयहि दुल्लहु जुब्ब-हरंतु।
तिह जीवह भवजल गयह मणु वत्तणु संबंध ॥३॥

× × × × ×

तं पायडु जिण-वर-बयणु गुरु-उवएसइ होइ।
अंधारइ विणु दीवडइ अहव कि पिंछइ कोइ ॥ ६ ॥

संजम-सील सऊच तउ जसु सूरिहि गुरु सोइ।
दाह छेय कसघाय खमु उत्तमु कंचणु होइ ॥ ७ ॥

× × × × ×

जो जिण-सासण भासियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥

एहु धम्मु जो आयरइ चउ वण्णह मह कोइ।
सो णरु णारी भव्व यणु सुरइय पावइ सोइ ॥

काइ बहुल्लई भंषियइ तालू सूखइ जेण।
यहु परमक्खरु वेरलइ कम्मक्खउ हुइ तेण ॥

× × × × ×

इय दोहाबद्ध वय धम्मं देवसेन उपदिट्ठ।
लहु अक्खर मत्ता हीय मो पयसयण खमंतु ॥

(तालिका पृ० ७५१-२)

शब्द-रूप, विभक्ति और धातु-रूप प्रायः सभी हिंदी के हैं। कोई कोई छंदःसार्थक्य छंदःसिद्धि के लिये प्राकृत रूप रह गए हैं जिसे हिंदी कवि पीछे भी कभी कभी बर्तते गए हैं।

इन्हीं देवसेन ने बहुत से ग्रंथ प्राकृत भाषा और प्राकृत छंदों में लिखे हैं। उनके उदाहरण लीजिए—

ओ दंसाण सारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुध्धे माहसुद्ध दसमीए ॥

(दर्शनसार)

जं अल्लीणजीवा तरंति संसार-सायरं विसमं ।
तं भव्व जीवसरणं णंदतु सग-परगयं तच्चं ॥

(तत्त्वसार)

यह स्पष्ट है कि देवसेन ने दो भाषाओं का प्रयोग किया है— एक प्राकृत और दूसरी वह, जिसे हम अब हिंदी कहते हैं। दूसरे उदाहरणों से और भी विदित हो जायगा कि प्राकृतेतर इस नई भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व था।

देवसेन ने नयचक्र नामक एक ग्रंथ और लिखा था। यह भी उन्होंने दोहों में लिखा। इसके पहले और किसी ने जैन धर्म-ग्रंथ दोहे में नहीं बनाया था। जब दोहाबद्ध नयचक्र को देवसेनजी ने एक सुधी शुभंकर को सुनाया और उनकी राय पूछी, तो शुभंकर पंडित ने हँस दिया और कहा कि यह द्रव्य ऐसा, अर्थ ऐसा है कि दोहा इसे ज़ेब नहीं देता, सोहता नहीं, गाथाबंध से इसे कहिए। इस पर देवसेन के शिष्य माइल्लधवल ने गाथा अर्थात् प्राकृत छंद में नयचक्र को कर डाला। यह इतिहास नयचक्र के अंत में इस तरह दिया हुआ है—

सुणिऊण दोहरत्थं सिग्धं, हसिऊण सुहंकरो भणइ ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो, गाहाबंधेण तं भणह ॥
दव्वसहाव पयासं, दोहय-बंधेण आसिजं दिट्ठं ।
तं गाहा-बंधेण रइयं माइल्ल-धवलेण ॥

समझ पड़ता है कि चेला माइल्लधवल ने तो शुभंकर आलोचक की बात मान ली और नई बात को छोड़ पुरानी लकीर पर चला गया, पर गुरु देवसेन ने गुरुतर गुरु पकड़ रक्खा था। उन्होंने श्रावकाचार फिर दोहे ही में भणा। वह गुरु यह था कि यदि काव्य या उपदेश सर्वसाधारण के समझने के लिये आप कहना चाहते हैं तो सर्वसाधा-

रण की भाषा में कहिए; और यदि केवल काव्यकला में आपको उलझना है और कवि-पंडितों के लिये लिखना है तो साहित्य की भाषा, किताबी कलाम में रचना कीजिए। ठीक यही सवाल भगवान् बुद्ध के समय में उपस्थित हुआ था। उनके एक ब्राह्मण शिष्य ने कहा कि तथागत के वाक्य, छंद में अर्थात् वेद की भाषा, उपनिषद् की भाषा में होने चाहिएँ, भाषा में, मागधी में नहीं; और तथागत से आज्ञा माँगी कि मैं भगवद्वाक्य वेद-भाषा में लिख डालूँ। भगवान् बुद्ध ने कहा कि ऐसा कभी मत करना। मेरे वचन मागधी में ही रहेंगे। जिनके लिए वह उपदेश करते थे, वे वेद तो पढ़े नहीं थे। वेद की भाषा उनके लिये ऐसी ही हो गई थी जैसे हमारे लिये आजकल पुरानी व्रज भाषा या देवसेन के दोहरोंवाली भाषा। वही बात हम लोगों के सामने फिर दुहराई गई। पंडित श्रीधर ने देवसेन की तरह पुरानी और नई दोनों भाषाओं में—व्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों में—रचना की। चिरगाँव के चिरजीवी कवि मैथिलीशरण ने पुरानी प्रथा से बिलकुल पृथक् हो बोलचाल की भाषा में अपने देशभक्ति के काव्य हिंदीभाषियों के समक्ष पेश किए। इन्हें देख शुभंकर जैसे पुराने ढंगवाले लोग हँस पड़े। मैं भी हँस पड़ा; पर जनता ने उन्हें स्वीकृत किया और गोसाईं तुलसीदास और नंददास की भाषा से विदाई ले ली। यह भाषा-लीला जो हम लोगों के सामने हुई, वही देवसेन के समय में हुई। देवसेन ने प्रचलित दोहे और दोहे की भाषा, उस समय की खड़ी बोली, शहरुई और आम फ़हम, मानो उस समय की लखनऊ की लावनी और बनारसी की कड़ी, में साधारण जैन सरावगी गृहस्थ भक्तों के लिये श्रावकाचार दोहों में कहा।

इसे देख खटाखट जैन पंडितों ने उसी नई भाषा में ग्रंथ लिखे। पुष्पदंत दिगंबर पंडित ने बहुत से ग्रंथ लिखे। इनका समय विक्रम संवत् १०२९ है। इन्होंने आदिपुराण, उत्तरपुराण, चरित आदि

अनेक पुस्तकें, जो प्रति प्रातः पढ़ने की चीज हैं, इसी भाषा में निर्मित कीं। उनकी चौपाई देखिए—

बंभणाइ कासव-रिसि गोत्तइ।
गुरु-वयणामय पूरिय सोत्तइ॥

× × ×

पुप्फयंत कयणा धुयपंके।
जइ अहिमाण-मेरु णामंके॥

यह बड़े पंडित थे; अपने को "अभिमानमेरु", "वागीश्वरीगृह" आदि कहते थे। इनकी भाषा देवसेन से कुछ जटिल है और प्राकृत की ओर खिंचती है। पर तो भी इन्होंने हिंदी का उपयोग किया।

श्रीचंद्र कोई ४० वर्ष बाद हुए। इनके "कथाकोष" में, वंशस्थ में, पुरानी हिंदी मिलती है—

तहा मुणि काय-किलेस सोहिए
सरीर-छेत्ते तवसीर वाहिए।

× × ×

पसिद्धि पूया कुसुमोह सोहए
गुणोह संभूय फलोह रोहए॥

इनकी कृति में कुछ ऐसे छंद भी हैं जिनका अब लोप हो गया है। यथा,

तइचेय साहु। सीलंबु वाहु॥
सुह-साह णाहे। आराहणाहे॥

[—दुहडउ नाम छंद]

धनपाल, जो ११वीं ईसाई सदी में हुए, अपनी श्रुतपंचमी कथा सोरठे से शुरू करते हैं—

जिण-सासणे सारु, णिट्ठुअपावकलंकमलु ।
सम्मत्त विसेसु, णिसुणउ सुअपंचमि फलु ॥

उनकी चौपाई यह है—

अहणिद्धणु जणु सोहइ ण कोइ ।
धण संपय विणु पुण्णहि ण होइ ॥

योगचंद्रमुनि (१२ वीं ई० सदी) अपने "योगसार" में दोहे का अधिक और कहीं कहीं सोरठे-चौपाई का प्रयोग करते हैं—

जीवा जीवह भेउ, जो जाणइ ते जाणियउ ।
मोक्खह कारण एउ, भणइ जो इहि भणिउ ॥
धम्मु ण पढिया होइ, धम्मु ण पुच्छापिच्छइ ।
धम्मु ण मढिय पयेसि, धम्मु ण मुच्छा लुञ्चयइ ॥

कासु समाहि करउ को अंचउ ।
छोपु अछोपु करिवि को वंचउ ॥

इस तरह सं० ९९० से १२५० के आसपास तक अर्थात् वरदाई-जायसी काल के पूर्व-युग की भाषा का नमूना हमें मिल जाता है। अब प्रश्न यह है कि उस समय इस भाषा का नाम क्या था। इसके लक्षण पुरानी हिंदी के हैं। प्राकृत और अपभ्रंश से इसका मेल होते हुए भी यह अपभ्रंश या प्राकृत नहीं। इस प्रश्न का उत्तर धर्मशास्त्री नारद के एक वचन से मिलता है।

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैः शिष्यमनुरूपतः ।
देश-भाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः ॥

नारद, 'वीरमित्रोदय' में उद्धृत ।

यहाँ प्राकृत से पृथक् देशभाषा का उल्लेख है। देशभाषा नारद-स्मृति के समय में प्रचलित हो गई थी और प्राकृत उस समय किताबी, पंडिताऊ, भाषा रह गई थी। प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई थी। इससे सिद्ध है कि दोहे और उनकी भाषा पुरानी हिंदी उस समय की देशभाषा देवसेन के पहले प्रचलित थी। साधारण (धर्मेतर) रचना उसमें हो रही थी। पश्चिम में जैन पंडितों ने और पूरब में भुसुक आदि बौद्ध पंडितों ने दोहे आदि छंद और देशभाषा को अपनी वाणी का साधन बनाया। कोई ६५० ई० में हिंदी धर्म-रचना में आसन-प्राप्त हुई। अपने पहले प्राकृत से अलग हो ४००-३०० वर्ष में उसका वह रूप हुआ होगा, जिस रूप में उसे देवसेन ने पाया। वह रूप कम से कम १००-२०० वर्ष देवसेन के पूर्व तैयार हो गया होगा।

---

(७) एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०, काशी ।]

काशी के पूर्व-दक्षिण कोण में नगवा नाम का एक गाँव है। सुप्रसिद्ध नैषध काव्य के अनुसार इसको नलग्राम कहना चाहिए। इसमें एक प्रशस्त उपवन है जो तुलसीदास का बगीचा कहलाता है। इसमें श्रीरामचरितमानस (भाषा रामायण) के रचयिता महात्मा श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्री हनुमान जी की एक मूर्त्ति स्थापित की और उसका नाम संकटमोचन रखा। मूर्त्ति बड़ी दिव्य और श्रद्धास्पद है।

हमारे लड़कपन में श्री संकटमोचन जी का मंदिर बहुत सामान्य और छोटा सा था। पर इस समय श्री हनुमद्भक्तों और श्री गोस्वामी जी के प्रेमियों की श्रद्धा तथा उदारता से उसके आकार-प्रकार में बहुत वृद्धि हो गई है। मुख्य मंदिर के अतिरिक्त कई एक कोठे, कोठरियाँ और दालान और भी आस-पास बन गए हैं; और किसी धनाढ्य सज्जन ने उक्त मंदिर के सामने एक बृहत् और सुंदर श्री राम-मंदिर भी बनवा दिया है।

दोनों मंदिरों के बीच में एक कूआँ है। उसका पानी ऐसा उत्तम और गुणद विख्यात है, कि उसके पीने तथा श्री हनुमान जी के दर्शनों के निमित्त, काशी के सैकड़ों मनुष्य प्रति दिन वहाँ जाते हैं। मंगलवारों तथा शनिवारों को तो वहाँ एक अच्छा मेला हो जाता है। हम भी जब काशी में रहते हैं, तो किसी किसी मंगल अथवा शनि को वहाँ जाकर दर्शनों का लाभ उठाते तथा महात्मा श्री तुलसीदास जी का स्मरण करते हैं।

बीस पच्चीस वर्ष से श्री हनुमान जी तथा श्री रामचंद्र जी के मंदिरों के बीच में, कुएँ के दक्षिण ओर, पत्थर का एक घोड़ा रखा दिखाई देता है। उसका धड़ तो ठीक है, पर जाँघों के नीचे से चारों पैर खंडित हैं। यों तो उक्त घोड़े को मैंने पचासों बार देखा होगा, पर इधर एक दिन देखने पर मुझे यह भावना उत्पन्न हुई कि उस घोड़े की गढ़न, लखनऊ के कैसरबागवाले घोड़े से कुछ मिलती है, जो कि समुद्रगुप्त के अश्वमेध का स्मारक माना जाता है*। फिर क्या आश्चर्य है जो इस पर कुछ अक्षर इत्यादि भी हों।

---

* श्री विंसेंट ए० स्मिथ महोदय अपने "अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया" नामक ग्रंथ के तीसरे संस्करण के २८८ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

"Another memorial of the event seems to exist in the rudely carved stone figure of a horse which was found in northern Oudh, and now stands in the Lucknow Museum with traces of a brief dedicatory inscription incised upon it, apparently referring to Samudragupta."

फिर उन्होंने पाद-टिप्पणी में लिखा है—

The fact that the mutilated inscription—dda guttassa deyadhamma—is in Prakrita suggests a shade of doubt. All other Gupta inscriptions are in Sanskrita (J. R. A. S., 1893, p. 98, with plate). See Fig. 11 in plate of coins. The horse having been exposed to the weather outside the Lucknow Museum for years, the inscription has disappeared. The image is now inside the building. The inscription was legible when the first edition of this book was published.

पाषाणाश्व—पहला चित्र
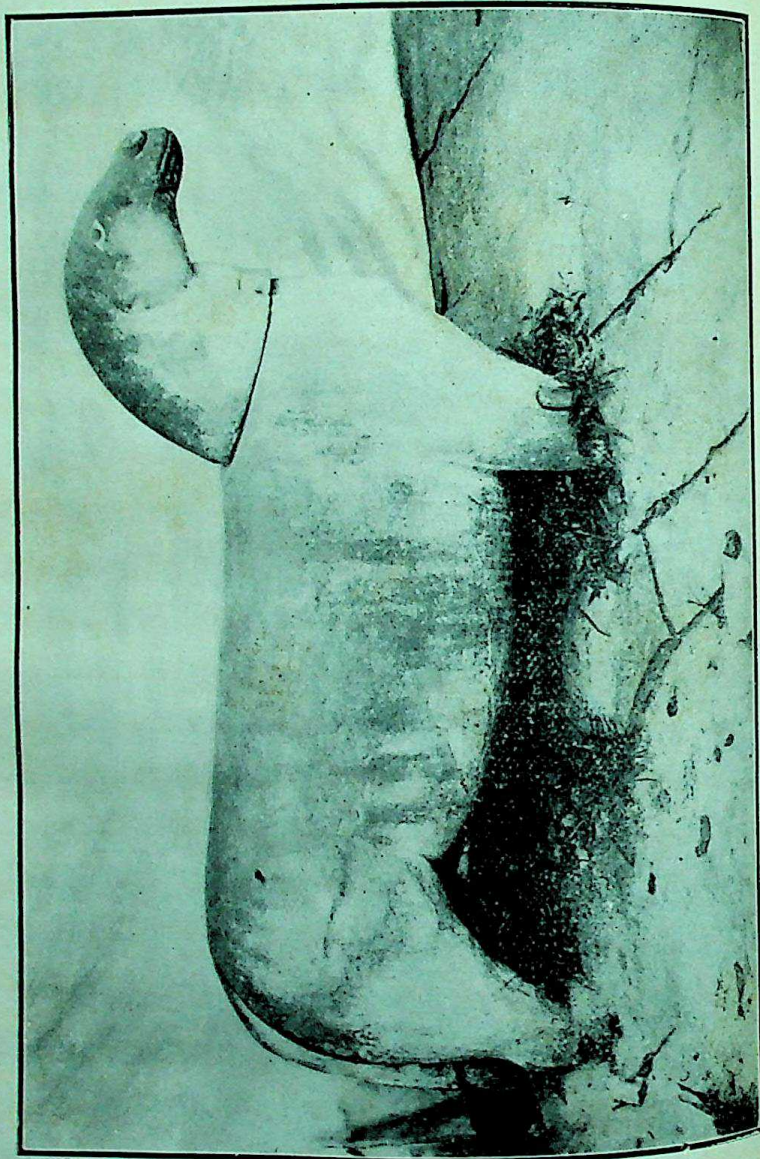
अश्व का चित्र

इस धारणा से जब मैंने उसको कुछ ध्यानपूर्वक देखा, तो वस्तुत: उसके दाहिने पार्श्व पर, कटिस्थल के समीप, कुछ प्राचीन अक्षर दृष्टिगोचर हुए, और बाईं ओर दो संकेत-चिह्न मिले। इन चिह्नों में से एक तो डमरू की आकृति का, पेट के बाएँ पार्श्व पर, और दूसरा भारतवर्ष के देशचित्र की आकृति का, ग्रीवा के बाएँ पार्श्व पर है। फिर मैंने एक दिन वहाँ जाकर उन अक्षरों तथा चिह्नों की थपुआ छापें उठा लीं, और पश्चात् एक फ़ोटोग्राफर से घोड़े का चित्र भी उतरवा लिया। प्राचीन लेख के कोविदों, पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा इतिहास के पंडितों के देखने तथा विचार करने के निमित्त, उक्त घोड़े, लेख तथा चिह्नों के चित्र भी इस लेख के साथ प्रकाशित किए जाते हैं।

पहला चित्र

यह चित्र उस पत्थर के घोड़े का है, जिसका परिचय ऊपर दिया गया है। यह चुनार के सामान्य, पर कड़े पत्थर का बना हुआ है। इसकी गढ़न साधारण, प्रत्युत भद्दी, है। इसकी ग्रीवा तथा सिर एक पृथक् पत्थर के टुकड़े में बनाकर धड़ में जोड़े हुए हैं और लखनऊवाले घोड़े की ग्रीवा तथा सिर से आकृति तथा संस्था में सर्वथा भिन्न है। इसके चारों पाँव घुटनों के पास से टूटे हुए हैं। पर जो भाग रह गए हैं, उनसे प्रकट होता है कि

यह बात मुझे बड़ी विलक्षण प्रतीत होती है कि जो लेख अनुमानतः १६०० वर्ष तक के, सब आँधी।पानी गर्म्मी जाड़ा झेल कर भी पढ़े जाने के योग्य बना रहा हो, वह केवल १०-१५ वर्ष में सर्वथा अदृश्य हो जाय! इसी कुतूहल से प्रेरित होकर मैं स्वयं अभी उक्त घोड़े को देखने लखनऊ गया था। पर खेद है कि मुझे उस घोड़े के अंग पर, जिस पर उक्त लेख का होना बताया जाता है, किसी अक्षर का पता नहीं चला। घोड़े की पीठ पर विलक्षण आकृतियों की एक पंक्ति अवश्य है, जिसके विषय में मुझ से कहा गया कि वह कुछ फूल-पत्त हैं। इसके अतिरिक्त पीठ पर कई एक विशेष चिह्न भी हैं।

इसके अगले दोनों पाँव अलग नहीं किए गए थे, अर्थात् उनके बीच का पत्थर निकाल नहीं दिया गया था। यही दशा पिछले दोनों पाँवों की भी है। पिछले दोनों पाँवों के बीच में जो पत्थर छुटा हुआ है, उससे पूँछ भी जुटी हुई है। घुटनों के नीचे के भाग के टूट जाने से पूँछ के नीचे का भाग भी जाता रहा है। इन बातों में इसकी बनावट लखनऊ के घोड़े की बनावट के समान ही है। बाएँ कान के नीचे का कुछ भाग अभी विद्यमान है, जिससे ज्ञात होता है कि वह कान बनाया गया था, यद्यपि अब टूट गया है। पर इस बात का कोई चिह्न नहीं है कि कभी इसके दाहिना कान भी रहा होगा। दाहिने कान का स्थान सर्वथा चिकना और सम है, एवं वहाँ कभी किसी प्रकार की ऊँचान होने का कुछ पता नहीं है। यह ज्ञात होता है कि यह घोड़ा केवल एक ही कान का बनाया गया था। इसमें अवश्य कुछ भेद है। इसका विचार आगे किया जायगा। इस घोड़े की लंबाई, मुँह से पूँछ की जड़ तक = ४′ ११″; ऊँचाई जंघा से पीठ तक २′ और पेट पर से गोलाई ५′ है। लखनऊ के घोड़े से यह छोटा है। उसकी नाप ६′ ११″ × ५′ २″ है।

इसके दाहिने कोखे पर वे अक्षर हैं, जो दूसरे चित्र में दिए गए हैं। पेट के बाएँ पार्श्व पर डमरू-चिह्न, जो तीसरे चित्र में दिखलाया गया है और ग्रीवा के बाएँ भाग में देश-चित्र, जो चौथे चित्र में है। इसके दाहिने पुट्ठे पर भी कुछ अक्षर हैं; पर वे ऐसे घिसे हुए तथा अस्पष्ट हैं कि उनकी छाप नहीं उठ सकी। उनमें से आदि के दो अक्षर, जो कुछ कम घिसे हैं, देवनागरी के 'ज्य' अथवा 'घ' तथा 'ल' से मिलते हैं। उनकी आकृति से प्रतीत होता है कि वे बहुत पुराने नहीं हैं।

दूसरा चित्र

यह चित्र उस लेख का है जो घोड़े के दाहिने पार्श्व पर कटिस्थल के समीप खुदा हुआ है। इसमें पाँच अक्षर जान पड़ते हैं,

पाषाणाश्व—दूसरा चित्र

लेख का चित्र

जिनमें पहला तो ऐसा अस्पष्ट है कि उसकी आकृति से, मैं उसको कुछ भी नहीं पहचान सका। दूसरा अक्षर ईसा की दूसरी तथा तीसरी शताब्दियों की लिपि के 'च' से कुछ मिलता है। उसके ऊपर जो एक मुकुट सा लगा हुआ है, विशेषतः उसके कारण मैं उसको 'च' ही पढ़ता हूँ। तीसरे अक्षर को मैं 'द्रं', अर्थात् सानुस्वार 'द्र' पढ़ता हूँ। 'द्रं' में जो नीचे रेफ लगी है, वह निस्संदेह बहुत बढ़ाकर कुंडलित कर दी गई है। पर जिस समय का यह लेख है, उस समय की लिपि के तोड़-मरोड़ में यह बात सर्वथा नई नहीं है। इस विषय में 'भारतीय प्राचीन लिपि-माला' का १२वाँ लिपि-पत्र द्रष्टव्य है। चौथे अक्षर को मैं 'गु' मानता हूँ। इसके उकार के कुंडलाकार के विषय में भी वही वक्तव्य है जो 'द्रं' के रेफ के आकार के विषय में कहा गया है। पाँचवाँ अक्षर सर्वथा घिसा हुआ, अतएव अपाठ्य है।

इन अक्षरों के विषय में जो मैंने अनुमान किया है, यदि वह ठीक हो तो इस लेख का पाठ 'चद्रंगु' होता है, पर इस पाठ से कोई सार्थक शब्द नहीं बनता। अतः यदि यह मान लिया जाय कि खोदनेवाले के भ्रम से 'च' पर का बिंदु 'द्र' पर लग गया है तो यह लेख—'चंद्रगु'—पढ़ा जाता है। और यदि यहाँ तक का अनुमान संगत माना जाय तो अंतिम अक्षर सहज ही में 'प्त' माना जा सकता है। बस फिर इस लेख का पाठ—'चंद्रगुप्त' हो जाता है। अब रह गया पहला अक्षर। यदि पहले अक्षर को छोड़कर शेष चार अक्षरों का 'चंद्रगुप्त' होना माना जाय, तो पहला अवश्य कोई ऐसा अक्षर है जो अकेला ही एक शब्द हो सकता है; और वह भी ऐसा शब्द जो प्रतिष्ठित व्यक्तियों के नामों के पूर्व में लगाया जाता है। ऐसा एक अक्षर का शब्द संस्कृत में 'श्री' ही है। अतः पहले अक्षर को 'श्री' मान लेना असंगत नहीं प्रतीत होता। बस फिर यह पूरा लेख 'श्री चंद्रगुप्त' पढ़ा जाता है।

तीसरा चित्र

इस चित्र में वह डमरू-चिह्न दिखलाया गया है, जो उक्त घोड़े के उदर के बाएँ पार्श्व पर खुदा हुआ है। 'अट्ठारह गोटिया' खेलने के निमित्त जो कोष्ठक बनाया जाता है, उससे इसकी आकृति ऐसी मिलती है कि कई सज्जनों की धारणा है कि इसको वस्तुतः उक्त खेल ही के निमित्त किसी ने बनाया होगा। पर यह बात ध्यान देने की है कि जिस ढंग से यह घोड़ा इस समय रखा हुआ है, उस दशा में तो उस कोष्ठक पर गोटियाँ टिक ही नहीं सकतीं; और यदि यह कहा जाय कि कभी यह दाहिने पार्श्व के बल पड़ा रहा होगा, और उस समय यह घरौंदा खींचा गया होगा, तो इसके उत्तर में यह वक्तव्य है कि 'अट्ठारह गोटिया' खेलनेवाले प्रायः ग्रामीण और छोटी जाति के लोग होते हैं; जिनके विषय में यह मान लेना कि यह घरौंदा बनाने के लिये उन्होंने घर से टाँकी-हथौड़ा लाने का कष्ट उठाया होगा, अथवा किसी पथरकट को बुलवाकर इसको खुदवाया होगा, कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। और, बिना टाँकी-हथौड़े के, केवल किसी पैने कील-काँटे से खींचा हुआ यह प्रतीत नहीं होता। मेरी समझ में तो यह किसी मत-मतांतर का कोई चिह्न विशेष, शिवजी के डमरू का चित्र अथवा कोई तांत्रिक यंत्र है। यह कोई राज्य-चिह्न अथवा यज्ञ-संबंधी किसी वेदी का चित्र भी हो सकता है। पर यदि इस घोड़े से किसी अश्वमेध का संबंध माना जाय, तो इस चिह्न को किसी वेदी का चित्र ही मानना विशेष संगत प्रतीत होता है।

चौथा चित्र

यह चित्र उस चिह्न की प्रतिकृति है, जो घोड़े की ग्रीवा के बाएँ पार्श्व पर है। यद्यपि इसको किसी चैत्य का चित्र भी कह सकते हैं, जैसा कि किसी किसी प्राचीन मुद्रा पर दिखाई देता है, पर मेरे देखने में यह चैत्य की अपेक्षा भारत, अथवा भारत के

पाषाणाश्व—तीसरा चित्र
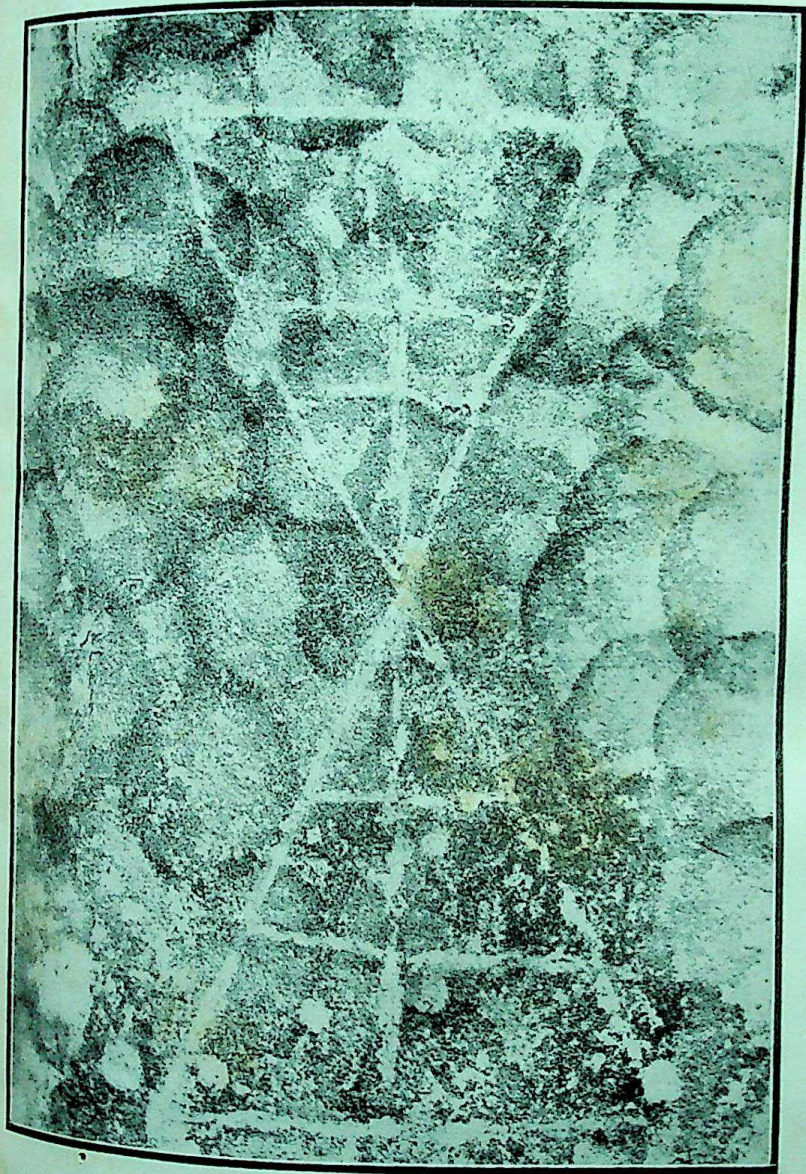
डमरू यंत्र (?) का चित्र

पाषाणाश्व—चौथाचित्र
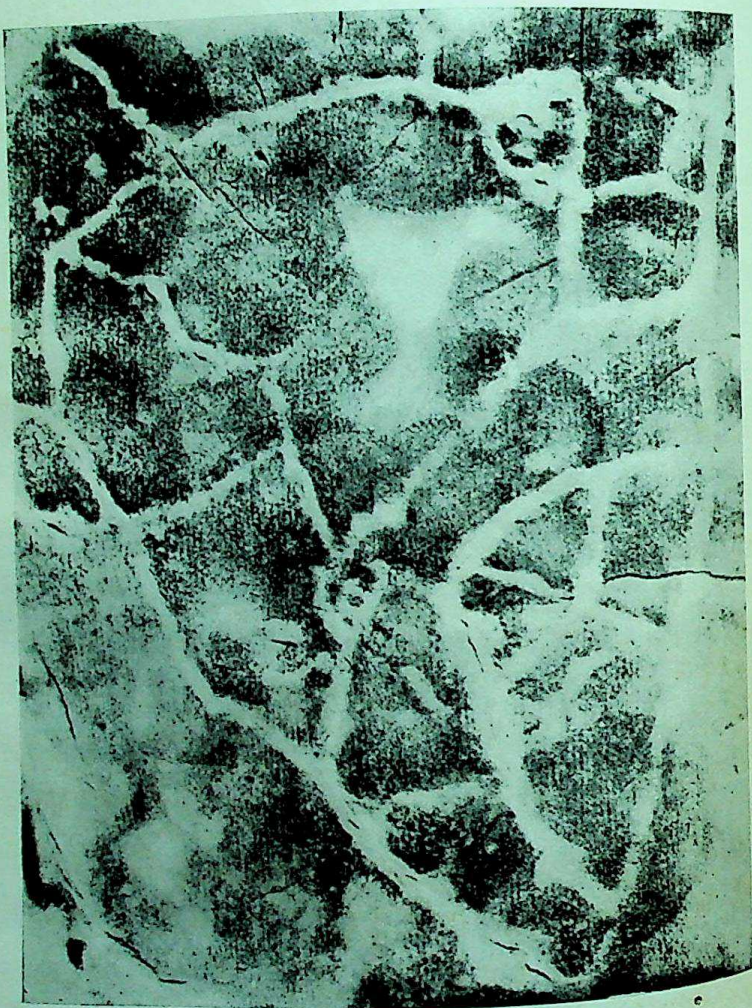
देश का मानचित्र

बहुत बड़े भाग के देश-चित्र से अधिक मिलता है। चैत्यों में जो गोल-गोल रेखाएँ होती हैं, वे प्राय: समान तथा समानाकार की होती हैं; पर इस चित्र की रेखाएँ विषम तथा विशृंखल हैं। वे चैत्यचित्र-रेखाओं की अपेक्षा, देश-चित्र की प्रादेशिक सीमा-रेखाओं से अधिक साम्य रखती हैं। इसमें कई एक रेखाएँ मुख्य चित्र की सीमा के बाहर भी निकल गई हैं, जो चैत्य चित्रों में नहीं होता।

घोड़े तथा उस पर के लेख एवं चिह्नों का संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात्, मैं इन विषयों पर कुछ अपने विचार भी प्रकट करना उचित समझता हूँ कि वह चंद्रगुप्त, जिसका नाम घोड़े पर खुदा हुआ प्रतीत होता है, कौन चंद्रगुप्त हो सकता है; और देश-चित्र का क्या अभिप्राय है। डमरू चिह्न के विषय में, जो कुछ मैं ऊपर कह चुका हूँ, उससे अधिक मुझे इस समय कुछ वक्तव्य नहीं है।

भारत के प्राचीन इतिहास से तीन चंद्रगुप्तों का विख्यात होना ज्ञात होता है—

(१) चंद्रगुप्त मौर्य, ईसा से ३२२-२९८ वर्ष पूर्व।

(२) चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त का पिता, ३२० से ३३५ ईसवी तक।

(३) चंद्रगुप्त दूसरा, समुद्रगुप्त का पुत्र, ३७५ से ४१३ ईसवी तक।

अब यदि इस घोड़े का संबंध किसी अश्वमेध से होना आवश्यक माना जाय, और इस पर का नाम उस यज्ञ के कर्त्ता का नाम समझा जाय, तो इस नाम से चंद्रगुप्त मौर्य नहीं लक्षित हो सकता; क्योंकि उक्त चंद्रगुप्त के अश्वमेध करने का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है; प्रत्युत पुराणों का प्रमाण उसके अश्वमेध करने के विरुद्ध ही है, क्योंकि कई पुराणों में यह लिखा मिलता है कि जनमेजय के पश्चात् पुष्यमित्र के राजा होने तक अश्वमेध का कोई

आहर्त्ता न होगा। और यह विदित ही है कि चंद्रगुप्त मौर्य पुष्य-मित्र से सौ वर्ष से भी अधिक पूर्व हुआ था।

इस लेख का लक्ष्य चंद्रगुप्त प्रथम, अर्थात् समुद्रगुप्त के पिता, को मानना भी युक्ति-युक्त नहीं ठहरता, क्योंकि यद्यपि उसने प्रयाग तथा अयोध्या तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा ली थी, तथापि वह भारत का चक्रवर्त्ती राजा नहीं कहला सकता था। तब फिर उसका अश्वमेध में प्रवृत्त होना कैसे संभव हो सकता है?

द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, अर्थात् समुद्रगुप्त का पुत्र, निस्सं-देह भारतवर्ष का एकछत्र चक्रवर्ती राजा हुआ। उसने अपने पिता समुद्रगुप्त (अश्वमेधकर्ता) के राज्य को पशिचमी समुद्र तक बढ़ा लिया था और वस्तुतः भारत का सार्वभौम अधिपति तथा अश्व-मेध करने का पूर्णतया अधिकारी था। पर अब तक प्राप्त किसी ऐतिहासिक सामग्री से उसका अश्वमेध करना प्रमाणित नहीं होता।

ऐसी दशा में, जब तक, पुरातत्त्व-अनुसंधान से, कोई प्रमाण इस बात का न प्राप्त हो जाय कि अन्य किसी चंद्रगुप्त ने अश्वमेध किया था, तब तक हम लोगों को नीचे लिखे दो अनुमानों में से किसी एक पर संतोष करना चाहिए।

(१) यह कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी, अपने पिता समुद्र-गुप्त की भाँति, अश्वमेध किया था और यह पाषाणाश्व ही उसके उक्त यज्ञ करने का प्रथम प्रमाण हस्तगत हुआ है।

अथवा

(२) यह कि अश्वमेधकर्त्ता समुद्रगुप्त अथवा उसके पौत्र कुमार-गुप्त ने पैतृक प्रेम तथा भक्ति से, अपने नाम के बदले अपने पिता का नाम इस घोड़े पर अंकित करा दिया।

इन दोनों अनुमानों में से मैं प्रथम को विशेष उपयुक्त समझता हूँ, क्योंकि दूसरे अनुमान के निमित्त इस बात के भी मानने की आवश्यकता पड़ती है कि अश्वमेधकर्त्ता कभी कभी स्मारक घोड़े पर अपने नाम के स्थान पर अपने पिता का नाम भी खुदवा देता था।

यदि इस घोड़े का संबंध किसी अश्वमेध से न मानकर, यह किसी मंदिर का एक स्मारक चढ़ावा मात्र अथवा किसी राज्य का सीमा-चिह्न समझा जाय, तो पहली अवस्था में मैं इसका संबंध चंद्रगुप्त विक्रमादित्य से; और दूसरी अवस्था में, प्रथम चंद्रगुप्त, अर्थात् समुद्रगुप्त के पिता से—जिसने प्रयाग तथा अयोध्या तक के प्रदेश अपने अधिकार में कर लिए थे, मानना उचित समझता हूँ। यहाँ पर यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि, थोड़े दिन हुए, एक पत्थर का घोड़ा प्रयाग के पास भी मिला है। वह अब लखनऊ के संग्रहालय में आ गया है। उसके चारों पाँव तथा मस्तक टूटे हुए हैं। नाप में वह काशीवाले घोड़े से मिलता-जुलता है। मैं उसका केवल एक पार्श्व देख सका। उस पर कुछ चिह्न खुदे हैं, जिनमें से दो-एक पुराने अक्षर प्रतीत होते हैं। इस पर कुछ देव-नागरी अक्षर भी हैं, जो भली भाँति पढ़े जाते हैं।

ग्रीवा पर के चिह्न के विषय में मैं पहले कह आया हूँ कि मेरी दृष्टि में वह चैत्य की अपेक्षा, भारत के एक स्थूल चित्र से अधिक समानता रखता है। इस बात के जताने के निमित्त कि, यह अश्वमेध चित्रांतर्गत समस्त प्रदेशों को अर्थात् समस्त भारतवर्ष को, विजय करके किया गया था, इसका घोड़े पर खुदवाना औचित्य-पूर्ण भी है। श्री स्मिथ महोदय के 'भारत का प्राचीन इतिहास'—(Early History of India) नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त अपनी विजयवाहिनी को भारत के दक्षिणी सीमांत तक ले गया था; पर उसने दक्षिण का पश्चिमी प्रांत अछूता ही छोड़ दिया था, जिसको उसके सुयोग्य पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने विजय किया। अतः चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समस्त भारतवर्ष के महाधिपति होने के नाते अश्वमेध करना परम उचित था।

मेरी इस धारणा के विरुद्ध यह प्रश्न हो सकता है कि क्या विक्रमादित्य के समय में भारतवर्ष की यह आकृति, जो इस चिह्न में दिखाई देती है, ज्ञात थी? इसके उत्तर में निवेदन है कि इस

समय का भारत का मान-चित्र स्थूल दृष्टि से इस चिह्न में उल्लिखित चित्र से मिलता है, और भारत की आकृति ईसा की चौथी शताब्दी में भी अब की आकृति से मिलती-जुलती ही रही होगी। तो फिर क्या, उस शताब्दी में, जब कलाओं की इतनी उन्नति हो रही थी, एक ऐसे राजा को, जिसने अपनी विजयिनी सेना से समस्त भारत की लंबान-चौड़ान छान डाली थी, उसके मान-चित्र का स्थूल रूप भी जानना सर्वथा असंभव था ? जनरल कनिंगहम महोदय के 'प्राचीन भारतीय भूगोल'—(Ancient geography of India) नामक ग्रंथ के आदि में ही लिखा है—"ग्रीक लोगों के लिखे वृत्तांत से विदित होता है कि प्राचीन समय के भारतवासी अपने देश के यथार्थ रूप तथा परिमाण से पूर्णतया अभिज्ञ थे।" आगे चलकर उक्त ग्रंथ में जहाँ तहाँ उन्होंने इस मत के पोषक अनेक वाक्य भी उद्धृत किए हैं। अतः यह बात आश्चर्यजनक नहीं हो सकती कि भारत का स्थूल मान-चित्र, तथा उसके मुख्य मुख्य विभाग, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को ज्ञात रहे हों।

अब इस घोड़े के एककर्ण होने के संबंध में भी कुछ कहना समुचित प्रतीत होता है। यदि मेरी यह भावना कि इस घोड़े के एक ही कान बनाया गया था, ठीक हो, तो यह बात अवश्य कुछ भेद की है जिसके समझने समझाने के निमित्त पुरातत्वज्ञों तथा प्राचीन इतिहास के पंडितों को दत्तचित्त होना चाहिए। इस विषय पर मैं अपने विचार नीचे निवेदित करता हूँ।

इतिहास-मर्मज्ञों को यह बात अविदित नहीं है कि गुप्त वंश के राजा यद्यपि व्यवहार में ब्रह्मण्य सनातनधर्मी थे, पर भीतर से उनकी श्रद्धा बौद्धधर्म पर भी थी, और उस धर्म के मुख्य मुख्य सिद्धांतों के वे पोषक थे। श्री विंसेंट ए० स्मिथ महोदय अपने पूर्वोक्त ग्रंथ में लिखते हैं—"प्रथम चंद्रगुप्त पहले सांख्य मत का अनुयायी था, पर पीछे से बौद्ध भिक्षु वसुबंधु के सिद्धांतों को श्रद्धापूर्वक सुनने लगा था। उसने अपने बेटे तथा उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को भी

उक्त भिक्षु के उपदेशों से लाभान्वित होने का आदेश किया था। कुछ दिनों पश्चात् हियनत्संग ने नरगुप्त बालादित्य का—जिसने बौद्धों के धार्मिक केंद्र नालंद में सुंदर सुंदर सदन बनवाए थे—पक्का बौद्ध होना बताया है। गुप्तवंशीय राजाओं की बौद्ध धर्म पर ऐसी श्रद्धा देखकर यह बात बहुत संभव प्रतीत होती है कि वे अपनी प्रभुत्व-कामना को तृप्त करने तथा अपने अवदानों को चिर-स्मरणीय और अपनी महाध्यक्षता को सर्वमान्य बनाने की आकांक्षा से अश्वमेध तो बड़े समारोह से करने को उत्सुक रहते थे, पर वे घोड़े को वस्तुतः मार डालने के विरुद्ध थे। वे केवल उसका एक कान काटकर, और उसी के रक्त तथा मांस से अग्निदेव को तृप्त करके, उक्त यज्ञ की पूर्ति समझ लेते थे और घोड़े को जीता ही छोड़ देते थे। मेरा यह अनुमान एक ऐसी ही प्रथा से भी—जो कि अब तक अमांसाहारी हिंदुओं के कई समूहों में प्रचलित है—पुष्ट होता है। ऐसे हिंदुओं को जब कभी किसी देवी-देवता को बकरे का बलिदान चढ़ाना होता है, तो वे उसका दाहिना कान काटकर और उसी का रक्त तथा मांस वेदी पर चढ़ाकर, संतुष्ट हो जाते हैं और उस कनकटे बकरे को मंदिर में छोड़ देते हैं। यदि यह अनु-मान कुछ युक्ति-युक्त हो, तो यह बात कही जा सकती है कि यह पत्थर का घोड़ा भी उसी बलिदान के घोड़े की प्रतिमूर्त्ति बनाया गया है, जिसका एक कान काट दिया गया था।

भारत के देश-चित्र एवं घोड़े के एक कान न होने के अनुमान, केवल मेरी युक्ति-युक्त कल्पनाएँ हैं, जो विद्वज्जनों की सेवा में उपस्थित की जाती हैं। अब यह पुरातत्त्व तथा इतिहास के पंडितों का काम है कि यदि वे उचित समझें, तो इनकी पुष्टि अन्य प्रमाणों और विचारों द्वारा करें; अथवा यदि ये कल्पनाएँ उनको ठीक न जँचें, तो उनके विषय में अन्य उचिततर कल्पनाएँ एवं विचार प्रकाशित करें।

आवश्यक निवेदन

हिंदी शब्दसागर अब समाप्ति पर है। यह शब्द-कोश प्रायः दो या तीन संख्याओं में समाप्त हो जायगा; और इसकी समाप्ति में अधिक से अधिक ४-५ मास का समय लगेगा। विचार यह होता है कि इस शब्दसागर में जो शब्द छूट गए हैं, वे अंत में परिशिष्ट रूप में दे दिए जायँ। कोश-कार्य्यालय में इस प्रकार के कुछ शब्दों का संग्रह प्रस्तुत है; परंतु वह संग्रह किसी प्रकार पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः कोश के ग्राहकों तथा हिंदी के अन्यान्य समस्त विद्याप्रेमी पाठकों, समालोचकों, संपादकों तथा दूसरे विद्वानों से सभा का नम्र निवेदन है कि आप लोगों के देखने में जो शब्द इस शब्दसागर में छूटे हुए हों, वे सब यथासाध्य व्युत्पत्ति और अर्थ आदि सहित सभा में शीघ्र ही लिख भेजने की कृपा करें। उन लोगों के थोड़ा थोड़ा कष्ट उठाने पर ही इस कोश के एक अभाव की बहुत बड़ी पूर्त्ति हो जायगी। जो लोग इस प्रकार सभा में शब्द संगृहीत करके भेजने की कृपा करेंगे, सभा उनकी अत्यंत अनुगृहीत होगी। यदि इस कार्य्य के लिये पुरस्कार की आवश्यकता होगी, तो उस पर भी सभा विचार करेगी।

नागरीप्रचारिणी सभा
काशी
१५-११-२७

श्यामसुंदरदास
संपादक
हिंदी शब्दसागर

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ८—अंक ३

संपादक

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:०:—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

कार्तिक संवत् १९८४]   [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

८—पुष्कर [लेखक—पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर] — २४१

९—एक प्राचीन मूर्ति [लेखक—बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए०, काशी] २६७

१०—कालिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण [लेखक—विद्यामहोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, पटना] ३०१

[नोट—इस लेख का चित्र अगली संख्या में प्रकाशित होगा]

११—बोधिचर्या (अर्थात् महायान धर्म की साधना) [लेखक—अध्यापक नरेंद्रदेव वर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी] ३२३

(८) पुष्कर

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

भारतवर्ष में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में क्रमशः जगन्नाथ, द्वारका, बदरीनारायण और रामेश्वर आर्यों के सुप्रसिद्ध तीर्थ हैं जिनका दर्शन करना उनके लिये उच्च कोटि का धार्मिक कर्तव्य माना जाता है। इस बहाने से जो पुरुष इन चारों पुनीत धामों की यात्रा कर आते हैं वे एक प्रकार से सारे भारतवर्ष को देख लेते हैं। इन चारों तीर्थों का मध्यवर्ती एक और सुप्रसिद्ध तीर्थ है जिसे "पुष्कर" कहते हैं। इसकी संज्ञा तीर्थ नहीं किंतु तीर्थराज या तीर्थगुरु है और यह विख्यात है कि जो उपर्युक्त चारों धामों की यात्रा कर आते हैं उन्हें अवश्य पुष्कर की भी यात्रा करनी चाहिए अन्यथा उनकी पहले चारों धामों की यात्रा सफल नहीं मानी जाती। यों जो पुष्कर सहित चारों धामों की यात्रा कर लेते हैं वे निःसंदेह सारे भारतवर्ष की यात्रा कर लेते हैं। पुष्कर की स्थापना प्राचीन वैदिक काल के यज्ञ के आधार पर हुई है। इस धार्मिक स्थान का वर्णन आज से सहस्र वर्ष पूर्व रचे हुए काव्यों में, उन काव्यों से कहीं पूर्व रची हुई स्मृतियों में, उन स्मृतियों से भी कहीं पूर्व रचे हुए पुराणों में, और उन पुराणों के भी पुराण महाभारत में और महाभारत से भी प्राचीन रामायण आदि ग्रंथों में मिलता है। ऐसी दशा में इसको शाश्वत तीर्थ कहना अनुचित नहीं होगा। ऐसे प्राचीन और प्रतिष्ठित तीर्थ का धार्मिक और ऐतिहासिक स्वरूप से यथेष्ट परिचय देने के लिये न हमारे पास सामग्री है और न समय। केवल यह देखकर कि इस विषय में हिंदी भाषा में कोई प्रबंध नहीं लिखा गया है, हम जो कुछ भी सामग्री इस संबंध में संग्रह कर सके हैं उसे संक्षिप्त रूप से सादर पाठकों की भेंट करते हैं।

अजमेर से पुष्कर

पुष्कर की स्थिति २६° अंश २९' कला उत्तर अक्षांश और ७४° अंश ३३' कला पूर्व अक्षांश समुद्र-सीमा से २३८९ फुट ऊँचे पर हैं। इसे देशी भाषा में "पोषर", जो संस्कृत के पुष्कर शब्द का प्राकृत रूप है, बोलते हैं और तीर्थ होने के कारण बहुधा सत्कार सहित "पोषरजी" कहते हैं। रेलगाड़ी से यहाँ आने के लिये राजपूताना के मध्यवर्ती अजमेर स्टेशन पर उतरना होता है। वहाँ से यह केवल ८ मील दूर रह जाता है अतः बहुत से लोग तो पैदल ही चलकर करीब ३ घंटे में वहाँ जा पहुँचते हैं। सवारी द्वारा वहाँ जानेवालों के लिये स्टेशन पर मोटर, ताँगे अथवा बैलगाड़ियाँ मिल जाती हैं। जिन लोगों को अजमेर थोड़ा बहुत ठहरना होता है उनके लिये स्टेशन के समीप धर्मशालाएँ विद्यमान हैं। अजमेर से पश्चिम की ओर चलकर यात्री अपने दाहनी ओर आना सागर को छोड़ अर्वली पर्वतश्रेणी के नाग पहाड़ के एक भाग के सामने आता है जिसे पुष्कर की घाटी कहते हैं। यदि यह पर्वत का भाग यहाँ न होता तो लोग बहुत आसानी से पुष्कर पहुँच जाया करते प्रत्युत रेल में बैठे बैठे ही वहाँ जा उतरते। पहले दिनों में नाग पहाड़ से दक्षिण की ओर होकर, खरेडी ग्राम की ओर से, पुष्कर में जाने का मार्ग था और सेठ दौलतमल ने पहाड़ों में मनुष्यों के लिये एक पगडंडी (नया मार्ग) बनवा दी थी परंतु सन् १८४६ में सरकार ने एक बड़ी चट्टान को कटवाकर घोड़ागाड़ी जाने के योग्य मार्ग निकाला और शनैः शनैः बड़ी अच्छी सड़क बनवा दी। पुरानी पगडंडी भी किसी अंश में काम आती है और रैणी के पंडित गंगाधर नामक ब्राह्मण ने उसकी सीढ़ियों का सुधार कर यात्रियों के चलने में सुगमता उत्पन्न कर दी है।

शैल-सौंदर्य से दृगों को तृप्त करता हुआ यात्री जब इस घाटी को पारकर आगे बढ़ता है तो उसके बाईं ओर हरा भरा नाग पहाड़ और दाईं ओर प्रायः शुष्क बालू रेत दिखाई देती चली जाती है।

इस पहाड़ में उसे दो एक लंबे लंबे बाग और एक आश्रम, जिसे "पचकुंड" कहते हैं, दिखाई देते हैं। दाहनी ओर ठेठ तक बालू का दृश्य ही प्रधान रहता है। पुष्कर अँगरेजी राज्य में है परंतु इसके पास से ही जोधपुर का राज्य, जो मारवाड़ (मरुस्थल) कहलाता है, प्रारंभ हो जाता है। यात्री को यहाँ से ही मरुस्थल का अच्छा ज्ञान हो जाता है। बारीक बालू के बड़े बड़े टीले अपनी निराली शोभा प्रदर्शित करते हैं। वे योगवाही हैं अर्थात् ठंड के साथ स्वयं ठंडे और गर्मी के साथ गरम हो जाते हैं। जब पवन पधारती है तब वे पवन का सप्रेम साथ देते हैं और जब जल उनसे मिलने आता है तब वे ऐसे स्नेह से उसका आलिंगन करते हैं कि तत्क्षण भी किसी को द्वैधभाव प्रतीत नहीं हो सकता। कोई कहते हैं कि भगवान् राम ने सेना सहित लंका जाने को समुद्र से मार्ग चाहा परंतु जब उसने अवहेलना की तो उन्होंने उसका शोषण करने के विचार से एक बाण चढ़ाया जिसे देख समुद्र व्याकुल हो गया और उनके चरणों की शरण में आया। तदनंतर उन्होंने उस बाण* को उत्तर दिशा में फेंक दिया जिससे यहाँ का जल सूख मरुस्थल अथवा आधुनिक मारवाड़ हो गया। कोई कहते हैं कि पृथ्वी घूमती है जिससे भूकक्षा के समीप रेती अधिक उड़ती है। वही रेती सरकती सरकती अफ्रीका के सहारा, अरेबिया, सिंध और मारवाड़ मार्ग से आबादी की बरबादी करती हुई बढ़ती चली जा रही है। कुछ भी हो, शंख सीपी आदि के पाषाण में परिवर्तित रूपों (Fossils) के मिलने से यह निर्विवाद है कि यहाँ पहले प्रभूत जल था; कालांतर में वह सूख गया और वर्तमान मरुस्थल छोड़ गया। यही वस्तुतः सरस्वती नदी से उपकृत आर्य्यों का अति प्राचीन क्रीड़ा-क्षेत्र सारस्वतक्षेत्र था और यही उनका पुष्करारण्य नाम से विख्यात तपोवन था। अस्तु, थोड़ी

---

* यह रामायण के युद्धकांड, सर्ग २२ श्लोक ३२, ३३ में वर्णन की हुई घटना किसी समुद्रगत भूमि की पुनरवाप्ति (Land reclamation) का आलंकारिक भाषा में निर्देश है।

देर पीछे यात्री के सामने ग्राम के दृश्य उपस्थित होते हैं और वह पुष्कर ग्राम में आ पहुँचता है।

पुष्कर ग्राम

पुष्कर ग्राम अजमेर तहसील का सब से बड़ा ग्राम है। यह पुष्कर जलाशय के किनारे से ही पूर्व उत्तर और पश्चिम की ओर बसा हुआ है। यहाँ की जन-संख्या १९०१ ई० में ३८३१ थी परंतु १९२१ में ३४१४ ही रह गई। इस पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार यहाँ ९६९ घर आबाद थे। यहाँ ब्राह्मणों की संख्या अधिक है। यह ग्राम दो बस्तियों में विभक्त है। एक छोटी बस्ती कहलाती है जिसे प्रारंभ में जयसिंह पुरा कहते थे क्योंकि वह जयपुर के राजा जयसिंह दूसरे ने [राज्यकाल १६९९ से १७४३ ई०] बसाई थी। इसकी सीमा जलाशय के सरस्वतीघाट से भदोरियों के घाट तक है। शेष बड़ी बस्ती कहलाती है। यहाँ पर यात्रियों के ठहरने के लिये पंडों के स्थानों तथा मंदिरों के अतिरिक्त कई धर्मशालाएँ हैं। हृषिकेश, द्वारका, वृंदावन, चित्रकूटादि तीर्थों की विस्तीर्ण, मनोहर एवं अतिथिप्रिय धर्मशालाओं को देखे हुए यात्री के नेत्रों को यहाँ की धर्मशालाएँ अधिक आनंदप्रद नहीं हो सकतीं परंतु यहाँ पर मशक, मर्कट और मत्कुण के अभाव से एवं ग्राम में आवश्यक वस्तुएँ सुलभ होने से उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। हाँ, वार्षिक मेले पर जो कार्तिक सुदि ११ से पूर्णिमा तक (अक्टोबर या नवंबर में) होता है सुविधा अवश्य संकुचित हो जाती है। उस अवसर पर यहाँ पर करीब एक लाख जन-समुदाय एकत्र हो जाता है। उस अवसर पर आजकल नए ढंगों की समिति सभाओं के वार्षिकोत्सवादि भी यहाँ पर होने लगे हैं। यात्रियों के सुख के लिये रेलवे स्पेशल ट्रेनें भी चलती हैं। इस मेले में प्रतिवर्ष घोड़े, ऊँट और बैल बड़ी संख्या में बिकने के लिये आते हैं*। इनकी बिक्री पर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की तरफ से कर

* ई० स० १९११ के मेले पर (जो यहाँ २ से ६ नवंबर तक हुआ)

लगता है जिसकी आय १८०००) के करीब हो जाती है। सन् १९२४ से बैलों और भैंसों पर २), ऊँटों पर ३), भैंसों और गायों पर ॥), सौ से कम कीमत के घोड़े पर ३) और अधिकवाले पर ५) और खच्चर तथा गदहों पर ।) कर लगता है। मेले पर यहाँ जानवरों की प्रदर्शिनी भी होती है। पुष्कर में किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती। ऐसी सरकारी आज्ञा भी है।

आजकल यहाँ की मूलियाँ प्रसिद्ध हैं परंतु पहले यहाँ बहुत बाग थे जिनके मधुर फल विश्वविख्यात थे। जहाँगीर ने यहाँ के फलों की प्रशंसा की है। बिशप हेवर ने, जो यहाँ १८२५ ई० में आए थे, लिखा है कि यहाँ के अंगूर भारतवर्ष में सब से अच्छे और सब से बड़े हैं और शीराज (जो फारिस में है) के अंगूरों के समान हैं*। खेद का विषय है कि अब यहाँ अंगूर आदि फल नहीं रहे।

पुष्कर जलाशय में कमल बहुत होता था। तीस पैंतीस वर्ष पहले, जब कागजों में खाने पीने की चीजों को देने की रीति नहीं प्रचलित हुई थी, हलवाई इस ग्राम में और अजमेर में कमल के पत्तों को कागज के स्थान में काम में लाते थे। ये सुंदर पत्ते ही भोजन रखने के लिये पत्तलें थीं। कमल की डंडी—जिसमें १० छेद होते हैं अतः डस्सी कहलाती है—शाक के काम आती थी। इस पुष्प में बीज आता है जो कमलगट्टा कहलाता है। कच्चे को खा भी लेते हैं। पक्का कई कामों में आता है। वह पककर जब कीचड़ में गिरता है तो दूसरा कमल बना देता है। यों यहाँ खूब विस्तृत कमल था परंतु परस्पर के वैमनस्य से लोगों ने उसकी जड़ें काट डालीं और अब वह निःशेष सा हो गया है।

यह ग्राम जलाशय के अति समीप है अतः अधिक वृष्टि से जलप्लाव होने पर जल सड़कों पर बह जाता है। ई० स० १८१०

१४२४३ बैल, ४६०७ ऊँट, ९७० घोड़े आए थे जिनमें से ६२२३ बैल, २६४६ ऊँट और ४६२ घोड़े बिके। देखो अजमेर हिस्टारिकल एंड डिस्क्रप्टिव।

* देखो—अजमेर हिस्टारिकल एंड डिस्क्रप्टिव।

में जल इतना अधिक हो गया था कि किनारे की इमारतें जलमग्न हो गई थीं।

पुष्कर का कुंभ नहीं होता। यहाँ पर अन्य तीर्थों के समान मुंडन नहीं कराया जाता क्योंकि यह यज्ञस्थल है और यहाँ ब्रह्मा का सतत यज्ञ होना माना है।

त्रिपुष्कर

(१) ब्रह्मपुष्कर

पुष्कर के विषय में अधिक लिखने के पहले यह बता देना आवश्यक है कि पुष्कर एक नहीं तीन हैं और ये तीन क्यों हैं इसका विवेचन हम आगे चलकर करेंगे। इस स्थल पर इतना लिखना ही आवश्यक होगा कि ये सब करीब ६ मील के मंडल में हैं। सब के सब प्राचीन हैं और एक ही समय से प्रख्यात हैं। इनमें से कोई भी आगे पीछे स्थापित नहीं हुआ है। आजकल सबसे अधिक प्रसिद्ध ज्येष्ठ पुष्कर अथवा ब्रह्मपुष्कर है। केवल पुष्कर कहने से इसी प्रसिद्ध पुष्कर को संकेतित किया हुआ समझा जाता है। यहीं पर यात्री अधिक संख्या में आते हैं। यहीं पर विश्वविख्यात ब्रह्माजी का मंदिर तथा अन्य दर्शनीय देवालय हैं।

(२) मध्य पुष्कर

दूसरा पुष्कर मध्य पुष्कर है जो ज्येष्ठ पुष्कर से करीब दो मील दूर है। यह विष्णुपुष्कर भी कहलाता है। यहाँ जाने के लिये सड़क न होने से लोग बहुत कम जाते हैं। वहाँ कोई दर्शनीय इमारतें नहीं हैं अतः उसके विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है।

(३) कनिष्ठ पुष्कर

तीसरा पुष्कर—"बूडा पुष्कर" या "बुड्ढा पुष्कर" कहलाता है। पद्मपुराण के अनुसार इसकी संज्ञा कनिष्ठ अथवा रुद्रपुष्कर है। हम अभी तक सम्यक् रूप से यह निर्धारित नहीं कर सके हैं कि इस पुष्कर का नाम कनिष्ठ (सब से छोटा) से वृद्ध पुष्कर क्यों पड़ा। कोई कहते हैं कि रुद्रदेव महादेव कहलाते हैं वैसे ही

यह रुद्रपुष्कर महापुष्कर कहलाया और फिर धीरे धीरे बड़ा और बुड्ढा पुष्कर कहलाने लगा। कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ पर औरंगजेब आया था। उसने अपने स्वभावानुसार यहाँ पर कुछ धार्मिक धृष्टता प्रदर्शित करनी चाही परंतु उसे कुछ ऐसे अलौकिक चमत्कारों का दर्शन हुआ जिनसे नतमस्तक हो उसने इसे "बड़ा पुष्कर" कहा और वही बड़ा शब्द धीरे धीरे "बुड्ढा" वन गया। कोई कहते हैं कि यह बौद्ध पुष्कर कहलाता था और बौद्ध शब्द बिगड़कर बुड्ढा हो गया है। परंतु इस विषय का कोई प्रमाण देखने में नहीं आया। विक्रम संवत् ९८२ में वृद्ध पुष्कर नाम पड़ चुका था ऐसा एक शिलालेख से, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे, स्पष्ट है। वृद्ध का ही हिंदी भाषांतर बुड्ढा है।

अजमेर से चलकर आनासागर से आगे की घाटी को पार करते ही इस कनिष्ठ पुष्कर का जल दिखने लगता है और घाटी उतरते ही इसका मार्ग ब्रह्मपुष्कर के मार्ग से उत्तर दिशा को अलग फट जाता है। यात्री यहाँ पर जल्दी पहुँचता है क्योंकि यह ब्रह्मपुष्कर की अपेक्षा निकट है। यह स्थान अति शांत है। एकांत अन्वेषियों को एकांत में भी एकांत नहीं मिलता। निर्जन वन में भी उन्हें दिन में जल के पक्षियों का शब्द और रात में जंगली पशुओं की गर्जना विक्षेप उत्पन्न किए बिना नहीं रहती। परंतु यहाँ पर इन उपद्रवों का अभाव है। यहाँ के समीपवर्ती पहाड़ों का दृश्य अति रमणीय है। साथ ही बालू रेती के टीले भी अत्यद्भुत छवि प्रदर्शित करते हैं। जो पुष्कर रुद्र के नाम पर स्थापित हुआ हो वहाँ और होना भी क्या चाहिए? इस मनहरण प्रकृति-सौंदर्य के अतिरिक्त सायंकाल को जंगल में चरकर अपनी पिपासा बुझाने के लिये दौड़ती हुई गायों के झुंड के झुंड इस सरोवर पर आते हैं। वह दृश्य भी अपूर्व लोचनानंदप्रद और पुलकायमान करनेवाला होता है। यहाँ पर ब्रह्मपुष्कर के समान अधिक गायें नहीं हैं परंतु कमल पुष्प, जो पुष्कर का सौंदर्य हैं, किसी अंश में विद्यमान हैं। इस देव-

भूमि में पर्वत जलवाले हैं और जल खारा नहीं है। इस जलाशय पर पहुँचते ही इसमें उपस्थित जल खींचने का यंत्र सहसा आगंतुक के ध्यान को आकर्षित करता है। उसे यह जानकर आश्चर्य होता है कि इतनी थोड़ी लंबाई, चौड़ाई और गहराई में विद्यमान यह सरोवर अजमेर जैसे विस्तीर्ण नगर के निवासियों और वहाँ के रेल के महाकाय यंत्रालयों को कैसे पर्याप्त रूप से जल दे सकता है। वि० सं० १९४८ में जब अजमेर में जल का अभाव सा हो गया तब यहाँ पर नल लगाए गए और वर्षों तक इस जल ने नगर की आवश्यकता पूरी की। अजमेर में जल की क्रमशः कमी होती आई है, पिछले ३९ वर्षों में यहाँ औसत वृष्टि १९ इंच ४ सैंट हुई। ई० स० १९१७ में ४८ इंच ३० सैंट जो सब से अधिक थी और १९१८ में ५ इंच ८६ सैंट, जो सब से कम थी, हुई। पुष्कर में भी प्रायः इसी प्रमाण से वृष्टि का होना अनुमान करना चाहिए। पुष्करों को महाभारत में "प्रस्रवणानि" कहा है। यह इस बुड्ढे पुष्कर के संबंध में तो आज दिन भी सर्वथा सत्य है। बादलों की गर्जना से तथा शीतकाल में अपने आप इसमें जल ऊँचा बढ़ आता है। ब्रह्मपुष्कर में मुर्दों की भस्म के ढेर के ढेर निरंतर पटके जाने से ऊपरी मिट्टी का आस्तरण खूब बिछ गया अन्यथा उसमें भी यही विशेषता है। मध्य पुष्कर भी इसी प्रकार का है।

कनिष्ठ पुष्कर के समीपवर्ती बालू के टीले पुरानी पाल हैं। वृष्टि की न्यूनता जल के विस्तार को कम करती हुई चली आई है। फिर भी यह देखा गया है कि यंत्र द्वारा इसमें से दिन भर जल निकाला गया है और रात में फिर उतना का उतना ही हो गया है।

इस समय यहाँ पर १०० वर्ष की बनी हुई भी कोई इमारत विद्यमान नहीं है। सब से प्राचीन एक टीले पर श्रीवेंकटेशजी का मंदिर है जो वि० स० १९१७ के आसपास बना था और अब टूट फूट गया है। अब वह बालाजी का मंदिर कहलाता है। कहते हैं कि बैरागी खाकी साधू इंद्रदास ने उसे बनवाया था। यहाँ अब मुख्य मंदिर रघुनाथजी का है जो सं० १९५५ में बाबू रामजीवनजी

भार्गव दीवान शाहपुरा की माता ने बनवाया। इसके सामने ही उक्त दीवान साहब की धर्मपत्नी ने सं० १९५९ में रामघाट बनवाया। समीप में एक छोटी सी धर्मशाला भी इन्हीं की बनवाई हुई बतलाई जाती है। पास ही में एक कूप भी है। यहाँ जल-यंत्र पर नियत किए हुए नौकर लोग भोले भाले यात्रियों को, जो जलाशय में कपड़े आदि धोने लग जाते थे, तंग कर बैठते थे। इस विपत्ति को दूर करने के लिये कूप बनवाने का काम एक ब्रह्मचारी रामचंद्र ने किया।

दूसरा घाट सहोदराबाई का बनवाया हुआ है। यह श्रीमद्दयानंद अनाथालय अजमेर को दान में प्राप्त हुआ था अतः उसी संस्था की संपत्ति है। तीसरी अच्छी इमारत तथा घाट कई जनों की पुण्य की कमाई का परिणाम है। एक छोटा सा मंदिर एक दुग्धाहारी बंगाली बाबा का भी बनवाया हुआ है।

यहाँ पर कोई पंडे नहीं हैं। समीप में ही करीब ६० घरों का रावतमेरों की वस्ती का ग्राम है जो "कानस" कहलाता है। यह "कनिष्ठ" का अपभ्रंश है। यहाँ पर शाक (घीया, तोरूयूं इत्यादि) खूब होता है परंतु विशेष प्रसिद्धि यहाँ के गन्नों की खेती की और गुड़ की है।

इस कनिष्ठ पुष्कर के समीप उत्तर की ओर पहाड़ों में रोम ऋषि का स्थान है। मृकंड ऋषि का स्थान भी, जहाँ से नंदा सरस्वती उत्पन्न हुई थी, समीप ही है और वहाँ पर श्रावण सुदी द्वादशी को मेला लगता है। इतर रम्य स्थानों में मुख्य श्रीवैद्यनाथ जी का मंदिर है जिन्हें बैजनाथ कहते हैं। यहाँ पर भादों वदी १४ को मेला लगता है। पिछला मेला शुक्रवार तारीख २६ अगस्त १९२७ ई० को हुआ था। इस देवालय का वर्णन 'पृथ्वीराज-विजय' के अष्टम सर्ग में मिलता है। यथा—

यूथनाथमिवैतेषां मध्ये भव गदागदम्।
प्रासादं वैद्यनाथस्य प्रजाक्षेमंकरो व्यधात् ॥ ६५ ॥
दत्ते हरिहयेनेव शुद्धरीतिमये हरौ।
प्रतिष्ठां लंभितस्तत्र शुद्धरीतिमयः पिता ॥ ६६ ॥

एकस्थाने प्रतिष्ठाप्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ।
त्रिपूरुषमिव श्राद्धं धन्यो निर्मितवान्पितुः ॥ ६७ ॥

पृथ्वीराज के पिता श्री सोमेश्वरदेव ने, जिन्होंने ११६९ से ११७८ तक राज्य किया था, वैद्यनाथ का मंदिर बनवाया। वहाँ उसने अपने पिता आना-अर्णोराज की धातुमय प्रतिमा धातुमय घोड़े पर रखी और वैसे ही सामने अपनी प्रतिमा भी रखी। उसने एक ही स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की प्रतिमाएँ भी पधराईं।

वह प्राचीन भूमि तो अब भी दृग्गोचर है, वहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अब भी प्राणियों को प्रफुल्लित करता है परंतु उन प्राचीन नरेशों की विस्मयावह रचनाओं का दर्शन तो अब पुरातत्त्व विद्या के आचार्यों (Antiquarians) को भी दुर्लभ है।

पुष्कर के घाट

ब्रह्मपुष्कर पर बहुत अच्छे अच्छे घाट बने हुए हैं जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) सरस्वतीघाट—यहाँ पर चौपाए पानी पीते हैं और यहीं पर मुर्दों की भस्म जल में डाली जाती है।

(२) राजघाट--यह घाट जयपुर (पहले आँबेर) के सुप्रसिद्ध महाराजा मानसिंह (राज्यकाल वि० सं० १६४६-१६७१) ने बनवाया था। इसके साथ ही मानमंदिर है जो आदि में सुंदर राजभवन था परंतु काल के विपर्यय से शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो चुका था। हर्ष का विषय है कि वर्तमान महाराजा मानसिंहजी के समय में इसका जीर्णोद्धार हो रहा है। इस भवन से जहाँगीर के महलों में, जो टूटी फूटी दशा में अब भी विद्यमान हैं, जाने के लिये एक पुल बनाया गया था।

(३) पंचवीरघाट—कहते हैं कि जहाँगीर ने जब वराह की प्रतिमा के संबंध में अनुचित व्यवहार किया तब कई वीर भक्तों ने राजपुरुषों का सामना किया। उनमें से ५ वीर हाड़ा क्षत्रियों ने वीरता से सामना कर यहाँ प्राण समर्पण किए जिनका स्मारक यह पंचवीर

घाट है। ऐसा भी सुनने में आया कि यह पहले भाटियों का घाट कहलाता था और जैसलमेर के किसी पुरुष ने इसे बनवाया था। इसे पंचपीपलीघाट और पंचवीरघाट भी कहते हैं।

(४) बंगलाघाट—इस पर लता पता अच्छी लगी हुई हैं।

(५) छतरीघाट या कोटतीर्थ घाट—इस घाट पर कोटेश्वर तीर्थ का मंदिर है। इस घाट की कीमत सबसे अधिक करीब एक लक्ष रुपए के बताई जाती है। यहीं पर जयाजीराव सिंधिया या जय* अप्पाजी की संगमरमर की दर्शनीय छतरी है, जिसमें पंचमुखी शंकर की तथा अर्द्धनारीश्वर (अर्थात् आधा भाग शिव का और आधा पार्वती का) की प्रतिमाएँ हैं।

(६) शिवघाट—इस पर गोविन्देश्वर महादेव का मंदिर है।

(७) इन्द्रघाट } — ये घाट जयपुर के कायस्थवंशोद्भव
(८) चन्द्रघाट } श्री श्यामलाल और सुंदरलाल भ्राताओं ने बनवाए। चंद्रघाट पर पीतल की चन्द्रमा की सुंदर प्रतिमा है और यहाँ पर शिवालय में शंकर की पूर्ण शरीर की बैठी हुई प्रतिमा है। हाथ में माला लिए हुए पगड़ी धारण किए हुए शंकर अद्भुत

---

* ई० स० १७५५ के आसपास महाराजा अभयसिंह के पुत्र रामसिंह और उसके भतीजे विजयसिंह में परस्पर जोधपुर की गद्दी के लिये झगड़ा हुआ। रामसिंह ने पेशवा से सहायता माँगी, तदनुसार जयाजीराव सिंधिया ने उज्जैन से सेना सहित प्रस्थान किया और अजमेर को घेर वे नागोर पहुँचे जहाँ विजयसिंह मेडता छोड़कर भाग गया था। विजयसिंह ने झगड़ा मिटाने के लिये उदयपुर के महाराणा रामसिंह और सलूंबर के रावत जैतसिंह को बुलवाया जो अप्पाजी की फौज में ठहरे। इस अर्से में चौहाण सांईदास की जमइयत के खोखर केसरखाँ और एक गहलोत सर्दार ने महाराजा विजयसिंह के निर्मित कूट प्रबन्धानुसार मरहटी फौज में जाकर बनिये की दूकान की। इन्होंने एक दिन परस्पर कृत्रिम कलह की जिसे देख सब कोई हँसते थे। ये न्याय कराने को लड़ते लड़ते अप्पाजी की ड्योढ़ी पर पहुँचे और जब अन्दर बुलाए गए तो इन्होंने बहियाँ फेंक पेशकब्जों से अप्पाजी को मार डाला और आप भी वहीं मारे गए। मुंडकर में अर्थात् इस हत्या की एवज में मरहटों ने अजमेर का प्रान्त और २१ लाख रुपए फौज खर्च के जोधपुर से लिए।

सेठजी का सा स्वरूप धारे हुए हैं। पास ही वाम भाग में पार्वती और स्वामी कार्त्तिक और दाहने भाग में गणपति विराजे हुए हैं। इंद्रघाट पर इन्द्र हाथी पर है। यहाँ चित्रगुप्त की प्रतिमा भी है।

(९) वंशीलाल का घाट—यह घाट अजमेर के एक कायस्थ महोदय ने बनवाया था।

(१०) वराहघाट—यह प्राचीन और प्रसिद्ध घाट है। इस पर रामेश्वर महादेव और पंच देवारिया शिवा का मंदिर है। इस घाट पर पुष्करजी की आरती और पूजन दोनों समय होते हैं। आरती का दृश्य देखने योग्य है। यहीं से लोग प्रायः चित्र खैंचा करते हैं।

(११) मोदीघाट
(१२) नरसिंहघाट } इन पर क्रमशः मुरलीमनोहरजी और नृसिंहजी के मंदिर हैं।

(१३) विश्रामघाट
(१४) भदोरियों का घाट } इन दोनों घाटों पर शिवजी के मंदिर हैं।

सरस्वतीघाट से भदोरियों के घाट तक छोटी बस्ती की सीमा है।

(१५) बदरीघाट—यहाँ से बड़ी बस्ती प्रारंभ होती है।

(१६) रघुनाथघाट
(१७) रामघाट
(१८) राय मुकुंद का घाट
(१९) रामघाट
(२०) वीकावतजी का घाट
(२१) हठीसिंह का घाट } इनमें रघुनाथजी का घाट अच्छा है। उस पर रघुनाथजी का ही मंदिर है। प्रथम रामघाट पर शिवजी और दूसरे पर रामेश्वर महादेव का देवालय है।

(२२) वालाराव का घाट
(२३) चीरघाट } इन पर ठाकुर श्रीजी रूडी, गोपालजी व शीतला माता के मंदिर हैं।

(२४) गोघाट—यह प्राचीन और सुप्रसिद्ध घाट है। यहाँ पर कल्याणजी का तिवारा है और संतोजी बावला की एक लाख की कीमत की छतरी है। इसके समीप भरतपुरवालों की इमारतें हैं और मुसलमानों की एक मसजिद भी है जो औरंगजेब ने केशवराय के मंदिर को तोड़कर बनवाई थी।

(२५) यज्ञघाट } इन पर महादेवजी और छींक माता के
(२६) छींकघाट } मंदिर हैं।

(२७) गोरजी का घाट—यह पुष्करण जाति के एक ब्राह्मण ने बनवाया था।

(२८) हाडों का घाट—राजपूताने का बूँदी की तरफ का भाग हाडोती कहलाता है। वहाँ के निवासियों का बनवाया हुआ यह घाट है। यहाँ पर अन्नपूर्णा देवी का मंदिर है।

(२९) ब्रह्मघाट—इस पर मुरलीधरजी का मंदिर है।

(३०) सावित्रीघाट—यह अति प्राचीन घाट है। अब नष्ट हो चुका है। इसके पास एक मंदिर के खंडहर हैं। यह मंदिर गोरवाल ब्राह्मणों ने बनवाया था।

(३१) हरीराम का घाट—इस पर राधा-माधव का मंदिर है।

(३२) सप्तर्षि का घाट—यहाँ पर कर्णी माता का मंदिर है। इस देवी का मुख्य मंदिर बीकानेर के पास देशनोक में है। मारवाड़ में इसकी अच्छी मान्यता है।

(३३) सरूपघाट—यह ईसा की नवीं शताब्दी में परिहार नाहड राव (नागभट्ट दूसरा) के कुष्ठ से विमुक्त हो स्वरूपवान् बनने की घटना का स्मरण दिलानेवाला घाट है।

ऐसा सुप्रसिद्ध है कि यह* मृगया के लिये निकला और इसने एक श्वेत शूकर का पीछा किया परंतु उसे न मार सका। वह धूप, प्यास और परिश्रम से अति व्याकुल हो गया। दैवसंयोग से उसने जंगल में एक स्थल पर थोड़ा सा जल देखा। वहाँ ठहर उसने अपने हाथ पैर धोए और प्यास बुझाई। इसके हाथों में कुष्ठ के दाग थे वे इस जल के स्पर्श से जाते रहे। वह अति प्रसन्न हो कुछ दिन यहाँ ठहरा और उसने जंगल को कटवाकर इस चमत्कारी

* मारवाड़ का राजा जिसने कन्नौज का राज्य अपने अधीन किया था।

टिप्पण—देखो राय बहादुर पं० गौरीशंकरजी ओझा का बनाया हुआ राजपूताने का इतिहास १ जिल्द, पृष्ठ १६१

स्थान को खुदवाकर एक जलाशय के स्वरूप में परिणत करा दिया। उसने पक्के घाट और १२ धर्मशालाएँ तीनों तरफ बनवा दीं, दक्षिण की ओर पानी आने के लिये खाली जगह छोड़ दी। ये इमारतें अब नष्ट हो गई हैं परंतु फिर भी कुछ चिह्न विद्यमान हैं जो पजियारों की शाल नाम से कहे जाते हैं।

जोधपुर कोटा आदि रियासतों के भी घाट हैं, अंत में जहाँगीर के महल हैं। यहाँ बड़ी बस्ती समाप्त होती है।

ब्रह्माजी का मंदिर

पुष्कर में छोटे मोटे ३१७ मंदिर हैं। उनमें श्री ब्रह्माजी का मंदिर सर्वशिरोमणि माना जाता है। यों तो ब्रह्मा के मंदिर अन्यत्र भी हैं—यद्यपि अन्य देवताओं के मंदिरों की अपेक्षा अत्यल्प संख्या में—तथापि यही मंदिर विश्वविख्यात है यहाँ तक कि इसी मंदिर के कारण लोग इस पुष्कर की संज्ञा ब्रह्म पुष्कर स्थापित की हुई समझते हैं। ऐसी लोकोक्ति है कि ब्रह्माजी की पूजा यहीं पर होती है, अन्यत्र इस कलियुग में इनकी पूजा कहीं नहीं होती। वस्तुतः हर मंदिर और शिवालय में ब्रह्माजी की मूर्त्ति बराबर पूजी जाती है। प्रचलित अपवाद का तात्पर्य इतना ही है कि जैसे शिव और विष्णु के संप्रदायरूप में अनुयायी विद्यमान हैं वैसे ब्रह्माजी के नहीं हैं।

राय बहादुर पं० गौरीशंकरजी ने अपने राजपूताने के इतिहास (पृष्ठ ५७६) में लिखा है कि प्राचीन काल में राजपूताना में ब्रह्मा के मंदिर भी बहुत थे जिनमें से कई अब तक विद्यमान हैं और उनमें पूजन भी होता है। ब्रह्मा की जो मूर्त्ति दीवार से लगी हुई रहती है उसमें तीन मुख ही बतलाए जाते हैं—एक सामने और एक एक दोनों पार्श्वों में (कुछ तिरछा); परंतु ब्रह्मा की जो मूर्त्ति परिक्रमा वाली वेदी पर स्थापित की जाती है उसके चार मुख प्रत्येक दिशा में एक एक होते हैं जिससे उसकी परिक्रमा करने पर ही चारों मुखों के दर्शन होते हैं। ऐसी चार मुख वाली मूर्त्तियाँ थोड़ी ही देखने में आई हैं।

पुष्कर में ब्रह्माजी की पूजा अति प्राचीन काल से प्रचलित है। जयानक के 'पृथ्वीराजविजय' के पाँचवें सर्ग में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

कं यत्र पुष्करं गत्वा वरिवस्यंति साधवः।
कं पुष्करात् गृहायातं स्पृष्ट्वा शुद्धिं च मन्वते॥

साधुजन पुष्कर तीर्थ पर जाकर किसकी उपासना करते हैं? (कं) ब्रह्मा की। पुष्कर तीर्थ से घर लाए हुए किसको स्पर्श कर शुद्धि मानते हैं? (कं) जल को।

इस श्लोक से पृथ्वीराज के समय में अर्थात् अब से साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व यहाँ पर ब्रह्माजी की पूजा होना और गंगा के समान यहाँ का जल शुद्धिप्रद माना जाना विदित होता है।

ब्रह्माजी के वर्तमान मंदिर का जीर्णोद्धार कई बार हुआ है। माघ सुदि पंचमी सं० १७७६ (ई० १७१९) को जयपुर के सवाई जयसिंह (राज्यकाल १६९९—१७४३ ई०) के समय में जयपुर के शिम्भूनाथ की माता और पुरोहित गिरधरदास की पुत्री बाई फूँदी ने इसका जीर्णोद्धार कराया और इस संबंध का एक शिलालेख इस मंदिर में सुरक्षित है। उस समय इस मंदिर के महंत हीरापुरीजी के शिष्य दयापुरीजी थे। फिर वि० सं० १८६६ (ई० सन् १८०९) में सिंधिया महाराज के मंत्री मोकलचंद पारक ने एक लाख और तीस हजार रुपए व्यय कर पुनः जीर्णोद्धार कराया।

इस मंदिर में ब्रह्माजी की चतुर्मुख मूर्त्ति है। बाईं ओर गायत्री विद्यमान है। जगमोहन में सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमारों की प्रतिमाएँ हैं। एक छोटे मंदिर में नारद की भी प्रतिमा है। आगे के मंडप में पृथ्वी पर कूर्म और सामने द्वार पर हंस भी विद्यमान हैं। कुछ दूर पर हाथियों पर इंद्र और कुबेर प्रतिष्ठित हैं*। मंदिर के वायव्य और अग्निकोण में शंकर की प्रतिमाएँ

* ये दोनों प्रतिमाएँ आमने सामने एक जैसी दिखती हैं। जिसके हाथ में अंकुश है वह इंद्र है, दूसरा कुबेर।

भी हैं। परंतु ये भूगर्भ में होने से सहसा दृष्टिगोचर नहीं होतीं। ब्रह्माजी से संबंध रखनेवाली प्रतिमाएँ यहाँ सब की सब मिल जाती हैं। कदाचित् सावित्री की प्रतिमा का न होना किसी के मन में खटक सकता है। इस अभाव का एक कारण है। पुराणों में लिखा है कि जब ब्रह्माजी ने यज्ञ आरंभ किया तब सावित्री समय पर उपस्थित नहीं हो सकीं। ब्रह्माजी ने आभीर-कन्या गायत्री को पत्नी स्वीकार कर काम चलाया। इस दुर्व्यवहार से कुपित हो सावित्री एक पहाड़ पर चली गईं। वहीं उनका मंदिर बना हुआ है। अत: ब्रह्माजी के मंदिर में उनकी प्रतिमा का न होना उचित है।*

आज से कोई सवा सौ वर्ष पूर्व (१. २. १८१० ई०) कर्नल ब्रूटन यहाँ आए थे। उन्होंने लिखा है कि पुष्कर एक ऐसा स्थान है जिसे हिंदू, जैसे मुसलमान अजमेर को देखते हैं वैसे, बहुत सत्कार-दृष्टि से देखते हैं। यह नगर अद्भुत पोखर के किनारों पर बसा हुआ है और उस झील से ही इसका नाम भी पुष्कर पड़ा है। पुष्कर में ही ब्रह्मा की प्रतिमा, जो प्रसिद्ध गिनी जा सकती है, देखने में आती है। इस देवता का मंदिर झील के किनारे के पास ही है। वह बहुत बड़ा नहीं है, आडंबर-शून्य है और सचमुच बहुत प्राचीन है। प्रतिमा, जो मनुष्य के आकार की है, चार मुख वाली बैठी हुई आलगती पालगती मारे हुए है।

इस मंदिर के महंत अच्छे अच्छे विद्वान् होते चले आए हैं। यहाँ औरंगजेब के समय में अमरपुरी नामक एक अच्छे तपस्वी योगाभ्यासी महंत थे जिनके चमत्कार को देखकर वह यवन नृप भी नतमस्तक हुआ। अमरपुरीजी ने जैनियों से भी शास्त्रार्थ किया था। वादी की प्रतिज्ञा यह थी कि जो परास्त हो जाय वह विजेता को अपनी पुस्तकें भेंट कर दे। अमरपुरीजी ने विजय प्राप्त की और जो ग्रंथ पूर्व प्रतिज्ञानुसार उनके हाथ लगे वे अभी तक विद्यमान हैं।

* भारतभ्रमण पुस्तक में यहाँ दाहिनी ओर सावित्री का होना लिखा है। वह ठीक नहीं है।

अमरपुरीजी का कमंडलु भी अभी तक सुरक्षित है। ऐसे ही यहाँ के महंत चंदनपुरीजी ने भी जैनियों से शास्त्रार्थ में जय प्राप्त कर विजय-वैजयंती फैलाई।

आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानंदजी, जिनके मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध होने के कई कारणों में से एक कारण देवमंदिरों में प्रायः विद्याशून्य पुजारियों का और चरस-भंग पीनेवाले साधुओं का मिलना था; इस मंदिर में संवत् १९२२ चैत्र कृष्णा १० या ११ (१२, १३ मार्च सन् १८६६) को आए और कुछ दिन पूर्व-मुखवाली तिवारी में ठहरे थे। उस समय यहाँ के महंत श्रीभान-पुरीजी थे। इस मंदिर के वर्तमान महंत गौड़ ब्राह्मण-वंशोद्भव श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी विभूतिपुरीजी भी बड़े योग्य और विद्वान् व्यक्ति हैं और स्नेहपूर्वक साधु सज्जनों का सत्कार करते हैं।

आजकल हिंदुओं में आस्तिक बुद्धि का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है। प्राचीन मान मर्यादा, रीति नीति और निगमागम से श्रद्धा उठ सी चली है। यदि कोई वेदांत पढ़ता है तो इसलिये नहीं कि वह पढ़कर ब्रह्म की प्राप्ति में संलग्न होना चाहता है किंतु इसलिये कि वह वेदांतवाद में युक्ति और प्रत्युक्तियों से वादी का मुँह बंद करने का असीम कौशल प्राप्त कर ले। इसी प्रकार अनेक यात्री केवल रस्म पूरी करने अथवा सैर करने के स्वभाव से तीर्थों पर जाने का श्रम करते हैं। जो हृदय से सत्संग की अभिलाषा रखते हैं उनके लिये यह मंदिर अच्छा है क्योंकि यहाँ एक न एक बाहर का अच्छा विद्वान् महात्मा उपस्थित रहा ही करता है।

वराहजी का मंदिर

पुष्कर तीर्थ का संबंध ब्रह्माजी के यज्ञ से स्थापित किया गया है। अतः ब्रह्माजी के मंदिर के साथ साथ यहाँ पर यज्ञ से संबंध रखने-वाले किसी मंदिर का स्थापित होना आवश्यक था। यज्ञ के अंग और प्रत्यंगों का समावेश वराह भगवान् में प्रदर्शित किया हुआ है।

कहा है कि ब्रह्माजी के मुख से श्रुतिमुख वराहजी* उत्पन्न हुए। वेद के ४ भाग इनके ४ चरण हैं, यूप दंष्ट्र है, अग्नि जिह्वा है, दर्भ रोम हैं, दिन और रात नेत्र हैं, वेदांग कान हैं, घृत नासिका है, स्रुव तुंड है, साम घोष है, प्रायश्चित्त नख है, जानु पशु हैं, उद्गाता आँतें हैं, औषधि रोम हैं, मंत्र अस्थि हैं, सोम शोणित है, हवि गंध है, प्राग्वंश काया है, दक्षिणा हृदय है, इत्यादि। साथ ही पद्मपुराण में लिखा

---

* वराहस्तु श्रुतिमुखः प्रादुर्भूतो विरञ्चिनः।
सहायार्थं सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः॥ ५३॥
विस्तीर्णं पुष्करे कृत्वा तीर्थं कोकामुखं हि तु।
वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुहस्तश्चिती मुखः॥ ५४॥
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः।
अहोरात्रेक्षणो देवो वेदाङ्गश्रुतिभूषणः॥ ५५॥
आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषधरो महान्।
सत्यधर्मरतः श्रीमान्कर्मविक्रमसत्कृतः॥ ५६॥
प्रायश्चित्तनखो वीरः पशुजानुर्महाकृतिः।
उद्गात्रन्त्रो होमलिङ्गी फलबीजमहौषधीः॥ ५७॥
वाय्वन्तरात्मा मन्त्रास्थि स्रुक्स्थः सोमशोणितः।
वेदस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यातिवेगवान्॥ ५८॥
प्राग्वंशकायो द्युतिमान्नानादीक्षाभिरर्चितः।
दक्षिणाहृदयो योगी महासत्रमयो महान्॥ ५९॥
उपाकर्मेषु रुचिरः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः।
छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्गमिवोच्छ्रितः॥ ६०॥
सर्वलोकहितार्थाय दंष्ट्रया प्रोज्जहार गाम्।
ततः स्वस्थानमानीय पृथ्वीं पृथिवीधरः॥ ६१॥
ततो जगाम निर्वाणं मेदिनी तस्य धारणात्।
एवमादिवराहेण धृत्वा ब्रह्महितार्थिनी॥ ६२॥
उद्धृता पुष्करे पृथ्वी सागराम्बुगता पुरा।
वृतः शमदमाभ्यां च दिव्ये काकोमुखे स्थितः॥ ६३॥

पद्मपुराण, सृष्टिखंड, १६ अध्याय।

इस प्रकार की वर्णनात्मक शैली प्राचीन काल में प्रचलित थी। इसके अन्य उदाहरण उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रंथों में मिलते हैं। देखो अश्व के संबंध में बृहदारण्यकोपनिषत् अध्याय १, ब्राह्मण १, कंडिका १।

है कि पुष्कर में जहाँ वराह ने शरीर को विस्तीर्ण किया वह कोका-मुख तीर्थ हुआ। इस संबंध से भी इस तीर्थ पर वराह का मंदिर होना समुचित है। अर्णोराज के समय में पुष्कर पर मुसलमानों का एक आक्रमण हुआ था। बहुत संभव है, उस समय यहाँ पर विद्यमान प्राचीन वराह का मंदिर उनके द्वारा नष्ट किया गया हो क्योंकि वराह की मूर्त्ति, उनके धर्म के अनुसार, विशेष घृणित होने से वह मंदिर उनके कोप को अधिक प्रज्वलित करनेवाला हुआ होगा। ये मुसलमान अजमेर के पास अर्णोराज से सर्वथा पराजित किए गए थे। उसी विजय के उपलक्ष्य में आनासागर बनाया गया था। इसी अर्णोराज ने (राज्यकाल ११२३—११५० ई०) पुष्कर का जीर्णोद्धार किया और वराहजी का मंदिर बनवाया।

यह वराहजी का मंदिर प्राचीन काल में अच्छा गौरवारूढ़ था। जयसिंह सूरि के शिष्य नयचंद्र सूरि ने वि० सं० १५४२ से कुछ पूर्व 'श्रीहम्मीर महाकाव्य' लिखा जिसमें मुख्य रूप से रण-थम्भोर के चौहान राजा हम्मीर की, जो अलाउद्दीन द्वारा वि० सं० १३५८ (जुलाई १३०१ ई०) के श्रावण मास में छल द्वारा नष्ट किया गया था, जीवनी लिखी है। उस ग्रंथ के ९ वें सर्ग में हम्मीर की दिग्विजय का वर्णन करते हुए लिखा है कि आबू से अजमेर होता हुआ वह पुष्कर आया और यहाँ पर उसने आदि-वराह की पूजा की। यथा—

अजयोपपदं मेरुं मध्ये कृत्य स कृत्यवित्।
पुष्करं तीर्थमासाद्य दुष्करं पुण्यमर्जयत् ॥ ४१ ॥
आनर्च भूपस्तत्रादिवराहाख्यधरं हरिम्।
चित्रं दशावतारोपि न यो दाहात्मतां गतः ॥ ४२ ॥

उदयपुर के महाराणा मोकल का, एकलिंगजी से अनुमान ६ मील दक्षिण-पूर्व में, शृंगी ऋषि नामक स्थान की तिवारी में विक्रम संवत् १४८५ (ई० सन् १४२८) श्रावण सुदि ५ का एक लेख विद्यमान है। इसकी रचना कविराज वाणीविलास योगीश्वर ने की

थी। यद्यपि यह लेख इस समय टूटा तथा असंपूर्ण है तो भी उससे मोकल के संबंध के कई कार्यों के साथ साथ उसके सोने और चाँदी के २५ तुलादान करने और उनमें से एक कांचन तुलादान यहाँ के आदिवराह के मंदिर में करने का वर्णन मिलता है। यथा—

कार्त्तिक्यामथ पूर्णिमावरतिथौ योदात्तुलां कांचनीं
शास्त्रज्ञः प्रथमं............................।
देवं पुष्करतीर्थसाक्षिणमुमुं नारायणं शाश्वतं
रूपेणादिवराहमुत्तमतरैः स्वर्णादिकैः पूजयन् ॥ १७ ॥*

वराहजी के मंदिर का जीर्णोद्धार† अकबर के राज्यकाल में (१५५६—१६०५ ई०) सुप्रसिद्ध राणा प्रतापसिंह के भाई राणा सागर (या शंकर) ने एक लाख के व्यय से किया। ई० सन् १६१३ में जहाँगीर पुष्कर आया। यद्यपि वह कई यवन नरेशों की अपेक्षा धार्मिक विचारों में सरल था तथापि इस मंदिर में वराह की प्रतिमा, जो उसके धर्म के नितांत विपरीत थी, उसके मन में खटके बिना नहीं रही। निदान उसने उसको अलग करा देने की आज्ञा दी। इस दुर्घटना के प्रायः अर्द्ध शताब्दी पश्चात् आर्य्यों के देवालय रूपी नक्षत्रों के लिये राका रूप औरंगजेब का अभिगम हुआ। इस व्यक्ति ने अपने वृद्ध पिता को बंदीगृह तथा भ्राताओं को यमपुर पहुँचाकर राज्य छीना था। इन घोर पापों से उत्पन्न लोकापवाद को रोकने के लिये तथा स्वधर्मियों को अपना सहायक बनाने के लिये उसे धर्माभास के ढोंग रचने की विशेष आवश्यकता थी। अतः उस अनार्य्य ने सर्वत्र आर्य्यों के सुंदर देवालयों को नष्ट करने से भी अपनी धर्मभक्ति प्रदर्शित की। विशेष क्या लिखें, वराहजी का

* देखो राजपूताने का इतिहास।

† जहाँगीर ने तुज़ुके जहाँगीरी में लिखा है कि राणा शंकर (सगर) ने लाखों रुपए खर्च कर यह मंदिर, जिसमें काले पत्थर की ऐसी मूर्ति है जिसका ऊपर का भाग शूकर का सा और शेष मनुष्य का सा है, बनवाया। शंकर ने केवल जीर्णोद्धार किया था। मंदिर तो बहुत पहले से विद्यमान था।

मंदिर कितना अच्छा बना हुआ था इसका परिचय कर्नल ब्रूटन द्वारा, जो पुष्कर में १८१० ई० में आए थे, मिल सकता है। उन्होंने लिखा है कि "वर्तमान वराहजी का मंदिर प्राचीन मंदिर का, जिसे धर्मांध औरंगजेब ने नष्ट करा दिया, एक अल्प अवशेष है। मूल मंदिर १५० फुट ऊँचा था और हिंदू शिल्प-कौशल से परिपूर्ण था। पुरानी दीवारें करीब २० फुट की उँचाई में ज्यों की त्यों रह गईं और उन पर जयपुर के राजा सवाई जयसिंह* ने वर्तमान इमारत बनवा दी है।"

महाराजा जयसिंह ने खंडहरों को लेकर देवालय की मरम्मत करवाई और वराह की प्रतिमा वि० स० १७८४ (ई० १७२७) में पधराई। यह संवत् प्रतिमा के आसन पर खुदा हुआ है।

इस समय सड़क से ३२ सीढ़ियाँ चढ़कर यह मंदिर प्रारंभ होता है। फिर ७ सीढ़ियों की उँचाई पर निज मंदिर प्रारंभ होता है। यहाँ का कठेरा पंडित नरुगोविंद कुलकर्णी ने असाढ़ सुदी बृहस्पतिवार पूर्णिमा वि० सं० १८४२ (ई० स० १७८५) को निर्माण कराया। इस मंदिर में अब वराहजी की प्रतिमा साधारण सी है। वराह की प्रतिमाएँ हमने बड़ी बड़ी देखी हैं। उनके ऊपर अनेक देवताओं के, बड़े कारीगरी के, चित्र बने रहते हैं। प्राचीन मंदिर की प्रतिमा अवश्य इस विशाल और कला-कौशल-पूर्ण देवालय के अनुरूप होगी। जहाँगीर ने उसे काले पत्थर की बताया है। इस समय आगंतुक के चित्त को आकर्षित करनेवाला एक भाला है जिसका लंबा दंड सुपारी वृत्त का है। बूँदी के राजा छत्रसाल† अपनी वृद्धावस्था में तीर्थयात्रा करते हुए इसे इस पुनीत स्थान पर त्याग गए थे।

ठाकुरजी शत्रुशल्य के शरद पूर्णिमा के दिन बाहर विराजने के लिये १९५४ में एक ब्राह्मण ने छतरी बनवा दी है। इस मंदिर

---

* राज्यकाल वि० स० १७५६—१८००

† राज्यकाल वि० स० १६६८—१७१५

में किसी ने एक साधारण सी प्रतिमा बना दी है जो धर्मराय की प्रतिमा कही जाती है। यहाँ के निज मंदिर के पीछे का भाग प्राचीन है। वह अवश्य दर्शनीय है। हमारी प्राचीन शिल्प-कौशल की साक्षी देने के लिये वह अब तक विद्यमान है। वास्तु-शास्त्र-निष्णात पुरुषों के लिये वह विशेष महत्त्व का है।

इस मंदिर की पूजा का ठेका करीब ३५० रुपए सालाना पर हुआ करता है।

श्रीरंगजी का मंदिर

"रंगजी" विष्णु भगवान् का ही स्वरूप है परंतु यह नाम उत्तर भारत में अधिक प्रसिद्ध नहीं है। श्रीरामानुजाचार्य्य* संप्रदाय के अनुयायी हैदराबाद दक्षिण के पुण्यश्लोक सेठ पूरणमल ने ई० सन् १८२३ में इस विशाल मंदिर को बनवाया था और यही इन देवता का आर्य्यावर्त में सर्वप्रथम बना हुआ मंदिर है। इस मंदिर में प्रवेश करते ही आगंतुक को रामानंदी तिलक धारण किए हुए द्रविड़ देशीय ब्राह्मणों के दर्शन होंगे जो यहाँ के पुजारी हैं। ये लोग निःसंदेह बड़ी भक्ति से देवार्चन करते हैं और स्पर्शास्पर्श का बहुत विचार रखते हैं†।

यह देवालय प्राचीन नारद-पंचरात्रोक्त शिल्पशास्त्र के नियमानुसार बना है। उत्तर भारत के मंदिरों के समान इसके निज-मंदिर पर शिखर नहीं है किंतु दक्षिण के मंदिरों की शैली के अनुसार द्वार पर गोपुर बना है जिसे कोयल कहते हैं। इसका मुख्य द्वार पूर्व दिशा में है और वह इतना ऊँचा है कि उसमें छत्र अंबारी सहित हाथी की सवारी आसानी से आती जाती है। उसके ऊपर "रावटी"

* विशिष्टाद्वैत मंत्र के संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य यामुन मुनि के शिष्य थे। ये दक्षिण के भूतपुरी ग्राम में ई० स० १०१६ में उत्पन्न हुए थे और इन्होंने त्रिचनापली के समीप श्रीरंगम में, जहाँ रंगजी का प्राचीन मंदिर है, धर्मोपदेश प्रारंभ किया था।

† इस संप्रदाय के अनुयायी चाहे जिस वर्ण के हों गोष्ठी में एक पंक्ति में बैठकर भोजन कर लेते हैं।

बनी हुई है जिसमें प्रतिदिन सात बार नौबत बजा करती है। इसके आगे मंदिर का मुख्य गोपुर द्वार है। गोपुर में दिक्पालों, गरुड़ और कीचक आदि देवताओं की प्रतिमाएँ हैं। इसके आगे ताँबे से जड़ा हुआ एक लंबा ध्वज-स्तंभ है जिसकी पूर्व दिशा में बलिपीठ है जहाँ चावलों की बलि* परिवार देवताओं को दी जाती है। उस स्तम्भ के पश्चिम में भगवान् के सम्मुख गरुड़ विराजते हैं जिनके सामने १६ स्तम्भों का संगमरमर का मंडप है। मंदिर की दीवार के ताकों में जय और विजय द्वारपाल हैं। सामने जो पूर्व मुख खड़ी हुई सुंदर प्रतिमा है वह वेणी गोपाल की है। बहुत से इसी को रंगजी की प्रतिमा समझ लेते हैं जो भूल है। नीचे के आवरण में दाहिनी ओर पूर्व मुख महालक्ष्मी और बाईं ओर गोदामा विराजमान हैं। उत्तर मुख भक्त-मंडली† सहित रामानुजाचार्य्य सुशोभित हैं। ये सब चल मूर्त्तियाँ धातुमय हैं। रंगजी की अचल प्रतिमा दक्षिण मुख शेषनाग पर शयन किए हुए शेषशायी है। यह दक्षिण मुख यों स्थापित की है कि दक्षिण के सिरंगम में जो रंगजी की प्रतिमा है वह दक्षिण मुख है। इस संबंध की एक कहावत है कि जब राम लंका विजय कर लौट रहे थे तब बिभीषण ने कहा कि आप तो पधार

---

* यह कृत्य दक्षिण के देवालयों में विशेष विधिपूर्वक किया जाता है। वहाँ चिंगलीपत् और महाबलीपुरम के बीच तिरुकुलीकुन्हम का एक प्राचीन मंदिर है जहाँ प्रति दिन ११ बजे देवार्चन के निमित्त उपस्थित नर-नारियों तथा इतर यात्रियों के समक्ष पुजारी नित्य विधि के अनुसार बलि समर्पण करता है। उसे लेने के लिये अति दूर से दो पक्षी, जो प्रथम आकाश में बिंदुमात्र दिखाई देते हैं, वहाँ आते हैं और भक्षण कर चले जाते हैं। अद्भुत बात यह है कि दो ही पक्षी नित्य आते हैं; एक अथवा दो से अधिक नहीं और ये आजकल से नहीं किंतु न जाने कितने वर्षों से यहाँ तक कि दो सौ वर्षों से ऐसा ही हो रहा है इसका डच और जिले के सरकारी कागजों से विश्वस्त प्रमाण विद्यमान है। यह पक्षी तीर्थ कहलाता है। इंपीरियल गजेटियर जिल्द २३ पृष्ठ ३१२ में भी चील की जाति के दो पक्षियों के आने का उल्लेख है।

† ये आल्वार भक्त हैं। इनके विषय में श्रीरमावैकुंठ के मंदिर के वृत्तांत में टिप्पण दिया है।

रहे हैं परंतु मैं तो आपका नित्य दर्शन करने का अभिलाषी हूँ। उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिये भवागन् सिरंगम में, जहाँ से लंका दक्षिण को है, दक्षिणाभिमुख विराजे।

इस मंदिर में कई बार दर्शन होते हैं। अतः समय पर उपस्थित होने से ही देव-दर्शन का लाभ हो सकता है। यहाँ यज्ञशाला भी है जिसमें चैत्र मास में ब्रह्मोत्सव के अवसर पर विशेष रूप से यज्ञ होता है। अन्य उत्सव भी भली भाँति मनाए जाते हैं और उनके संबंध की काष्ठ की प्रतिमाएँ—यथा कदंब वृक्ष, कृष्ण की चीरहरण लीला, शेषनाग आदि—विद्यमान हैं।

श्री रमावैकुंठ का मंदिर

मारवाड देश के डीडवाणा ग्राम के भगवद्भक्तशिरोमणि सेठ श्रीमंगणोराम रामकँवारजी माहेश्वरी ने श्रीरमावैकुंठ का एक विशाल मंदिर बनवाया है जिसकी प्रतिष्ठा दक्षिण देशीय रीति से वि० सं० १६८१ के ज्येष्ठ मास में बड़े समारोह के साथ हुई थी। इस स्थान के निर्माण कराने में कई लाख रुपए व्यय हुए। दक्षिण के कुशल शिल्पी तथा प्राचीन वास्तु शास्त्र के ज्ञाता यहाँ पर बुलाए गए। अधिक क्या लिखें, यह विस्तीर्ण प्रासाद ऐसी श्रद्धा और श्रम से बनवाया गया है कि कोई भी बात जो इसकी सुचारु पूर्त्ति में साधक हो सकती थी नहीं बिसराई गई। इसी का परिणाम है कि यह पुष्कर में यात्रियों के चित्तचकोर का चन्द्रमा बन चुका है।

रंगजी के मंदिर के समान इस मंदिर में भी देवार्चन करनेवाले द्रविड़देशीय विद्वान् ब्राह्मण नियुक्त हैं। अतः अन्य बातों के साथ साथ इन लोगों की आकृति प्रकृति तथा भाषा इस स्थान पर आनेवालों के ध्यान को आकर्षित किए बिना नहीं रहती। कुछ इन दक्षिणापथनिवासी ब्राह्मणों की यहाँ विद्यमानता के कारण और कुछ इस मंदिर के गोपुर तथा यूपादि की रंगजी के मंदिर के गोपुर तथा यूपादि से सदृशता होने के कारण लोग इस मंदिर को "रंगजी का नया "मंदिर" कहने लग गए हैं। वस्तुतः इसमें मुख्य प्रतिमा

श्रीवैकुंठनाथजी की है जो निम्नलिखित श्लोक में निर्देश किए हुए स्वरूप में विराजमान है—

सव्यं पादं प्रसार्य श्रितदुरितहरं दक्षिणं कुञ्चयित्वा
जानुन्याधाय सव्येतरमितरभुजं नागभोगे निधाय।
पश्चात् बाहुद्वयेन प्रतिभटशमने धारयञ्छंखचक्रे
देवीभूषादिजुष्टो जनयतु जगतां शर्म वैकुंठनाथः॥

बाएँ पाँव को नीचे लटकाए हुए और दाएँ को सकोड़ बाईं ओर की जंघा पर धारे हुए। दाईं भुजा को जंघापर और बाईं को शेष नाग पर रखे हुए, शेष दो भुजाओं में शंख और चक्र धारण किए हुए। इनके वाम और दक्षिण भाग में क्रमशः द्विभुज भू देवी और श्री देवी हैं।

आगे चलकर जय और विजय द्वारपाल विद्यमान हैं। यहाँ पर उत्सव मूर्ति वेंकटेशजी की है और उनके साथ भी उपर्युक्त दोनों देवियाँ हैं। स्वयंव्यक्त, देवप्रतिष्ठित, सिद्धप्रतिष्ठित और मनुष्य-प्रतिष्ठित ऐसे चार प्रकार के देवालय शास्त्रों में बताए गए हैं। दक्षिण के अहोबिलम् से, जो मदरास के करनूल जिले में है, लक्ष्मीनृसिंह की देवप्रतिष्ठित प्रतिमा यहाँ लाकर पधराने से यह नवीन देवस्थान सर्वमान्य दिव्यदेश माना गया है। इनके अतिरिक्त प्रथम परिकर में चतुर्भुजा महालक्ष्मी और द्विभुजा गोदामा और दूसरे परिकर में विष्वक्सेन, रामानुज स्वामी, आल्वारभक्त*, रघुनाथजी, श्रीरंगनाथजी,

* आल्वार वैष्णव भक्त थे। इनका बड़ा भाग दक्षिण में ई० स० ७०० से ८०० के बीच में हुआ था। प्राचीनतम आलवार पेयालवार, भूतनालवार पल्लवों के राज्यकाल में हुए। पल्लव कांची में ईसा के चौथे शतक के पहले नहीं थे। अतः ये चौथी शताब्दी के पश्चात् हुए। इनमें से भूतनालवार की जन्म-भूमि मासल्लै अथवा महाबलिपुर थी। यह नगर कांची के राजा नरसिंह वर्मा ने ईसा के सातवें शतक में स्थापित किया था अतः भूतनालवार ईसा के सातवें शतक से प्राचीन नहीं है। तदनन्तर नाम आलवार अथवा शठकोप ई० स० ८०० से ८४० के बीच में हुए। कुलशेखर आलवार केरल, पांड्य और चोल राज्य के स्वामी थे। ये परम विष्णु-भक्त थे। राज्य त्यागकर श्रीरंगम

सुदर्शन और नरसिंह विद्यमान हैं। मुख्य मंदिर की दीवारों पर बहुत से चित्राभास भी हैं। उनमें शंकर के भाल पर त्रिपुंड् के स्थान में रामानंदी तिलक का दर्शन दर्शकों को कौतूहल उत्पन्न करेगा। इस अपक्रम का स्पष्टीकरण यह है कि शंकर वैष्णव स्थान में पधारे हुए हैं अतः वैष्णव नियमों का पालन किए हुए हैं।

यहाँ मासोत्सव, वैकुंठोत्सव, ब्रह्मोत्सवादि उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाए जाते हैं। प्रतिमाओं के वस्त्र, बहुमूल्य सुवर्णाभरणादि, शृंगार के साधन सब नए बने हुए होने से दर्शकों के दर्शनों को देवदर्शन का खूब आनंदास्वादन रहता है।

यहाँ का देवस्थान चार हाथीवाले विमान की आकृति का बना हुआ है।

पुष्कर के अन्य मंदिर

पुष्कर के चार मुख्य मंदिरों का हम परिचय दे चुके। शेष मंदिरों में जो विशेष महत्त्व के हैं वे ये हैं—

(१) आतमत्तेश्वर का मंदिर—इसे अटमटेश्वर का मंदिर भी कहते हैं। यह गुमानजी राव ने, जो ई० स० १८०९ से १८१६ तक अजमेर के सूबेदार रहे, बनवाया था। इसके नीचे का भाग बहुत पुराना चौहानों के समय का प्रतीत होता है।

(२) बद्रीनाथजी का मंदिर—यह भी प्राचीन मंदिर का एक भाग मात्र है। ठाकुर साहब खरवा ने १८०० ई० के करीब इसका जीर्णोद्धार किया।

(३) बाईजी का मंदिर—इसमें श्रीविहारीजी की प्रतिमा है। यह जोधपुर की बाईजी ने, जो जयपुर के महाराजा जगतसिंह

में जा बसे और इन्होंने रंगनाथ के मंदिर का बहुत सा भाग बनवाया। इन्होंने मुकुंदमाला नामक संस्कृत स्तोत्र रचा और ई० स० ८२५ में पल्लव राजा दंतीवर्मन् के साथ की पांड्य राजाओं की लड़ाई में भाग लिया। तिरमंगइ अलवार ७७९ से ८३० में हुए। नाथमुनि ९वें शतक के अंत में और १०वें के प्रारंभ में, फिर अलवान्दर और रामानुज हुए।

(राज्य-काल १८०३—१८१८ ई०) की पर्शी थी, बनवाया। यह विशाल मंदिर है परंतु सड़क के किनारे पर न होने से आगंतुक कम जाते हैं। इस मंदिर में प्रदक्षिणा नहीं है।

(४) सावत्रीजी का मंदिर—यह पहाड़ पर है। प्राचीन मंदिर नष्ट हो गया। वर्तमान मंदिर को मारवाड़ के महाराजा अजीतसिंह (राज्य-काल १६८७—१७२४ ई०) के पुरोहित ने बनवाया था। यह ब्रह्माणी का मंदिर है, न कि सत्यवाहन सावत्री का। बंगाल में सत्यवाहन की पत्नी सावत्री की अतिशय पूजा होती है। अखंड सौभाग्य प्राप्त करने के लिये स्त्रियाँ विशेष भक्ति से उसका आराधन करती हैं। बहुत सी स्त्रियाँ, भूल से इस सावत्री को भी वही क्षत्राणी सावत्री समझ लेती हैं। यहाँ पर भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को मेला लगता है। एक दिन पूर्व रात्रि में जागरण होता है। पिछला मेला रविवार ४ सितंबर १९२७ ई० को लगा था।

पृथ्वीराजविजय और पुष्कर

कश्मीर के कवि जयानक ने, जो पृथ्वीराज (राज्य-काल ई० स० ११७६—११९३) के समय में अजमेर में रहा था, अपने 'पृथ्वीराजविजय' काव्य* के प्रथम सर्ग में पुष्कर का वर्णन किया है। उसके समय में अजगंध नामक महादेव का (जो चौहाणों के कुल-देवता हैं) यहाँ पर एक मंदिर था। इस कवि ने सृष्टि की रचना रूपी महायज्ञ के समाप्त होने पर ब्रह्माजी का यहाँ पर अवभृथ स्नान करना, अप्सराओं का स्वरवेश्या होने के कारण यहाँ स्नान करने से इंद्राणी द्वारा मना किया जाना, सप्तर्षियों का कामधेनु के दूध से यहाँ पायसपाक प्रारंभ करना, उत्तानपाद के पुत्र का ध्रुवता के

* इस ग्रंथ की एक अपूर्ण प्रति डा० बुहलर को कश्मीर में ई० स० १८७५ में मिली थी। उसके आश्रय पर श्रद्धेय राय बहादुर पंडित गौरीशंकरजी ओझा इस ग्रंथ का संपादन कर रहे हैं। यह ग्रंथ ई० स० ११९१ और ११९२ के बीच अर्थात् पृथ्वीराज महाराज की विजय के पश्चात् और पराजय के पूर्व बना था। जिन्हें विशेष देखना हो वे हमारे लेख को, जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ५ संख्या २ में है, देख लें।

निमित्त तप करना, इंद्र का अहल्या के शाप से यहीं निवृत्ति प्राप्त करना, अग्नि का सप्तर्षियों की स्त्रियों के प्रति दुर्वासना से प्राप्त हुए पाप से यहीं मुक्त होना, यम का अपनी भगिनी यमी के प्रति अनुचित अभिलाष उत्पन्न हो जाने के पाप से इसी तीर्थ का जल आचमन कर दोष-रहित होना और महाराक्षस नैर्ऋति का यहीं स्नान कर दिक्पाल बनने का उल्लेख किया है। वह यहाँ पर कुबेर का रहना और ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर के सन्निधान के कारण मुक्ति की कामना करनेवालों का अति परितोष सहित निवास करना, यहाँ के कमल पुष्पों का कैलास और क्षीरसमुद्र के नाभि-कमल से भी अधिक सुगंधित होना और मृगों का अतिशय सुगंध के कारण पुष्कर-तटों को न त्यागना बतलाता है। वह इस तीर्थ की प्रशंसा निम्नलिखित शब्दों में करता है—

तापत्रयं दर्शनतो दहन्ति मलत्रयं स्पर्शनतो तुदन्ति ।
संध्यात्रयं वंदनतो जयंति स्रोतस्त्रयं विस्मरयंति गांगम् ॥

आशय—तीनों पुष्कर दर्शनमात्र से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों को जला देते हैं, स्पर्शमात्र से मलत्रय को निवारण कर देते हैं, वन्दन से प्रातः, मध्याह्न और सायं संध्या को जीतते हैं, निःसंदेह ये पतितपावनी गंगा के प्रवाह को भी भुला देते हैं। उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त 'पृथ्वीराजविजय' के अन्य सर्गों में भी, प्रसंगानुसार, पुष्कर से संबंध रखनेवाली बातों का उल्लेख पाया जाता है। वे इतिहास की दृष्टि से महत्त्व की हैं अतः उनको भी यहाँ पाठकों के परिचय के लिये लिखे देते हैं।

अजमेर नगर ईसवी सन् ११९० के लगभग चौहाण राजा अजयदेव ने बसाया। इसके पूर्व इस राजा के पूर्वजों की राजधानी साँभर थी। उस साँभर में एक ऐश्वर्यशाली राजा चंदनराज, विक्रम की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, राज्य करता था। उसकी रानी रुद्राणी ने, जिसे योगिनी तथा आत्मप्रभा भी कहा करते थे, पुष्कर-तट पर सहस्र शिवलिंग स्थापित कराए और हजार दीपक जलाए।

रुद्राणी तद्वधूर्दीपसहस्रं तमसो भिदे ।
न पुष्करतटे लिंगसहस्रं तददीदिपत् ॥
सर्ग ५, श्लोक ३७

चंदनराज के "वाक्पतिराज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने १८८ विजय प्राप्त की थी। उसने पुष्कर में एक बहुत ऊँचा हर मंदिर बनवाया जो कैलास के समान सुशोभित था।

तं प्रासादमसौ चक्रे पुष्करे व्योमवाससः ।
भक्त्या त्यक्तोत्तरासंगः कैलास इव भाति यः ॥
सर्ग ५, श्लोक ४३

वाक्पतिराज के सिंहराज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने भी पुष्कर में शंकर का एक सुंदर मंदिर बनवाया।

पुष्करे पुष्कलसुधं प्रासादं सोपि निर्ममे ।
श्वेतो गुण इवोपास्ते यो देवं शशिशेखरम् ॥

गुजरात के सोलंकियों ने अजमेर के बसानेवाले अजयदेव के पिता पृथ्वीराज प्रथम के समय में अर्थात् विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पुष्कर पर, यहाँ के धनिक ब्राह्मणों का धन हरण करने के लिये, धावा किया परंतु वे हरा दिए गए और उनके ७०० आदमी खेत रहे।

पुष्करे ब्रह्मको शास्ति चुलुक्यशतसप्तकम् ।
हत्वा ब्रह्मस्वकामानां कुलक्षयमुपादिशत् ॥
सर्ग ५, श्लोक ८१।

महाराज अर्णोराज ने (जिन्हें आनाजी भी कहते हैं और जिन्होंने ई० स० ११२३ से ११५० तक राज्य किया था) पुष्कर पर अत्याचार करनेवाले मुसलमानों का, नाग पहाड़ को पार करते ही, अजमेर के समीप संहार किया। उस विजय के उपलक्ष में उन्होंने यवनों के रुधिर से अपवित्र हुई भूमि पर आनासागर बनवाकर पवित्र किया और पुष्करारण्यविहारिणी इंदु नदी* के जल से उसे भरा।

* यही चंद्र नदी, वाणी अथवा लूणी नदी है।

या पुष्करारण्यविहारशीला मंदाकिनीवेन्दुनदी प्रसिद्धा।
भगीरथस्सिंधुमिव स्रवन्त्या तया तटाकं तमपूरि देवः ॥
सर्ग ६, श्लोक २३

सुप्रसिद्ध सम्राट् पृथ्वीराज ने कौन कौन से मंदिर यहाँ पर बनवाए यह लिखा हुआ नहीं मिलता। उन्होंने अवश्य कई अच्छे अच्छे मंदिर बनवाए होंगे क्योंकि कवि लिखता है कि चत्वरों में द्विज वेद-पाठ करते थे और प्रतिदिन स्थान स्थान में नए नए देवालय बनते थे।

सुरसद्मभिः प्रतिपदं नवैर्नवैस्त्रिदिवादिवाविरतमागतैर्महीम्।
निजमेव कर्म विमलं न मानवानमरावतीमनयदुद्धसामिव ॥
सर्ग ९, श्लोक २३

उपर्युक्त निर्देशों के अतिरिक्त जो पुष्कर के संबंध में निर्देश इस ग्रंथ में किए हुए मिलते हैं उनका समावेश प्रसंगानुसार हमने अन्यत्र इसी लेख में कर दिया है।

स्मृतियों में पुष्कर

व्यास-स्मृति के चतुर्थ अध्याय में लिखा है—

विप्रपादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी।
तावत्पुष्करपात्रेषु पिबन्ति पितरोऽमृतम् ॥ ९ ॥
यत्फलं कपिलादाने कार्तिक्यां ज्येष्ठपुष्करे।
तत्फलं ऋषयः श्रेष्ठा विप्राणां पादशौचने ॥ १० ॥

जब तक ब्राह्मणों के पैरों के धोए हुए जल से पृथ्वी गीली रहती है तब तक पुष्कर* पात्रों में पितर अमृत पीते हैं। जो फल कार्तिक की पूर्णिमा पर ज्येष्ठ-पुष्कर में कपिला गऊ के दान से होता है वह फल, हे श्रेष्ठ ऋषियो! ब्राह्मणों के पैर धोने से होता है।

शंख-स्मृति के चतुर्दश अध्याय में लिखा है—

यद्ददाति गयाक्षेत्रे प्रभासे पुष्करे तथा।
प्रयागे नैमिषारण्ये सर्वमानन्त्यमश्नुते ॥ २७ ॥

---

* कमल की आकृति का एक पात्र पुष्कर पात्र कहलाता था।

जो गया क्षेत्र, प्रभास, पुष्कर, प्रयाग अथवा नैमिषारण्य में जाकर पितरों को पिंड देता है वह अक्षय फल पाता है।

शंख-स्मृति के द्वादश अध्याय के २७ वें श्लोक में "पुष्कर" कमल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पुराणों में पुष्कर

यद्यपि **श्रीमद्भागवत** में पुष्कर के विषय में विशेष वृत्तांत नहीं मिलता परंतु अंतिम बारहवें स्कंध के बारहवें अध्याय के ६० वें श्लोक* में लिखा है कि जो इस ग्रंथ को पुष्कर, मथुरा अथवा द्वारवती में पढ़ता है वह जन्म-मरण के भय से मुक्त होता है। इस ग्रंथ के सातवें स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में श्रेष्ठ प्रदेशों को गिनाते हुए तीसवें श्लोक में पुष्कर का भी नाम लिया है।

नरसिंहपुराण के अध्याय ६५ श्लोक १३ में धर्मक्षेत्रों में पुष्कर की गणना की है और ६६ वें अध्याय में—"पुष्कराणि तीर्थानि"—तीनों पुष्करों का उल्लेख किया है।

अग्निपुराण के १०९ वें अध्याय में निम्नलिखित वर्णन मिलता है--

पुष्करं परमं तीर्थं सान्निध्यं हि त्रिसंध्यकम्।
दशकोटि सहस्राणि तीर्थानां विप्र पुष्करे ॥ ५ ॥
ब्रह्मा सह सुरैरास्ते मुनयः सर्वमिच्छवः।
देवाः प्राप्ताः सिद्धिमत्र स्नाताः पितृसुरार्चकाः ॥ ६ ॥
अश्वमेधफलं प्राप्य ब्रह्मलोकं प्रयान्ति ते।
कार्तिक्यामन्नदानाच्च निर्मलो ब्रह्मलोकभाक् ॥ ७ ॥
पुष्करे दुष्करं गन्तुं पुष्करे दुष्करं तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तु चैव सुदुष्करम् ॥ ८ ॥
तत्र वासाज्जयाच्छ्राद्धात्कुलानां शतमुद्धरेत्।
जम्बूमार्गं च तत्रैव तीर्थं तण्डुलिकाश्रमम् ॥ ९ ॥

---

* पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान्।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥

पुष्कर परम तीर्थ है। यहाँ दस करोड़ तीर्थ प्रातः, मध्याह्न और संध्या में प्राप्त होते हैं। ब्रह्मा सहित सब देवता एवं मुनिगण यहाँ रहते हैं और वे यहाँ स्नान कर तथा पितरों का अर्चन कर सिद्धि को प्राप्त हुए। अश्वमेध कर के मनुष्य ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं परंतु यहाँ कार्तिक में अन्नदान करने से ही ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। पुष्कर की यात्रा, पुष्कर में तप तथा पुष्कर में दान दे देना दुष्कर है। वहाँ के निवास से, जप से, श्राद्ध से १०० पुश्तों का उद्धार होता है।

कूर्म्मपुराण के उत्तर विभाग के ३५वें अध्याय में निम्न-लिखित वर्णन मिलता है—

तीर्थं त्रैलोक्यविख्यातं सिद्धावासं सुशोभनम्।
तत्रास्ति पुण्यदं तीर्थं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः॥
पुष्करं सर्वपापघ्नं मृतानां ब्रह्मलोकदम्।
मनसा संस्मरेद्यस्तु पुष्करं वै द्विजोत्तमः॥
पूयते पातकैः सर्व्वैः शक्रेण सह मोदते।
तत्र देवाः सगन्धर्वाः सयक्षोरगराक्षसाः॥
उपासते सिद्धसङ्घा ब्रह्माणं पद्मसम्भवम्।
तत्र स्नात्वा लभेच्छुद्धो ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्॥
पूजयित्वा द्विजवरं ब्रह्माणं सम्प्रपश्यति।
तत्राभिगम्य देवेशं पुरुहूतमनिन्दितम्।
तद्रूपो जायते मर्त्यः सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥

त्रिलोकी में विख्यात देवताओं का निवासस्थान ब्रह्मा का पुष्कर तीर्थ है। वह पापों का नाश करनेवाला और मरे हुओं को ब्रह्मलोक देनेवाला है। जो ब्राह्मण मन से पुष्कर का स्मरण करता है वह अंत में पापों से मुक्त हो इन्द्र के साथ प्रमोद करता है। सब देवता, गंधर्व, यक्ष, सर्प और राक्षस सिद्धादि वहाँ ब्रह्मा की पूजा करते हैं। जो लोग पुष्कर में स्नान कर ब्रह्मा का पूजन करते हैं वे संपूर्ण पापों से विमुक्त होकर ब्रह्मलोक में निवास प्राप्त करते हैं।

वायुपुराण के सृष्टि प्रकरण में (अध्याय ६) वाराह का वही वर्णन मिलता है जो पद्मपुराण में है। इस पुराण के श्राद्ध कल्प में (७७ वाँ अध्याय, ४० वाँ श्लोक) "पुष्करेष्वक्षयं श्राद्धं तपश्चैव महाफलम्" पुष्कर में किए हुए श्राद्ध का अक्षय फल और यहाँ पर किए हुए दान का महाफल प्राप्त होना लिखा है।

वामनपुराण के २२ वें अध्याय में ब्रह्माजी की ५ वेदियाँ—मध्यवेदी प्रयाग, पूर्ववेदी गया, दक्षिणवेदी विरुजा, पश्चिमवेदी पुष्कर और उत्तरवेदी स्यमंतपंचक (कुरुक्षेत्र)—बतलाई हैं और इसी ग्रंथ के ६५ वें अध्याय में कार्तिक की पूर्णिमा पुष्कर में बहुत पुण्य देनेवाली कही है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति खंड के ५६ वें अध्याय में और गणेश खंड ३ रे अध्याय में पुष्कर को सर्वश्रेष्ठ तीर्थ बतलाया है।

गरुड़पुराण के पूर्वार्द्ध के ६६ वें अध्याय में पुष्कर तीर्थ को सर्वपापों का नाश करनेवाला और भुक्ति-मुक्ति देनेवाला कहा है।

वाराहपुराण के १५७ वें अध्याय में कहा है कि ज्येष्ठ में पुष्कर-स्नान बहुत फल देनेवाला है।

भविष्यपुराण के पूर्वार्द्ध के १६ वें अध्याय में लिखा है कि संपूर्ण जगत् ब्रह्ममय और ब्रह्मा में स्थित है इसलिये ब्रह्माजी सबके पूज्य हैं। जो ब्रह्मा को भक्तिपूर्वक नहीं पूजता वह राज्य, स्वर्ग और मोक्ष कभी नहीं पाता। ब्रह्मा के दर्शन से उनका स्पर्श करना उत्तम है। इसी ग्रंथ के ८६ वें अध्याय में वैशाख, कार्तिक और माघ की पूर्णिमा स्नान दान के लिये अति श्रेष्ठ कही है, और इनमें क्रमशः गंगा, पुष्कर और काशी में स्नान करना अच्छा बतलाया है।

पद्म कमल को कहते हैं। पुष्कर भी कमल का नाम है। इस नाते से **पद्मपुराण** में पुष्कर का सबसे अधिक वृत्तांत मिले तो आश्चर्य ही क्या है। इस महापुराण के सृष्टि खंड में जो सविस्तर वर्णन है उसका सार नीचे लिखते हैं।

१५ वाँ अध्याय श्लोक-संख्या ३८२

सुमेरु पर्वत के शिखर पर "श्रीनिधान" नामक एक बहुत सुंदर पुर है। उसमें ब्रह्माजी का "वैराज" नामक भवन है। वहाँ ऋषि-मुनियों और सामवेद उच्चारण करनेवाले ब्राह्मणों से परिपूरित "कान्तिमति" नाम की एक सभा है। एक दिन वहाँ बैठे हुए ब्रह्माजी ने यज्ञ करने का विचार किया। उन्होंने सोचा कि यों तो पृथ्वी पर अनेक पुण्यतीर्थ हैं परंतु जैसे हम सब देवों में आदिदेव हैं वैसे ही आदिभूत एक परमतीर्थ भी अपने यज्ञ करने के लिये बनावें। हम कमल से उत्पन्न हुए हैं और वह कमल विष्णु की नाभि से निकला है। उधर पुष्कर को, जिसका अर्थ कमल है, वेदपाठी ऋषि तीर्थ बतलाते हैं। ऐसे विचारते हुए ब्रह्माजी पृथ्वी पर पधारे और यहाँ कर्णिकार, नागवृक्ष, सिंधुवार, कुंदलता, मालती लता, अतिमुक्तक वल्ली, चूतिका लता, सर्ज, अर्जुन, आम्र, शाल, अशोक, पनस, कदम्ब आदि नाना द्रुम, लता, पुष्प, फल एवं पशु-पक्षी और मृगों से समाकुलित नंदन वन से भी अधिक आनंददायक परम रमणीय वन देखा। इन वृक्षों की पंक्तियों ने ब्रह्माजी पर भक्तिपूर्वक पुष्पों की वर्षा की जिसके प्रतिग्रह से प्रसन्न हो उन्होंने यथेष्ट वर माँगने के लिये कहा। वृक्षों के अधिष्ठातृ देवताओं ने कहा कि यदि आप प्रसन्न हैं तो हम एक ही वर माँगते हैं और वह यह कि आप सदा इसी वन में निवास करना स्वीकार करें। ब्रह्माजी ने एवमस्तु कहा और सहस्र वर्ष रह अपने हाथ का पुष्कर (कमल) पृथ्वी पर फेंक दिया जिसकी धमक से रसातल पर्यंत पृथ्वी काँप उठी। देवता लोग विष्णु के पास गए और वे सब यहाँ आकर ब्रह्माजी से इस धमक का कारण पूछने लगे। उन्होंने उत्तर दिया कि वज्रनाभ नामक एक असुर रसातल में रहता था और बालकों के प्राणों को हरता था। वह दुष्ट तुम लोगों को भी नाश करने का विचार कर रहा था अतएव हमने तुम्हारे हितार्थ कमलपात से उसका घात कर दिया है। हमने यहाँ पद्म फेंका है अतः यह भूमि पुष्कर नाम से विख्यात

होगी। तदनंतर उन देवताओं सहित ब्रह्माजी यहाँ क्षेत्र स्थापित करने लगे। चंद्रनदी के उत्तर और सरस्वती के पश्चिम नंदन स्थान के पूर्व व कान्य पुष्कर के दक्षिण बीच की जितनी भूमि है उसमें ब्रह्माजी ने यज्ञ करने की वेदी बनाई। उन्होंने ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ तीन पुष्कर बनाए जिनके क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र देवता हैं।

१६ वाँ अध्याय श्लोक-संख्या १८०

इस यज्ञ में जिस प्रभु के सहस्र नेत्र, सहस्र मुख, सहस्र चरण, सहस्र श्रवण, सहस्र कर, सहस्र जिह्वा हैं, जो सहस्र मूर्तिमान् सहस्रद और सहस्रभुक् है वह देवता हुआ। और हवन, सवन, हव्य, होता, पवित्र, यज्ञपात्र, वेदी, दीक्षा, चरु, स्रुव, स्रुक्, सोम, अवभृथ, प्रोक्षणीपात्र, दक्षिणायन, अध्वर्यु (यजुर्वेदवेत्ता), सामग (सामगान करनेवाले ब्राह्मण), सदस्य, सदन, यूप, समिधा, कुश, दर्वी (एक प्रकार का लकड़ी का चमचा), चमस, मुसल, ओखली, प्राग्वंश, यज्ञभूमि, होता अर्थात् ऋग्वेदवेत्ता, बंधन, छोटे बड़े बहुत से स्थिर और अस्थिर पात्र, प्रायश्चित्त करने की सामग्री, स्थण्डिल (चबूतरे), कुशों के समूह, मन्त्र, भद्र, अग्नि के विविध भाग, अग्निभुक्, सोमभुक्, और शुभार्चिष आयुध आदि सब थे। ब्रह्मा ऋषि, कपिल देवजी, परमेष्ठी ऋषि, सप्तर्षि, त्र्यम्बक, सनत्कुमार, मनु, प्रजापति, पुलहादि ऋषिगण, आदित्य, वसु, साध्य, मरुत, रुद्र, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, गंधर्व, देव, दानव, भूत, प्रेत, अप्सराएँ, नाग, विद्याधर, ऋषि, देवर्षि, राजर्षि, द्विज, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहाँ तक कहें वृक्ष, वल्ली, ओषधियाँ, वन, पर्वत, पशु, पक्षी, स्थावर जंगम आदि सब यहाँ आए और प्रदीप्त वैश्वानर के तुल्य तेजस्वी ब्रह्माजी ने यज्ञारम्भ किया।

सब लोगों के सत्कार के लिये कुबेर ने धन दिया, दक्ष ने अन्न और वरुण ने स्वयं भोजन बनाए, वायु ने भक्ष्य भोज्यादि के विकार अलग अलग किए, सूर्य ने रस-पाक किया, चंद्र ने अन्न-पाचन की शक्ति दी और बृहस्पति ने सब बातों की देखरेख की।

ब्रह्मा की दाहिनी ओर पास ही विष्णु भगवान् और बाईं ओर पिनाकपाणि रुद्र बैठे। फिर ब्रह्माजी ने ऋत्विजों का वर्ण किया। भृगु होता, पुलस्त्य अध्वर्यु, मरीचि उद्गाता, नारदजी ब्रह्मा नियुक्त हुए और सनत्कुमारादि सदस्य निर्वाचित किए गए। दक्ष प्रजापति और ब्राह्मणादि चारों वर्ण ब्रह्मा से कुछ दूर पर बैठे। कुबेर ने इनको वस्त्र आभरणादि से विभूषित किया। वेदी के चारों ओर चार चार कुल मिलाकर १६ ऋत्विज् बैठे। ब्राह्मणों ने प्रथम विश्वकर्मा को बुलाकर ब्रह्माजी का मुंडन कराया, फिर शुद्ध नवीन वस्त्र धारण कराए और वेद-मंत्रों का उच्चारण किया। वहाँ पर कुछ दूर पर क्षत्रिय रक्षार्थ नियुक्त किए गए थे और वैश्य भोजन बनाने में लगे हुए थे। उन्होंने बहुत अच्छे अच्छे भोजन बनाए। अतः पितामह ने उन्हें प्राग्वाट की उपाधि से समलंकृत किया।

तदनंतर अध्वर्यु ने ब्रह्मा की पत्नी सावित्री को बुलवाया और कहलाया कि अग्नियाँ प्रज्वलित हो चुकी हैं, दीक्षा का काल समीप आ गया है अतः बिना विलंब शीघ्र आना चाहिए। सावित्रीजी स्त्रियों के कार्य में व्यग्र थीं। वे कहने लगीं कि मैंने अभी मंडन नहीं बनाया, भीतों पर चित्रकारी पूरी नहीं की है, आँगन में स्वस्तिक स्थापित नहीं किया है। बरतन भाँड़े बिना मँजे पड़े हैं और देखो लक्ष्मी अभी तक नहीं आईं, न सती आईं और इंद्राणी, अरुंधती, अनसूया, मेधा, श्रद्धा, विभूति, धृति, क्षमा, गंगा, सरस्वती आदि कोई भी तो नहीं आईं। जब तक ये सखियाँ बहू बेटियाँ न आवें तब तक मैं अकेली कैसे चलूँ, इसलिये आप ब्रह्माजी से निवेदन करें कि वे एक मुहूर्त विलंब करें। अध्वर्यु ने यह संदेश ब्रह्माजी से कहा जिसे सुन वे कुछ कुपित होकर इंद्र से बोले कि तुम शीघ्र हमारे लिये कोई और स्त्री लाओ। जब यज्ञ हो जायगा तब उस स्त्री को छोड़ देंगे। आज्ञा पाते ही इंद्र ने तुरंत पृथ्वी पर ढूँढ़ना प्रारंभ किया और अंत में उन्हें मन्मथ अशोक वृक्ष की प्रोद्भिन्न कलिका के समान एक आभीर-कन्या मिली। इंद्र ने उसके

अप्रतिम सौन्दर्य की प्रशंसा कर उसका परिचय पूछा। वह बोली कि मैं गोपकन्या हूँ, गोरस बेचने के लिये आई हूँ। इतना सुन इंद्र ने उसे सहसा बलपूर्वक पकड़ ब्रह्माजी के पास पहुँचा दिया और उन्होंने उस कन्या से, जिसका नाम गायत्री था, गंधर्व-विवाह किया। फिर ऋत्विजों ने उसके हाथ में एक मृग-शृंग दे रेशमी वस्त्र पहना पत्नीशाला में बिठला दिया। ब्रह्मा ने भी हाथ में औदुम्बर का दंड और शरीर पर मृगचर्म धारण कर यज्ञ प्रारंभ किया। इस प्रकार वह यज्ञ पुष्कर में सहस्र युग तक होता रहा।

१७ वाँ अध्याय श्लोक-संख्या ३३७

तदनंतर गोपजन कन्या को ढूँढ़ते हुए ब्रह्माजी के पास आए और उसे मेखला धारण किए हुए देख बिलखने लगे। विष्णु ने उन्हें समझाया कि यह कन्या बड़ी भाग्यवती है। जिस गति को योगी और तपस्वी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते हैं उसको यह सहज ही में प्राप्त हो गई है।

कालांतर में सावित्री नाना देवांगनाओं सहित, जिन्होंने यज्ञ में चढ़ाने के लिये हाथों में नाना प्रकार के फल ले रखे थे, यज्ञभूमि में आईं। उन्हें देख इंद्र अति भयभीत हुए और गायत्री को वरे हुए ब्रह्माजी ने भी नीचा मुख कर लिया। सावित्री इस किल्विष कर्म को निहार बहुत कुपित हुई और उन्होंने ब्रह्मा को शाप दिया कि ब्राह्मणों के समूहों में, सब स्थानों में तथा सब तीर्थों में आज से तुम्हारी पूजा कोई भी नहीं करेगा, केवल कार्तिक की पूर्णमासी को तुम्हारी पूजा हुआ करेगी। तदनंतर इंद्र को शाप दिया कि तुम संग्राम में शत्रुओं से बाँधे जाओगे और विष्णु से कहा कि भृगु के शाप से जब तुम्हारा जन्म मर्त्यलोक में होगा तब तुम भार्या के वियोग से दुखी होगे। इसी प्रकार अग्नि को सर्वभक्षी बन जाने का और ब्राह्मणों को तीर्थों पर दान लेनेवाले बन जाने का शाप दिया। फिर वे ऐसी दूरी पर जा एक पर्वत पर चढ़ गईं जहाँ यज्ञ का शब्द न सुनाई पड़ सके।

सावित्री के चले जाने पर गायत्री ने वर दिया कि जो पुष्कर में आकर ब्रह्माजी की पूजा करेगा वह धन-धान्यादि से युक्त होगा और जो उनकी रथयात्रा करायेगा उसे अतुलित पुण्य होगा। इसी प्रकार औरों को, जिन्हें सावित्री ने शाप दिया था, गायत्री ने आशीर्वाद दिया।

१८ वाँ अध्याय श्लोक-संख्या ४७१

ब्रह्माजी के यज्ञ के समय जो दीर्घकर्ण, मुंड, बालखिल्य दंतोलूखली आदि विरूप थे वे सब स्वरूपवान् बन गए। इस तीर्थ का नाम उस समय से ज्येष्ठ पुष्कर पड़ा।

पुष्कर तीर्थ में पाँच स्रोतों (अर्थात् सुप्रभा, कांचना, प्राची, नंदा और विशालका) से सरस्वती बहती है। यह पूर्व को बहती है इसलिये प्राची सरस्वती कहलाती है। यह भी पुष्कर के पास एक तीर्थ है।

मंडण नाम का एक ब्राह्मण हुआ। उसके हाथ में कुश से एक छेद हो गया जिसमें से शाक का रस बहता था। वह इस चमत्कार के मारे हर्ष से नाचने लगा। तब रुद्र ने अपने अँगूठे से भस्म बहाकर इसका नाचना बंद किया।

एक बार इंद्रादिक देवताओं ने सरस्वती से, पश्चिम दिशा में जा बड़वानल को चार समुद्र में छोड़ आने के लिये, कहा। ब्रह्माजी के अनुमोदन करने पर वह बड़े दुख से उस ओर चली और उसने जिन जिन कुंडों में ब्रह्माजी ने यज्ञ किया था उन्हें जल से परिपूर्ण कर दिया। इन स्थलों पर जो मनुष्य श्राद्ध और तर्पण करते हैं तथा दान देते हैं उन्हें अमित फल मिलता है। प्राची सरस्वती को पाकर जो अन्य तीर्थ को ढूँढ़ता है वह हाथ में स्थित अमृत को त्याग विष ग्रहण करने की इच्छा करता है। जो यहाँ शरीर त्यागता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है। पुष्कर से जाकर सरस्वती अंतर्धान हो गई और पश्चिम दिशा की ओर चल कुछ दूर पर खर्जूर वन में विश्राम ले वहाँ नंदा नामक नदी से मिली।

अति प्राचीन काल में प्रभञ्जन नामक एक राजा हुआ था। उसने एक दिन आखेट के प्रसंग में बच्चे को दूध पिलाती हुई मृगी को बाण से मारा। मृगी के शाप से वह व्याघ्र होकर वहाँ विचरने लगा। चिर काल पश्चात् एक दिन उस खर्जूर वन में गायों का झुंड चरने आया। उसमें से नंदा नामक गाय को इस व्याघ्र ने पकड़ लिया। वह गाय अपने बछड़े का स्मरण कर बड़ी व्याकुल हुई और सिंह से यह प्रार्थना करने लगी कि मैं अपने बछड़े को दूध पिला उसे सखियों को सौंप तुरंत वापस चली आऊँगी। उसकी प्रार्थना व्याघ्र ने स्वीकार कर ली और वह भी यथोचित कर अपने प्रतिज्ञानुसार व्याघ्र के समीप शीघ्र लौट आई। वह अपना शरीर आहार के स्वरूप में अर्पण करने लगी। व्याघ्र ने कहा कहीं सत्यवादियों को भी अशुभ हुआ है! सहसा राजा को, जो व्याघ्र के स्वरूप में था, पूर्व शाप का स्मरण हो आया और वह मनुष्य-देहधारी हो गया। उसी स्थल पर नंदा नामक नदी प्रकट हुई और सरस्वती नदी उससे वहीं आकर मिली। माघ मास की तृतीया को जो सरस्वती-नंदा के संगम पर स्नान करते हैं उनका सौभाग्य बढ़ता है। इसी नदी का, कुछ दूर पर जाकर, विपुला गंगा नाम पड़ा है। यह दक्षिण दिशा में बहती है। उसके पुण्य तटों पर बहुत से पुण्य तीर्थ और देवालय हैं।

१८ वाँ अध्याय श्लोक-संख्या ३८१

जिसके हाथ पैर और मन अच्छे प्रकार वश में हैं और जिसमें विद्या, तपस्या और कीर्ति भी है वह तीर्थ का फल पाता है। इस तीर्थ का प्रमाण दो कोस चौड़ा और पाँच कोस लंबा है। यहाँ की यात्रा से राजसूय और अश्वमेध यज्ञ की फल-प्राप्ति होती है। जो ब्राह्मण एक दिन भी यहाँ आकर संध्योपासन करेगा उसके कुल में सावित्री के शाप का कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं होगा।

यहाँ सरस्वती के पार दधीचि ऋषि का आश्रम है। अगस्त्य-कुंड भी यहीं है। यहीं पर नागों की भी पुरी है तथा अनेक

ब्रह्मर्षियों और मनुओं के भी आश्रम हैं। यहाँ सप्तर्षियों के आश्रम के आसपास अत्रि, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, गौतम, सुमति, सुमुख, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त, प्रतर्दन, रैभ्य, बृहस्पति, कश्यप, भृगु, दुर्वासा, जमदग्नि, मार्कण्डेय, गालव, उशना, भरद्वाज, यवक्रीत, स्थूलाक्ष, मकराक्ष, कण्व, मेधातिथि, नारद, पर्वत, सगंधी, च्यवन, तृणांबु, सबल, धौम्य, शतानंद, अकृतव्रण, राम, अष्टक और कृष्णद्वैपायन रहे थे।

एक बार पृथ्वी पर बहुत दिनों तक वर्षा नहीं हुई। अन्न के अभाव से लोग भूखे मरने लगे और पुष्कर में तप करनेवाले ऋषि लोग भी दुखी हुए। एक राजा उन्हें दान देने लगा परंतु उन्होंने लेने से इनकार किया। वे सब शुनस्सख नामक संन्यासी के पास गए। उसने सबको दम की महिमा सुनाई। वहाँ उन्होंने उत्तम कमलों वाला जलाशय देखा। उन्होंने बहुत से कमलों की डंडियों को तोड़ा और फिर उन्हें रख स्नान करने चले गए परंतु लौटकर क्या देखते हैं कि उस सामग्री को कोई चुरा ले गया। ऋषि लोग दुखी होकर कहने लगे कि, अमुक अमुक पाप उसे लगे जिसने बिस (कमल की डंडी) चुराए हैं। अंत में शुनस्सख ने कहा—हमने उन्हें अलग रख दिया है, हम वस्तुतः इंद्र हैं। यह स्थान मध्यम पुष्कर है। जो यहाँ आकर तीन रात तक व्रत, जप, तप, स्नान करेगा वह अमित लाभ का भागी होगा।

२०वाँ अध्याय श्लोक-संख्या १७७

रथन्तर कल्प में पुष्पवाहन नाम का एक विख्यात तेजस्वी राजा हुआ। ब्रह्मा ने उसके तप से प्रसन्न होकर उसे एक सुवर्ण का कमल दिया जिस पर चढ़कर वह लोकों और सप्तद्वीपों में ऋषियों सहित यथेष्ट विचरा करता था। उसकी स्त्री का नाम लावण्यवती था। एक बार अगस्त्य उसके यहाँ पधारे और बोले कि पहले तुम्हारा जन्म एक लुब्धक-कुल में हुआ था और तुम और तुम्हारी स्त्री बड़े दरिद्र थे। एक दिन एक जलाशय से कमल लेकर तुम वैदिश

नामक नगर को गए परंतु वहाँ दिन भर फिरते रहने पर भी वे न बिके। तुमने वहाँ देखा कि अनंगवती नाम की एक वेश्या विभूति-द्वादशी का व्रत कर रही थी। वहीं तुमने वे कमल विष्णु पर चढ़ा दिए। उस शुभ कर्म के प्रभाव से यह पुष्कर मंदिर तथा वैभव तुमको प्राप्त हुआ है। ज्येष्ठ पुष्कर में धेनु-दान, मध्यम पुष्कर में उत्तम भूमि और कनिष्ठ में सुवर्ण-दान करना चाहिए। ज्येष्ठ पुष्कर में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु और कनिष्ठ में रुद्र देवता हैं।

इस ग्रंथ के ३२ वें तथा ३४ वें अध्यायों में और कहीं कहीं अन्य अध्यायों में भी पुष्कर-संबंधी वृत्तांत विद्यमान है परंतु लेख-विस्तार के भय से हम अधिक लिखने में असमर्थ हैं।

पद्मपुराण के आधार पर कई एक **पुष्कर-माहात्म्य** भी बनाए गए हैं।

महाभारत में पुष्कर

महाभारत के आदि, वन, द्रोण, शल्य, शांति, अनुशासन और स्वर्गारोहण पर्वों में पुष्कर का वृत्तांत अथवा उल्लेख मिलता है।

आदिपर्व के हरणाहरण पर्व में कृष्ण की बहन सुभद्रा का अर्जुन द्वारा हरा जाना वर्णन किया है। उस प्रसंग में लौटते हुए अर्जुन का पुष्कर में निवास करना बतलाया है। यथा—

पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान् प्रभुः।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खांडवप्रस्थमागतः ॥ ७९७६ ॥

वनपर्व में पुष्कर संबंधी वृत्तांत अति विस्तार से मिलता है। इस पर्व के अर्जुनाभिगमन पर्व में कृष्ण का पुष्कर में चिरकाल तक तप करना और अन्यत्र जामदग्नेय राम (परशुराम) का यहाँ आना लिखा है। यथा—

दशवर्षसहस्राणि, दशवर्षशतानि च।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण, त्वमपो भक्षयन् पुरा ॥ ४७२ ॥

सम्मितं पुष्कराणां च स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत्सुमहात्मना ॥ ५०९५ ॥

तदनंतर आगे लिखे हुए कई श्लोकों में जो वर्णन मिलता है वह पुराणों में भी मिलता है। विशेष बातें ये ही हैं कि यहाँ स्नान करने का फल अश्वमेध यज्ञ करने के फल से दसगुना है। यहाँ पर ब्राह्मण को भोजन कराना इहलोक और परलोक में सुख-प्रद है। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यहाँ स्नान करते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। जैसे देवताओं में आदिदेव मधुसूदन हैं वैसे ही तीर्थों में आदितीर्थ पुष्कर है। जो यहाँ १२ वर्ष पवित्रता से नियमपूर्वक रह लेता है वह सब यज्ञों के फलों को पा ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। चाहे १०० वर्ष अग्निहोत्र कर ले चाहे १ कार्तिक की पूर्णिमा को पुष्कर बस ले दोनों बराबर हैं—

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतं ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥
दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ।
सान्निध्यं पुष्करे येषां त्रिसंध्यं कुरुनंदन ॥
आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।
गंधर्वाप्सरसश्चैव नित्यं सन्निहिता विभो ॥
यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महताऽन्विताः ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
दूयंते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥
अस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः ॥
पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं परमिकां प्राप्ता पुण्येन महतान्विताः ॥
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥

अप्येकं भोजयेद्विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनासौ कर्म्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥
शाकैर्मूलैः फलैर्वाऽपि येन वर्त्तयते स्वयम् ।
तद्वै दद्याद्ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ॥
तेनैव प्राप्नुयात्प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम ।
न वै योनौ प्रजायंते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥
कार्त्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करं ।
प्राप्नुयात् स नरो लोकान् ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ॥
सायं प्रातः स्मरेद्यस्तु पुष्कराणि कृतांजलिः ।
उपस्पृष्टं भवेत्तेन सर्वतीर्थेषु भारत ॥
जन्मप्रभृति यत्पापं स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ।
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ॥
यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ।
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ॥
उष्ट्वा द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ।
क्रतून् सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोके स गच्छति ॥
यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ।
कार्त्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे स्वयमेव तत् ॥
त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ॥
दुष्करं पुष्करे गंतुं दुष्करं पुष्करे तपः ।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ॥

४०६२—४०८१

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमंतरिक्षे च पुष्करम् ॥ ७०७३ ॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् ।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गंगा कलियुगे स्मृता ॥ ८२३२ ॥
पुष्करे तु तपस्तप्येद्दानं दद्यान्महालये ।

मलये त्वग्निमारोहेद् भृगुतुङ्गे त्वनाशनम् ॥ ८२३३ ॥
पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गंगायां मगधेषु च ।
स्नात्वा तारयते जंतुः सप्त सप्तवरांस्तथा ॥ ८२३४ ॥
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्ट्वा भद्रं प्रयच्छति ॥ ८२३५ ॥
पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥ ८३६९ ॥
अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ ८३७० ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यंति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥ ८३७१ ॥

द्रोणपर्व में मृत्यु का पुष्कर में तप करना बतलाया है । यथा—

पुष्करेष्वथ गोकर्णे नैमिषे मलये तथा ।
अपाकर्षत्स्वकं देहं नियमैर्मनसः प्रियैः ॥ २०८४ ॥

—अभिमन्युवध पर्व अध्याय ५४

शल्यपर्व के गदायुद्ध पर्व में सुप्रभा नाम सरस्वती का पुष्कर में बुलाया जाना लिखा है । यथा—

पितामहेन यजता आहूता पुष्करेषु वै ।
सुप्रभा नाम राजेन्द्र नाम्ना तत्र सरस्वती ॥

—अध्याय ३९—श्लोक २२००

शांतिपर्व के मोक्षधर्म प्रसंग में (अध्याय २९९) निम्नलिखित पुष्कर-संबंधी उल्लेख है । यहाँ पर शवों को लाकर जलाने का माहात्म्य है ।

दानं त्यागः शोभना मूर्त्तिरद्भ्यो भूपप्लाव्यं तपसा वै शरीरम् ।
सरस्वती नैमिषपुष्करेषु ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम् ॥
गृहेषु येषामसवः पतंति तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम् ।
यानेन वै प्रापणं च श्मशाने शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः ॥

अनुशासन पर्व में निम्नलिखित स्थलों में पुष्कर शब्द विद्यमान है—

अध्याय	२५	श्लोक	१६-६६
,,	१०२	,,	४८८७
,,	१०३	,,	५-६६७
,,	,,	,,	४-६१६
,,	१३०	,,	६११-६
,,	,,	,,	६१३०
,,	१६५	,,	७६४५

इनमें १३० वें अध्याय में वेदपारंगत ब्राह्मण को पुष्कर में कपिला गऊ देना तथा १०३ अध्याय में भगीरथ-कृत दान का वर्णन है। यथा—

पुष्करे कपिला देया ब्राह्मणे वेदपारगे।
दशायुतानि चाश्वानां गोयुतानि च विंशतिम्।
पुष्करेषु द्विजातिभ्यः प्रादां शतसहस्रशः॥

स्वर्गारोहणपर्व के अध्याय ५ श्लोक २११ में बतलाया है कि जो महाभारत को सुनता है उसे पुष्कर के जलों से स्नान करने से क्या लाभ ?

द्वैपायनौष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन॥

यही श्लोक आदिपर्व में भी दिया हुआ है (संख्या ६५५)। उपर्युक्त श्लोक-संख्याएँ कलकत्ते के पुराने छपे हुए महाभारत ग्रंथ के अनुसार हैं।

वाल्मीकि रामायण में पुष्कर

आदिकवि श्रीवाल्मीकि मुनि ने लिखा है कि एक बार वशिष्ठजी से पराजित हो क्षत्रियबल को धिक्कार विश्वामित्र दक्षिण दिशा में तप करने चले गए। उन दिनों में अयोध्या के राजा त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग जाने की इच्छा हुई। यज्ञादि से जब उसकी यह कामना सफल न हो सकी और गुरु वशिष्ठजी से भी संतोषदायक उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो वह विश्वामित्र के पास गया। राजा के वृत्तांत को ज्ञात कर विश्वामित्र ने, जो पहले ही वशिष्ठ से रुष्ट थे, उसकी

इच्छा पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की और ऋषियों को बुला यज्ञ प्रारंभ कराया। अंत में जब सफलता के दर्शन नहीं हुए तो क्रोध से स्रुव को हाथ से फेंक विश्वामित्र ने कहा कि "स्वार्जितं किंचिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम्। राजंस्त्वं तेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज। बालकांड। ६०। १४,१५।" मैंने अपने तप से कुछ भी फल कमाया है तो हे राजा! तू उसके प्रभाव से सदेह स्वर्ग को जा। ऋषि का इतना कहना था कि राजा ऊपर को जाने लगा परंतु जब वह स्वर्ग में सदेह प्रवेश के लिये इंद्र की आज्ञा प्राप्त नहीं कर सका और नीचे गिरता हुआ विश्वामित्र का नाम ले त्राहि त्राहि पुकारने लगा तो ऋषि ने बीच ही में इसके लिये स्वर्ग की सृष्टि रच दी। इस प्रकार जब वहाँ विश्वामित्र अपनी तप-रूपी संपत्ति व्यय कर रीते रह गये तब वे वहाँ के वनवासियों से बोले—

महाविघ्नः प्रवृत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम्।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तपस्यामहे तपः॥ २॥
पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः।
सुखं तपश्चरिष्यामः सुखं तद्धि तपोवनम्॥ ३॥
एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः॥ ४॥

—बालकांड ६१ वाँ सर्ग।

यहाँ तो हमको यह त्रिशंकुरूपी तप का नाशक महा विघ्न हो गया अतः अब हमारा किसी और दिशा में जाकर तप करने का विचार है। विशाल तपोवनवाले पश्चिम दिशा में पुष्कर हैं। उनके तीरों के तपवनों में बड़े बड़े महात्मा हैं। वहीं हम भी सुख से तप करेंगे। वह तपोवन बहुत अच्छा है।

ऐसा कह वह महामुनि यहाँ आ उग्र तप करने लगे।

इन्हीं दिनों अयोध्या के राजा अंबरीष ने भी एक यज्ञ करना प्रारंभ किया। इस यजमान के पशु को इंद्र हर ले गया। पुरोहित ने इससे कहा कि यह दुर्घटना तेरे दुर्नय से हुई है। जो राजा

रक्षा नहीं कर सकता उसे दोष नाश कर देते हैं। तदनंतर अंबरीष पशु को ढूँढ़ने निकला। उसने कई देश, जनपद, नगर, वन और आश्रम ढूँढ़े। अंत में वह पुत्र और भार्या सहित भृगुतुंग पर अमित प्रभाववाले ऋचीक महर्षि के पास गया और कुशल पूछ बोला कि यदि आप एक लाख गाएँ लेकर अपने एक पुत्र को यज्ञ के पशु के स्थान में समर्पण कर दें तो अत्यंत कृपा हो, मैंने सारे देश ढूँढ़ डाले परंतु यज्ञ के लिये पूर्वकल्पित पशु का पता नहीं लगा। अतः यह प्रार्थना करने को बाधित हुआ हूँ।

अंबरीष की प्रार्थना सुन ऋषि ने कहा मैं ज्येष्ठ पुत्र को तो नहीं दे सकता। उनके इतना कहते ही उनकी स्त्री ने कहा—जैसे आप ज्येष्ठ पुत्र को नहीं दे सकते वैसे मैं कनिष्ठ शुनक को नहीं दे सकती। माता-पिता का यह वार्तालाप सुन मध्यम पुत्र शुनःशेप ने कहा—

पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम्।
विक्रेयं मध्यमं मन्ये राजपुत्र नयस्व माम्॥ सर्ग ६१, श्लोक २१॥

पिता ने ज्येष्ठ पुत्र को और माता ने कनीयस् को अविक्रेय बतलाया है इसलिये मध्यम पुत्र विक्रेय रहा। अस्तु, आप मुझे अपने साथ ले चलिए।

शुनःशेप को साथ ले राजा रथ हाँक चलने लगा। मार्ग में मध्याह्न के समय वह पुष्कर पर ठहरा (व्यश्रमत्पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनंदन। तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः। पुष्करं ज्येष्ठमागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह। सर्ग ६२, श्लोक १, २।) इस अवसर पर शुनःशेप ज्येष्ठ पुष्कर पर विश्वामित्र से मिला और उदासमुख, तृषा और श्रम से दीन हुआ मुनिवर की गोद में गिर कहने लगा कि न मेरे बाप है, न मा है; फिर ज्ञाति-बांधवों की तो कथा ही क्या? हे मुनिपुंगव! आप मेरी रक्षा करिए। हे नरश्रेष्ठ! ऐसा उपाय कीजिए कि राजा अंबरीष भी कृतकार्य हो और मैं भी बिना किसी हानि के दीर्घायु हो तपकर स्वर्ग प्राप्त करूँ।

मुनिवर ने शुनःशेप से सारा वृत्तांत सुन अपने पुत्रों को बुला कहा कि जिस परलोक रूप प्रयोजन के लिये माता-पिता पुत्र उत्पन्न करते हैं उसका यह समय आ गया है। यह मुनि का बालक पुत्र मेरी शरण आया हुआ है। हे पुत्रो! तुम केवल अपने प्राणार्पण से इसका प्रिय करो। तुम सब सुकृतकर्म और धर्मपरायण हो। इस शुनःशेप के प्रतिनिधि हो पशु के स्थान में नरेंद्र अंबरीष के यज्ञ में अग्नि को तृप्त करो। मुनि के इन वचनों को सुन मधुच्छंदादि पुत्र साभिमान बोले कि आश्चर्य है आप अपने पुत्रों को मार दूसरे के पुत्र की रक्षा करना चाहते हैं। हम तो इसे भोजन में कुत्ते के मांस के समान अकार्य गिनते हैं। विश्वामित्र को इस पर क्रोध आया और उन्होंने उनको शाप दिया कि तुम कुत्ते का मांस खानेवाले हो जाओ और शुनःशेप से कहा कि तुम पवित्र पाशों (दर्भा की रस्सी) से बँध वैष्णव यूप को प्राप्त हो आग्नेय मंत्रों से अग्नि की स्तुति करना और इन दो (इंद्र-उपेंद्र-संबंधी) गाथाओं को गाना जिससे तुम्हारी जीवन-सिद्धि हो जायगी।

पुत्रों पर क्रोध करने से तप का नाश हो जाने के कारण विश्वामित्र ने पुनरपि पुष्कर में एक सहस्र वर्ष तप किया और जब व्रत-स्नान किया तब सब देवता उन्हें तप का फल देने आए। ब्रह्मा ने कहा कि अपने शुभ कर्मों की कमाई से अब तुम ऋषि हो। ऋषि पदवी से संतुष्ट न हो विश्वामित्र ने फिर तप किया। कालांतर में अप्सराओं में सर्वोत्तम मेनका* पुष्कर में स्नान करने के लिये आई। दैव संयोग से विश्वामित्र ने इस अप्रतिम रूपवती को मेघ में बिजली के समान पुष्कर में स्नान करते हुए देख लिया और वे कंदर्प के दर्प के वशीभूत हो गए। वह यहाँ १० वर्ष रही। विश्वामित्र फिर इस

---

* ततः कालेन महता मेनका परमाप्सरा।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥
तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥ ५ ॥ इत्यादि
सर्ग ६३, बालकांड।

विघ्न के कारण उत्तर पर्वत को चले गए और उत्कट ब्रह्मचर्य का संकल्प कर उन्होंने कौशिकी नदी पर तप किया और फिर पूर्व दिशा में तप कर महर्षि पदवी प्राप्त की।

अन्य ग्रंथों में पुष्कर

हम्मीर महाकाव्य में वराहजी के मंदिर का उल्लेख हम कर चुके हैं। इस कवि ने प्रथम सर्ग में चौहानों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

यज्ञाय पुण्यं क्वचन प्रदेशं द्रष्टुं विधातुर्भ्रमतः किलादौ।
प्रपेतिवत् पुष्करमाशुपाणि-पद्मात्पराभूतमिवास्य भासा॥ १४॥
ततः शुभं स्थानमिदं विभाव्य प्रारब्धयज्ञो यमपास्तदैन्यः।
विशंक्य भीतिं दनुजव्रजेभ्यः स्मेरस्य सस्मार सहस्ररश्मेः॥ १५॥
अवातरन्मंडलतोथ भासां पत्युः पुमानुद्यतमंडलाग्रः।
तं चाभिषिच्याश्वदसीयरक्षा-विधौ व्यधादेष मखं सुखेन॥ १६॥
पपात यत् पुष्करमत्र पाणेः ख्यातं ततः पुष्करतीर्थमेतत्।
यज्ञायमागादथ चाहमानः पुमानतोऽख्यायि स चाहमानः॥ १७॥

आशय—ब्रह्माजी यज्ञ करने के लिये कोई पवित्र स्थान देखने को घूम रहे थे। उस अवसर पर उनके हाथ से कमल मानो उनके कमल रूपी कर की शोभा से पराभूत हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। फिर उस स्थान को, जहाँ कमल गिरा था, पवित्र मान ब्रह्माजी निश्चिंत हो यज्ञ करने लगे और दनुजों (असुरों) की ओर से भय की शंका कर उन्होंने सहस्ररश्मि (सूर्य्य) को याद किया। तत्काल एक अद्भुत कांति मुखवाला पुरुष सूर्य्यमंडल से उतर उनके समक्ष उपस्थित हुआ, जिस पर रक्षा का भार छोड़ ब्रह्माजी ने निर्भय यज्ञ किया। ब्रह्मा के हाथ से यहाँ पुष्कर (कमल) गिरा था, अतः यह स्थान उस दिन से पुष्कर तीर्थ कहलाने लगा।

रुद्रयामल ग्रंथ के अयोध्या-माहात्म्य के दूसरे अध्याय में सरयू के दर्शन को पुष्कर-स्नान से बढ़कर बताया है।

पुष्करे तु नरो गत्वा कार्त्तिक्यां कृत्तिका दिने ।
तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते ॥

दानचंद्रिका में दान करने का उत्तम स्थान पुष्कर कहा है। **व्रतराज** में पुष्कर में व्रत करने की प्रशंसा की है।

ऐसे ही **पंचरत्न, गजेंद्र-मोक्षादि** पुस्तकों में पुष्कर का उल्लेख मिलता है।

हमको जहाँ कहीं तीर्थों का वर्णन मिला है, वहाँ पुष्कर का उल्लेख भी अवश्य मिला है। ईसा की बारहवीं शताब्दी में चालुक्य-वंशी विक्रमादित्य के पुत्र विद्वद्वर्य भूलोकमल्ल सोमेश्वर (तीसरा) ने राजकुल की आवश्यकताओं का विशेष रूप से ध्यान रखते हुए **मानसोल्लास** अथवा **अभिलषितार्थचिंतामणि** नामक ८००० श्लोकों का, जो २० अध्यायवाली ५ विंशतियों में विभक्त है, एक बृहत् ग्रंथ ई० सन् ११२९ में लिखा जिसमें १०० भिन्न भिन्न विषयों का समावेश है। इस ग्रंथ का प्रथम खंड बड़ोदा से प्रकाशित हुआ है जिसकी अँगरेजी भूमिका में कुछ ऐसी पंक्तियाँ* लिखी हैं जिनका आशय है कि प्रथम विंशति में ग्रंथकर्त्ता ने राजा के गुणों का वर्णन करते हुए उसके लिये तीर्थ-स्नान एक परम आवश्यक कर्तव्य बतलाया है। तीर्थ-स्नानाध्याय में उसने बहुत से तीर्थों का—उदाहरणार्थ शुक्लतीर्थ, वंजरा, भीमारथी, वेण्या, कृष्णा की शाखाएँ इत्यादि जो वहाँ के निवासियों के परिचित समझे जा

---

*The first Vimsati, while dealing with the virtues of a king, makes the Tirthasnana an imperative necessity. In the Tirthasnanadhyaya the author mentions several Tirthas, namely, Suklatirtha, Vanjara, Bhimarathi, Venya, the tributaries of the Krisna, etc., such as may reasonably be known to local people. He does not, however, mention Puskara near Ajmer, which is one of the greatest Tirthas.

सकते हैं—वर्णन किया है, परंतु पुष्कर का, जो अजमेर के पास है और सबसे बड़े तीर्थों में से एक है, वर्णन नहीं किया।

चालुक्य सोमेश्वर ई० सन् ११२६ में सिंहासनासीन हुआ था। उस समय प्रतापी चौहाण अजयदेव या उसका पुत्र अर्णोराज इस प्रदेश पर राज्य करता था और पुष्कर तीर्थ पूर्ण प्रतिभा-संपन्न था। ऐसी स्थिति में मानसोल्लास के तीर्थ प्रकरण में पुष्कर के उल्लेख के न पाए जाने का कारण दक्षिण देशस्थ सोमेश्वर का इस देश से परिचय की न्यूनता अनुमान किया जा सकता है।

परंतु, नहीं; उक्त ग्रंथ के तीर्थाध्याय में वस्तुतः पुष्कर का उल्लेख विद्यमान है। देखो—

पुष्कराणि च पुण्यानि शुक्लतीर्थं सुखप्रदम्।
प्रभासप्रथितं तीर्थं केदारं क्लेशनाशनम्॥ १३०॥

विंशति १ अध्याय १८ श्लोक ५।

सोमेश्वर ने गंगादि पवित्र नदियों का वर्णन कर तीर्थों का वर्णन प्रारंभ करते ही "पुष्कराणि च पुण्यानि" लिखा। यही अजमेर के निकटवर्ती विख्यात (ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ) त्रिपुष्कर हैं। अतः ग्रंथ की भूमिका में जो पुष्कर का उल्लेख न होना बतलाया है, वह ठीक नहीं है।

पुष्कराष्टकम्

पुष्कर की स्तुति में निम्नलिखित पुष्कराष्टक भी प्रचलित है, परंतु वह कब और किसने बनाया, यह ज्ञात नहीं होता।

श्रिया युतं त्रिदेहतापपापराशिनाशकं
मुनींद्रसिद्धसाध्यदेवदानवैरभिष्टुतम्।
तटेऽस्ति यज्ञपर्वतस्य मुक्तिदं सुखाकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम्॥ १॥
सदार्यमासशुष्कपंचवासरे वरागतं
तदन्यथान्तरिक्षगं सुतंत्रभावनानुगम्।

'तदंबुपानमज्जनं दृशां सदामृताकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम् ॥ २ ॥

त्रिपुष्कर त्रिपुष्कर त्रिपुष्करेति संस्मरे-
त्सदूरदेशगोऽपि यस्तदंगपापनाशनम् ।
प्रपन्नदुःखभञ्जनं सुरञ्जनं सुधाकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम् ॥ ३ ॥

मृकण्डुमङ्कणौ पुलस्त्यकण्वपर्वतासिता
अगस्त्यभार्गवौ दधीचिनारदौ शुकादयः ।
सपद्मतीर्थपावनैकदृष्टयो दयाकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम् ॥ ४ ॥

सदा पितामहेक्षितं वराहविष्णुनेक्षितं
तथाऽमरेश्वरेक्षितं सुरासरैः समीक्षितम् ।
इहैव भुक्तिमुक्तिदं प्रजाकरं धनाकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम् ॥ ५ ॥

त्रिदण्डिदण्डिब्रह्मचारितापसैः सुसेवितं
पुरार्धचंद्रप्राप्तदेवनंदिकेश्वराभिधैः ।
सवैद्यनाथनीलकण्ठसेवितं सुधाकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम् ॥ ६ ॥

सुपश्चधा सरस्वती विराजते तदन्तरे
तथैकयोजनायतं विभाति तीर्थनायकम् ।
अनेकदैवपैत्रतीर्थसागरं रसाकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम् ॥ ७ ॥

यमादिसंयुतो नरस्त्रिपुष्करं निमज्जति
पितामहश्च माधवोऽप्युमाधवः प्रसन्नताम् ।
प्रयाति तत्पदं ददात्ययत्नतो गुणाकरं
नमामि ब्रह्मपुष्करं सवैष्णवं सशंकरम् ॥ ८ ॥

इदं हि पुष्कराष्टकं सुनीतिनीरजाश्रितं
स्थितं मदीयमानसे कदापि माऽपगच्छतु ।

त्रिसन्ध्यमापठंति ये त्रिपुष्कराष्टकं नराः
प्रदीप्तदेहभूषणा भवन्त्युमेशकिंकराः ॥ ६ ॥

तु.जुके जहाँगीरी और पुष्कर

सुप्रसिद्ध सम्राट् अकबर के पुत्र जहाँगीर ने अपनी दिनचर्य्या लिखी है जिसे "तु.जुके जहाँगीरी" कहते हैं। उससे ज्ञात होता है कि वह राज्यारूढ़ होने के ८ वर्ष पश्चात् अजमेर आया और वहाँ २७ अवर १०२२ से २१ अवर १०२५ तदनुसार १८-११-१६१३ से १०-११-१६१६ ई० तक अर्थात् तीन वर्ष रहा। इस समय में वह १५ बार पुष्कर आया। उसकी समझ में अवतारवाद नहीं आया था और इस बात को उसने स्वयं उक्त ग्रंथ में स्वीकार किया है। वराह की प्रतिमा के संबंध में जो उसने कुत्सित व्यवहार किया, उसका उल्लेख हम कर चुके हैं। यहाँ के संबंध की दूसरी घटना का जो उसने उल्लेख किया है, वह यह है कि उसने एक पहाड़ी पर सफेद स्थान देखा जहाँ बहुत से मनुष्य जा रहे थे। वहाँ एक जोगी रहता था जो लोगों के हाथों में कुछ * धर देता था जिसे वे अपने मुख में धर लेते और जानवर के शब्द की नकल करते। उसने उस स्थान और प्रतिमा को तुड़वा दिया और उस जोगी को वहाँ से बिदा करा दिया। उसने यह भी लिखा है कि यह जलाशय १½ कोस के घेरे में है। यहाँ के लोग इसमें अथाह जल बतलाते हैं, परंतु निश्चय करने पर ज्ञात हुआ कि १२ हाथ से अधिक जल इसमें कहीं नहीं है। उसने बृहस्पतिवार की रात को पुष्कर की तरफ शिकार करने आने और दो चीतों के मारने का भी उल्लेख किया है।

जहाँगीर ज्योतिषियों को मानता था; तुलादान, रक्षा-बंधन आदि कृत्य करता तथा साधु संन्यासियों से मिलता था। उसके एक कन्या मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुई थी। तब उसके पिता ने मूलशांति करवाई

* यहाँ ग्रंथ का पाठ स्पष्ट नहीं है। न जाने आटा है या थूक।

थी *। वृंदावन और उज्जैन की यात्रा के संबंध में उसने कोई विपरीत घटना का उल्लेख नहीं किया। हरद्वार में तो उसने स्वयं दान-पुण्य किया था। काँगड़े की ज्वालामुखी देवी उसने स्वयं हजारों मुसलमानों से पूजी जाती हुई देखी। अजमेर के ख्वाजा साहब के प्रति विशेष सत्कार बुद्धि होने से और महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र अमरसिंह जैसे आर्य-धर्म-धुरीण शत्रु के प्रति उद्यत होकर यहाँ आने से जहाँगीर के मन में संभव है, यहाँ के तीर्थ के प्रति मंद आदर रहा हो।

अजमेर से विदा होने के करीब दो वर्ष पूर्व उसने पुष्कर में अपने ठहरने के लिये दो इमारतें बनवाई थीं जो इस समय टूटे फूटे तिबारे मात्र हैं। दोनों स्थान लाल पत्थर के बने हुए हैं, परंतु इनका लाल पत्थर उतना अच्छा नहीं है जितना जहाँगीर की अन्यत्र बनवाई इमारतों का। इनमें से दक्षिणवाले तिबारे में उत्तर के द्वार के ऊपर संगमरमर पर फारसी में निम्नलिखित लेख विद्यमान है—

الله اکبر

شاہ نورالدین جہانگیر ابن اکبر بادشاہ
تا جہاں بادشاہ بہ تخت بادشاہی شاد باد
کرد فتح ملک رانا دردهم سال جلوس
هر زماں فتحی زغیبش با مبارک باد باد
شد بحکمش ایں همایوں قصر در پهکر تمام

---

* मूलनक्षत्रदोषेण युता जाता सुता यदा।
श्रीसलेम (जहाँगीर का अपर नाम) सुरत्राण मंदिरे सुतसुंदरे ॥३५८
ततः श्रीसाहिना शेखप्रमुखा विबुधा नराः।
तद्दोषस्य प्रतीकार कृते व्यापारिता ननु ॥ ३५९ ॥
समाहूय ततोऽमात्यं (कर्मचन्दं) साहिरेवं समादिशत्।
श्रीजैनदर्शने शांतिविधिर्योऽस्ति विधेहि तम् ॥ ३६० ॥
सम्मान्य साहिसंदिष्टं विशिष्टविधिनामुना।
कारितं शांतिकस्नानं स्वर्णरूप्यमयैर्घटैः ॥ ३६१ ॥
कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्।

قصر جاهش را فراز از آسماں بنیاد باد
سال تاریخش طلب کردم ندا آمد زغیب
پهکر ایں قصر جهانگیری مدام آباد باد
باهتمام انیرای سنگهدلن ۱۰۲۴

आशय—१—अकबर सम्राट् का पुत्र नूरुद्दीन जहाँगीर, जब तक सृष्टि है, तब तक प्रसन्नता-पूर्वक सिंहासनासीन रहे।

२—अपने राज्य के दशवें वर्ष में राणा का देश विजय किया; पुनः पुनः इसे सर्वदा उस अज्ञात-शक्ति की कृपा से शुभ विजय प्राप्त हों।

३—उसकी आज्ञा से पुष्कर में यह उत्तम भवन पूर्ण हुआ, इस (अर्थात् जहाँगीर) की प्रतिष्ठा रूपी प्रासाद का संस्थापन (नीव) आकाश जैसा ऊँचा हो।

४—मैंने इसकी निर्माण-तिथि का विचार किया तो आकाश-वाणी हुई कि पुष्कर में जहाँगीर का यह भवन सर्वदा बसा हुआ रहे।

अनिरायसिंह दलन* के प्रबंध से १०२४ (हिजरी)

---

* यह बड़गूजर राजपूत था। इसने शिकार में जहाँगीर के प्राण बचाए थे, तब से यह उसका परम प्रीति-पात्र हो गया था और इसने बहुत सम्मान पाया था। इसका असली नाम अनूपसिंह था। अनिराय (अनीक) सिंह दलन इसका खिताब था। शाहजहाँ के समय में इसे राजा की पदवी भी मिल गई थी।

एक प्राचीन मूर्ति

(६) एक प्राचीन मूर्ति

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०, काशी]

अयोध्या में सप्तसागर नाम का एक प्रशस्त स्थान है। इस समय तो वह एक लंबे चौड़े खेत के रूप में है, जिसमें खेती भी होती है; पर प्राचीन काल में वह एक विशाल सरोवर था जो शनैः शनैः भर गया है। अब भी उसके एक भाग में निचास और गहरापन विद्यमान है जिसमें बरसाती पानी भरकर कुछ दिनों के लिये उसको एक बड़ा ताल बना देता है। उसके विषय में यह कहा जाता है कि श्रीरामचंद्रजी के अभिषेक के निमित्त जब सातों समुद्रों का जल एकत्र किया गया था, तो बचा हुआ जल इसी सरोवर में डाल दिया गया था। इसी कारण इसका नाम सप्त-सागर पड़ गया है। जो हो, स्थान बड़ा रम्य और उज्ज्वल है।

उसके बीच में एक छोटा सा टीला है। इस टीले पर कुछ दिनों से श्रीकेशवाश्रम नाम के एक संन्यासी छप्पर डालकर रहते हैं। संन्यासीजी को जब जल का कष्ट होने लगा, तब उन्होंने उक्त टीले के पार्श्व में एक छोटा सा कूआँ खोदना विचारा और अपने हाथ ही से वे धीरे धीरे खोदने लगे। उनके दो एक चेले भी कभी कभी उनकी कुछ सहायता कर देते थे।

अनुमान १२ फुट की गहराई तक खोदने पर एक दिन उनको अपनी कुदाली के किसी कड़े पाषाण पर पड़ने का अनुभव हुआ। उन्होंने उसके निकालने का प्रयत्न किया, पर अपनी शक्ति से बाहर पाया। तब अपने कतिपय चेलों की सहायता लेकर बड़े परिश्रम से वे उसको निकाल सके। निकालने पर देखा तो वह कसौटी पाषाण की बनी हुई एक बड़ी सुंदर श्रीकृष्णचंद्र की मूर्ति है। इस मूर्ति के अवयव पुष्ट और ऊँचान, चौकी छोड़कर, तीन फुट चार इंच

है और चौड़ान दस इंच है। इसका कोई अंग खंडित नहीं है। केवल बाबाजी की कुदाल के आघात से एक पिंडली में छोटा सा गढ़ा पड़ गया है। मूर्ति वंशी बजाते हुए त्रिभंगी रूप में है। इसकी आँखें शंख की बनाकर जड़ी हैं। मूर्ति की काछनी पीले रंग से रँगी है। यह रंग कहीं कहीं फीका पड़ गया है। इसके रंग ढंग से प्रतीत होता है कि चार सौ वर्ष से पहले की बनी हुई है। अनुमान होता है कि जब बाबर ने अयोध्या में उपद्रव मचाया और जन्म-स्थान का मंदिर नष्ट किया, तब किसी श्रीकृष्ण-मंदिर के अधिष्ठाता ने अपने मंदिर की मूर्तियों को उसकी दुष्टता से बचाने के निमित्त उस स्थान पर, जो कि संभवतः उस समय सरोवर रहा होगा, फेंक दिया होगा। यह भी अनुमान हो सकता है कि यह जो वर्तमान टीला है, वह किसी समय सरोवर के बीच में रहा हो और उस पर कोई कृष्ण-मंदिर प्रतिष्ठित हो जो कभी भूकंप अथवा और किसी दुर्घटना से सरोवर में गिर पड़ा हो। मूर्ति के अखंडित होने के कारण यह अनुमान नहीं होता कि वह खंडित होने के कारण सप्तसागर में पधरा दी गई होगी। हाँ, यदि यह माना जाय कि उसकी जोड़ी किसी कारण से खंडित हो गई थी, और वह अकेली रह जाने के कारण सप्तसागर में विसर्जित कर दी गई, तो हो सकता है। पर यह अनुमान कुछ विशेष ग्राह्य नहीं है, क्योंकि ऐसी दशा में प्रायः बची हुई मूर्ति की दूसरी जोड़ी बनवाकर स्थापित कर दी जाती है।

जो हो, हमारी तो यह धारणा है कि यदि उस कूएँ के आस पास खुदवाया जाय तो श्रीराधिकाजी की एक मूर्ति भी अवश्य निकले और संभवतः और भी कई एक मूर्तियाँ तथा और और पुरानी वस्तुएँ प्राप्त हो सकें जो पुरातत्त्व-अनुसंधान में सहायता पहुँचा सकेंगी। प्रत्युत हम तो यह समझते हैं कि यदि सप्तसागर भर खुदवाया जाय तो उसमें से पुरातत्त्ववेत्ताओं के काम के अनेक पदार्थ निकलें; जैसे पुरानी मुद्रा, बर्तन, गहने और संभवतः शिला-लेखादि भी। हमको अपने अनुमान पर यहाँ तक भरोसा है कि हम अपने व्यय से

भी इस कार्य को थोड़ा बहुत करने पर तत्पर हैं, यदि गवर्मेंट की ओर से केवल इतनी सहायता मिले कि फैजाबाद के डिप्टी कमिश्नर साहब उस स्थान के स्वामियों को खोदने में बाधा न डालने दें। आशा है कि पुरातत्त्व-अनुसंधान-विभाग के उच्च अधिकारी लोग इस ओर कुछ ध्यान अवश्य देंगे।

उक्त मूर्ति का चित्र पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

---

(१०) कालिंग चक्रवर्त्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण

[लेखक—विद्यामहोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, पटना]

हिंदू-इतिहास का पुनरुद्धार आश्चर्यजनक है। गुप्त नृपेंद्रों का हाल कौन जानता था ? चंद्रगुप्त मौर्य की कीर्त्ति तो विशाखदत्त के समय तक और शुंग भारतेश्वरों का वृत्त कालिदास तक जीवित था, तदनंतर ग्रंथों द्वारा हम उनको आज भी जानते हैं। पर समुद्रगुप्त, कर्ण कलचुरि और खारवेल, जो चंद्रगुप्त मौर्य और नेपोलियन से कम नहीं थे, वरन् यह कहना चाहिए कि किसी किसी बात में उनसे बढ़कर थे, उनके नाम का निशान भी हमारी ग्रंथ-राशि में नहीं है। उनका इतिहास उनके समय के लिखे, समसामयिक लेख, पत्थर या ताम्र-पत्र पर अंकित, प्रशस्तियों और चरितों से आविर्भूत हुआ है। शिलालेखों और दानपत्रों से इतिहास-ज्ञान आविष्कृत करना पुराविदों की पुरानी प्रथा है। राजतरंगिणीकार कल्हण ने अपने कश्मीर-इतिहास की रचना में इस साधन से काम लिया था, ऐसा उन्होंने स्वयं लिखा है। पुराने हिंदू राजा और पंडित इस प्रथा को जानते थे, नहीं तो भूमिदान, कुंभदान आदि मामूली मौकों पर लंबे लंबे चरित और राजकाज के कार्यों के वर्णन क्यों खोदे जाते ? अथवा मंदिरों के शिखरों के नीचे और हड्डियों के साथ स्तूप के भीतर लेख निधीभूत निक्षिप्त क्यों किए जाते ? यह इतिहास के चिरायु करने की शैली थी। अशोक ने तो साफ लिख दिया है कि चिरायु करने, 'चिरस्थिति के लिये,' लेख पत्थरों पर खुदवा दिए।

ये शिलालेख आदि, वृत्त और चरित को प्रायः इतिहास-दृष्टि से निबद्ध करते थे; अर्थात् बीती बात या सांप्रत संक्षेप से, काव्य रूप से नहीं, तथ्य-निहित करते हुए वर्णित करते थे। डाकृर फ्लीट ने इसे देखकर कहा है कि शिलालेख और ताम्रलेखों को देखते हुए

पुराने हिंदुओं में इतिहास लिखने की क्षमता सिद्ध होती है। पौराणिक और काव्य-वर्णनों से इन लेखों की प्रथा बिलकुल भिन्न है। इनकी परंपरा और शैली दस्तावेजी है। पूरा नाम, धाम, वल्दियत, स्थान, मिति, संवत् देते हुए अपना करण कारण विदित करते हैं।

ऐसे लेखों में आज तक जितने लेख यहाँ पाए गए हैं, उनमें कलिंग के चक्रवर्ती राजा श्री खारवेल का लेख, जो "हाथीगुंफा-लेख" के नाम से ख्यात है, अग्रगण्य है। इससे पुराना, छोटे मौर्य लेखों को छोड़कर, सिर्फ महाराज अशोक की "धर्मलिपि" शिलालेख ही है। पर ऐतिहासिक घटनाओं और जीवनचरित को अंकित करनेवाला भारतवर्ष का यह सब से पहला शिलालेख है।

यह उड़ीसा (उत्कल) के भुवनेश्वर तीर्थ के पास खंडगिरि-उदयगिरि पर्वत पर एक चौड़ी गुफा के ऊपर खुदा हुआ है। पहाड़ में काट काटकर बहुतेरे मकान बरामदेदार—जैन मंदिर और जैन साधुओं के लिये मठ स्वरूप गुफा-गृह वहाँ प्राचीन काल के बने हुए हैं। एक ऐसा ही महल भी पहाड़ काटकर बना हुआ है। इनमें से कई एक मकानों पर विक्रम संवत् से २०० वर्ष पूर्व के लगभग के संस्कृत अक्षरों में, जिसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं, प्राकृत भाषा में लेख खुदे हुए हैं। इन सब को वहाँ 'गुंफा' अर्थात् गुफा कहते हैं। एक ऐसी दोमहला गुफा (वस्तुतः मकान) खारवेल की अग्र-महिषी का बनवाया हुआ है जिसे वे 'प्रासाद' कहते हैं। उसे महारानी ने कलिंग के सरमणों के लिये बनवाया था। लेख में महारानी के पिता का नाम है और पति श्री खारवेल को "कलिंग-चक्रवर्त्ती" कहा है। हाथी गुंफा लेख में जो इतिहास दिया हुआ है, उससे महाराज खारवेल ठीक ही चक्रवर्त्ती सिद्ध होते हैं। इसी लिये मैंने अँगरेजी में उन्हें Emperor लिखा है और पुराविद् डाक्टर विंसेंट स्मिथ ने इस वर्णन को मान लिया है।

हाथीगुंफा नाम आधुनिक है। यह गुहा कारीगरीवाली नहीं वरन् भद्दी है। मालूम होता है कि यह खारवेल के पहले

की थी और किसी कारण अधिक मान्य और प्रतिष्ठित थी, इसी से इस पर यह बहुत लंबा चौड़ा लेख लिखा गया। लेख कई अंशों में गलित हो गया है। कई पंक्तियों के आदि के कोई बारह अक्षर पत्थर के चप्पड़ के साथ उड़ गए हैं; और कई पंक्तियों में बीच बीच में अक्षर एक दम उड़ गए हैं और कहीं पानी से घिस गए हैं। कहीं कहीं अक्षर की कटानें बढ़ गई हैं और भ्रम उत्पन्न करनेवाले चिह्न जल-स्रोत तथा दूसरे कारणों से पैदा हो गए हैं। कहाँ तक छेनी की निशानी है और कहाँ काल-कृत भ्रम-जाल है—यही हल करना इस लेख का सामुद्रिक जानना है, उपनिषद् है या रहस्य है। काल पत्थर को भी खा जाता है, अवतारों की भी कीर्त्ति का लोप कर देता है। खारवेल के इतिहास का अंशतः लोप हो जाना कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य और आनंद यही है कि दो सहस्र वर्ष के बाद भी इसका किसी कदर अस्तित्व है, और यह कि भिड़ने पर सरस्वती के प्रसाद से बीजक कुछ बोल पड़ा, चुप्पी साधनेवाले काल-ब्रह्म कुछ कह पड़े।

इस लेख की खबर १०० वर्ष के ऊपर हुए; इतिहास-संशोधक को मालूम है। पर यह सन् १९१७ के पहले पूरा पूरा पढ़ा नहीं जा सका था। पादरी स्टर्लिंग ने इसकी चर्चा सन् १८२५ में की। प्रिंसेप ने, जिसने कि पहले पहल ब्राह्मी अक्षर एक सिक्के की मदद से, जिस पर ग्रीक (यूनानी) और ब्राह्मी दोनों अक्षरों में नाम छपा हुआ था, पढ़ा था, इस लेख का अंड बंड पाठ और अर्थ किया। बाद, डाकूर राजा राजेंद्रलाल ने सन् १८८० में दूसरा पाठ और अर्थ छापा जिसमें राजा का नाम तक ठीक न पढ़ा गया। जेनरल कनिंघम ने बड़े प्रयास से एक पाठ (सन् १८७७ में) तैयार किया, पर उसमें भी सफलता न हुई। सन् १८८५ में डाकूर पंडित भगवानलाल इंद्रजी ने प्रथम बार एक ऐसा पाठ प्रकाशित किया कि जिससे लेख के महत्त्व का थोड़ा पता चला। पर तब तक कोई छाप इस लेख की न छपी थी,

केवल आँख से देखकर अक्षरों की नकल की गई थी। समझा गया था कि कागज पीटकर इसकी छाप उतर ही नहीं सकती। लेख का बहुत अंश पढ़ा भी न जा सका था और जो पढ़ा गया था, उसमें भी भूलें थीं। मैंने १९१३ में अपने साहित्य-सखा मि० राखालदास बनर्जी द्वारा एक पंक्ति इसकी पढ़वाई और उसका जिक्र अपने राज्य-काल-निर्णय के एक लेख में किया। इसे देख प्रसिद्ध ऐतिहासिक विंसेंट स्मिथ ने अनुरोध किया कि पूरा लेख मैं छापूँ और पढ़ूँ। साथ ही उन्होंने बनर्जी साहब को भी लिखा। पटना आने पर और वहाँ अनुसंधान समिति कायम होने पर मैंने बिहार के लाट साहब सर एडवर्ड गेट से कहा कि यह छाप मँगवाई जाय। सर एडवर्ड के लिखने पर पुरातत्त्व विभाग से पंडित राखालदास बनर्जी, मेरे मित्र, खंडगिरि भेजे गए। इन्होंने अपने और मेरे शिष्य चि० डाक्टर कालिदास नाग की मदद से दो छापें बड़ी मेहनत से तैयार कीं। इनमें एक मेरे पास आई और दूसरी डाक्टर टामस (लंडन) के पास गई। कई महीने घोर श्रम, चिंता और मनन कर मैंने लेख का पाठ और अर्थ निकाल बिहार-उड़ीसा की रिसर्च सोसाइटी के जरनल (पत्रिका) में (१९१७ में) प्रकाशित किया। छाप के प्लेट चित्र भी छापे गए। इसके पहले छाप-चित्र कभी प्रकाशित न हुए थे। योरप के ऐतिहासिक पंडितों ने तथा प्रोफेसर लैनमन ने अमेरिका में और राय हीरालाल बहादुर ने भारतवर्ष में, शिलालेख के पाठ और व्याख्या की बहुत चर्चा कर मेरे प्रयास पर मानो मान की मुहर लगा दी। इसी के बीच, वर्ष के भीतर ही, स्वयं खंडगिरि जा मैंने अक्षर अक्षर लेख को शैल-गह्वर पर मचान से पढ़ अपने पाठ को दुहरा और संशोधित कर संस्कृत-छापे के साथ परिष्कृत पाठ बिहार-उड़ीसा के शोध-जरनल की चौथी जिल्द में फिर छापा (सन् १९१८)। पर जगह जगह पर संदेह रह ही गया। इसके मिटाने को गवर्मेंट से मैंने प्रार्थना की कि लेख का एक साँचा (cast) विलायती मिट्टी (Plaster of Paris) में

उतरवाकर पटने मँगाया जाय जिसमें आसानी से यहाँ काम हो सके। इस साँचे के आने के पहले यह विचार किया गया कि मेरे नए पाठों को पहाड़ पर जा कोई दूसरे लिपिज्ञ भी जाँच लें, क्योंकि छाप में बहुत से अक्षर नहीं आ सकते थे। इसलिये गवर्मेंट ने मेरे कहने पर श्रीयुत राखालदास बनर्जी को (जो भारत के सर्वश्रेष्ठ सरकारी लिपिज्ञों में थे) खंडगिरि जाने का हुक्म दिया और सन् १९१९ में हम दोनों वहाँ गए। दोनों ने मिलकर पाठ को दुहराया। इस बार मैंने खारवेल के समकालीन एक यवन (यूनानी) राजा का नामोल्लेख देखा। इस बीच उजली मिट्टी में साँचा भी बनकर आ गया था और नई कागजी छापें भी आ गई थीं। इनसे मिलाकर १९२४ में मैंने और श्रीयुत राखालदास बनर्जी ने फिर संशोधन किए और जहाँ जहाँ मतभेद था, उसे हल किया। इन मेहनतों का फल दूसरे कार्यों के आधिक्य के कारण प्रकाशित न हो सका। सन् १९२७ में उसे प्रकट करने के पहले साँचे और छाप से फिर मैंने दुहराया। दिसंबर १९२७ में नए पाठ का प्रकाशन बिहार की पत्रिका में किया गया। नए छाप-चित्र भी, जो यहाँ दिए जाते हैं, दिए गए। इस तरह १० वर्ष के बाद यह काम पूरा हुआ। पं० नाथूराम, श्री मुनि जिनविजयजी प्रभृति जैन पंडितों की राय हुई कि हिंदी में भी यह लेख और उसका भाष्य मैं छाप दूँ। कई विश्व-विद्यालयों में इस शिलालेख का मेरा पाठ शिलालेख पाठ्य-क्रम (कोर्स) में रख दिया गया है। जैन पंडितों की आज्ञा शिरोधार्य कर और छात्रों के लिये सुलभ करने के अभिप्राय से लेख को, हिंदी उल्था-सहित, सभा की पत्रिका में प्रकट करता हूँ। जैन तथा दूसरे विद्वान् मेरी भूलों को सुधारेंगे और मुझे सूचित करेंगे, यह भी मेरी आशा और प्रार्थना है। यह लेख बहुत कठिन है और पत्थर घिस जाने से, काल-कवलित-प्राय हो जाने से, कठिनाई बहुत बढ़ गई। जहाँ जो इसके पंडित हों, सब के साहाय्य का प्रार्थी हूँ कि जहाँ तक हो सके, तथ्य ढूँढ़ कर बाहर निकाला जाय।

शिलालेख का महत्त्व और उसकी मुख्य बातें

लेख का महत्त्व ऐसा है कि विंसेंट स्मिथ के भारतेतिहास के सांप्रत संस्करण में उसके संपादक ने लिखा है कि इस लेख के उद्-घाटन के कारण उस ग्रंथ का नया संस्करण करना पड़ा।

जैन धर्म का यह अब तक सब से प्राचीन लेख है। इससे ज्ञात होता है कि पटने के नंद के समय में उत्कल या कलिंग देश में जैन धर्म का प्रचार था और जिन की मूर्त्ति पूजी जाती थी। कलिंग-जिन नामक मूर्त्ति, नंद उड़ीसा से पटने उठा लाए थे। और जब खारवेल ने मगध पर चढ़ाई कर शताब्दियों बाद बदला चुकाया तब वे उस मूर्त्ति को वापस ले गए और साथ ही अंग-मगध बादशाही का बहुत सा धन कलिंग ढो ले गए।

मगध में कई नंद हुए हैं। एक नंद ने अपना संवत् चलाया था जिसे अलबेरूनी ने १०३० ई० के लगभग मथुरा में चलन में पाया। और एक शिलालेख में चालुक्य विक्रमादित्य छठें ने भी १०७० ई० में इस नंद-संवत् का चलन बतलाया है। नंद-संवत विक्रम संवत् में ४०० जोड़ देने से निकल आता था, यह गणना अलबेरूनी ने दी है, अर्थात् वह विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व चला था। यह समय नंदवर्धन का है जो पहला नंद हुआ और महापद्म महा-नंद आदि के पहले हुआ। नंद-संवत् का इस शिलालेख में उल्लेख है। उस संवत् के एक सौ तीसरे वर्ष में एक नहर खोदी गई थी। इस नहर को बढ़ाकर खारवेल कलिंग की राजधानी में ले आए। नंदराज संवत्-कार ही खारवेल-लेखांकित नंदराज हैं यह स्पष्ट है, क्योंकि दो स्थानों पर इनका जिक्र है—एक संवत् के साथ और दूसरे मूर्त्ति मगध उठा लाने के बारे में। समझ पड़ता है कि वे जैन थे, क्योंकि जिन मूर्त्ति अपने यहाँ ले आए थे। ई० सन् के ४५८ वर्ष पहले और विक्रमाब्द से ४०० वर्ष पूर्व जैन धर्म का इतना प्रचार उड़ीसा में था कि मूर्त्तियाँ भगवान् महावीर के निर्वाण के कोई ७५ ही वर्ष बाद वहाँ प्रचलित हो गईं। जैन सूत्रों में लिखा हुआ

है कि हमारे भगवान् श्री महावीरजी स्वयं उड़ीसा गए थे और वहाँ उनके पिता के एक मित्र राज्य कर रहे थे। इस लेख में लिखा है कि कुमारी पर्वत पर अर्थात् खंडगिरि पर, जहाँ यह लेख है, धर्म विजय-चक्र फिरा था अर्थात् जैन धर्म का उपदेश श्रीमहावीर भगवान् ने स्वयं किया था अथवा उनके पूर्व के किसी जिन तीर्थंकर ने उपदेश किया था। वहाँ पहाड़ पर एक काय-निषीदी अर्थात् जैन स्तूप था जिसमें किसी अर्हत् की हड्डी गड़ी हुई थी। इस पर्वत पर अनेक गुफाएँ और मंदिर, जिन पर पार्श्वनाथ के चिह्न और पादुका हैं, ब्राह्मी अक्षरों के लेखयुक्त खुदे हुए खारवेल या उसके पहले के समय के हैं। जैन साधु वहाँ रहा करते थे, इसका उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि यह स्थान एक जैन-तीर्थ और बहुत पुराना है। मराठों के राज्य-काल में भी जैनों ने यहाँ एक नया मंदिर बनाया था। यात्रियों के चढ़ाए हुए बहुत से छोटे छोटे स्तूप या चैत्य यहाँ एक स्थान पर हैं जिसे देव-सभा कहते हैं।

खारवेल ने मगध पर दो बार चढ़ाई की थी। एक बार गोरथ गिरि का गिरिदुर्ग, जो अब 'बराबर' पहाड़ कहलाता है, लिया, और राज-गृह पर हमला कर उसे उन्होंने घेर रखा। इसी समय यवन राजा डिमित (Demitrios) पटने या गया की ओर चढ़ा जा रहा था। खारवेल की वीर-कथा सुन उसने पैर पीछे किए और मथुरा भी छोड़कर भागा। दूसरी बार बृहस्पति मित्र मगधराज को अपने पैरों गिरवाया। इस बार यह पाटलिपुत्र के सुगांगेय महल ही पर अपने हाथियों समेत पहुँच गए थे।

यवन-राज की चढ़ाई की चर्चा पतंजलि व्याकरण भाष्यकार ने भी की है—"अरुणद् यवनः साकेतं" और गार्गीसंहिता में लिखा है कि दुष्ट विक्रांत यवन मथुरा साकेत लेता हुआ पटने (कुसुमध्वज) की ओर चलेगा जिससे सब थर्रा उठेंगे। इस शिलालेख से जान पड़ा कि यह यवन-राज डिमिट्रियस् था जो यूनानी इतिहासकारों के लेखानुसार हिंदुस्तान छोड़ बल्ख (बैक्ट्रिया) वापस चला गया था। यह

घटना ईसवी सन् के १७५ पूर्व वर्ष की है। यही समय पतंजलि का भी है। इस समय मगध के राजा और पतंजलि के यजमान पुष्यमित्र थे ("पुष्यमित्रं यजामहे")। पुष्यमित्र के बाद उनके लड़के अग्निमित्र भारत के सम्राट् हुए जिन्हें अमरकोष की एक टीका में चक्रवर्ती लिखा है। अग्निमित्र के सिक्के की तरह ठीक उसी कोटि और रूप का सिक्का **बहसतिमित्र** का मिलता है। बहसतिमित्र के सिक्के अग्निमित्र के सिक्कों से पहले के माने जाते हैं। बहसतिमित्र की रिश्तेदारी अहिछत्र के राजाओं से थी जो ब्राह्मण थे, यह कोसम-पभोसा के शिलालेख से साबित है। मैंने पुष्यमित्र (जो शुंग वंश के ब्राह्मण थे) और बृहस्पतिमित्र का एक होना बतलाया है। पुष्य नक्षत्र का बृहस्पति मालिक है। इस एकता को योरप के नामी ऐतिहासिकों ने मान लिया है।

बृहस्पतिमित्र मगध का राजा था, यह निश्चित हो गया। इस नाम को पंडित भगवान्लाल इंद्रजी आदि ने **बहुपति सासिन** पढ़ा था। यह भी एक नाम है, इसका पता उन्हें नहीं लग सका था।

जैन ग्रंथों में लिखा है कि मौर्य चंद्रगुप्त के समय में जैन साधुओं और पंडितों की सभा हुई और जो जैन आगम (अंग) खो गए थे, वे फिर से बनाए गए। पर इस उद्धार को बहुत से जैनों ने स्वीकृत नहीं किया। इस लेख में लिखा है कि मौर्य-काल में उच्छिन्न हुए अंग-सप्तिक के चौथे भाग का खारवेल ने पुनरुद्धार कराया।

जैनों का तपस्या करना भी इस लेख से सिद्ध है। जीव-देह के जैन विज्ञान का भी इसमें उल्लेख है।

खारवेल चेदि वंश में हुए। कलिंग का पूर्व राजवंश उच्छिन्न हो गया था; क्योंकि अशोक ने कलिंग जीत वहाँ अपने एक लाट वाइसराय (उपराज, कुमार) को मुकर्रर किया था। पर बृहस्पतिमित्र के समय के कुछ पहले वहाँ एक नया राजवंश, जिसकी तीसरी पीढ़ी में जवान और बहादुर खारवेलजी थे, कायम हो गया था। चेदि वंश का उल्लेख वेद में आता है। ये बरार (विदर्भ) में रहते थे। वहीं से छत्तीस-

गढ़ महाकोशल होते हुए कलिंग पहुँच गए थे। खारवेल के समय में सातकर्णि महाराज पश्चिम में थे। शिलालेखों में इनके वंश का नाम सातवाहन है जिसे प्राकृत और संस्कृत ग्रंथों में शालवाहन कहते हैं। सातवाहनों के प्रथम शिलालेख ईसवी सन् से २०० वर्ष पूर्व के अक्षरों में अंकित नानाघाट (नासिक प्रदेश) में मिलते हैं।

खारवेल एक वर्ष विजय के लिये निकलते थे और दूसरे वर्ष घर पर रहते, महल आदि बनवाते, दान देते तथा प्रजा-हित के काम करते। दूसरी चढ़ाई की सफलता के बाद इन्होंने राजसूय किया, साल का कर माफ कर दिया और नए हक (अनुग्रह) प्रजा को दिए। बड़ी तेजी से चढ़ाई करते थे। सारे भारतवर्ष में, उत्तरापथ से लेकर पांड्य देश तक इनकी विजय-वैजयंती उड़ गई। इनकी स्त्री ने ठीक ही इन्हें चक्रवर्त्ती कहा। कलिंग का यह वैसा ही दम भरते थे जैसा आजकल कुछ प्रांतवाले अपने प्रांत का। इनकी रानी ने "कलिंग के साधुओं" के लिये प्रासाद खुदवाया, अपने पति को "कालिंग चक्रवर्त्ती" कहा, अपनी जिनमूर्त्ति को इन्होंने "कालिंग-जिन" कहकर उसका उल्लेख किया है।

अचरज की बात है कि जैन ग्रंथों में चेदिराज खारवेल का जिक्र तक नहीं है। पुराणों में जहाँ कोशल के "मेघ" उपाधि-धारी राजाओं का वर्णन है वह शायद इन्हीं "महामेघवाहन" उपाधि-वाले खारवेल वंशियों का जिक्र है।

खारवेल-अंकित कलिंग की मरदुम शुमारी

हिंदुओं के राज्य में मनुष्यगणना होती थी जो आजकल की कच्ची-पक्की मरदुम शुमारी से बहुत अच्छी थी। हर थाने अर्थात् ग्रामों के केंद्र और सदर में रजिस्टर, जिसे 'चरित्र' और 'पुस्त' कहते थे, रक्खे रहते थे, पैदाइशी और फौती इंदराज करते हुए आबादी का जोड़ हमेशा तैयार रहता था। यह पल्टन बटोरने तथा कर-विभाग के लिये चलता रक्खा जाता था। इसमें प्रजा के गोधन, भूमि आदि का भी ब्योरा रहता था। यह सब विवरण कौटिलीय

अर्थशास्त्र से मिलता है। यवन एल्ची, मेगास्थिनीज, ने भी लिखा है कि प्रजा के जन्म-मरण का लेखा मौर्य राज्य में तैयार रहता है। इन बातों को न जानते हुए पंडित भगवान्लाल इंद्रजी ने लिखा कि मरदुम शुमारी तो हिंदुस्तान में थी ही नहीं; और खारवेल की प्रजा (प्रकृति) की गिनती, जो राजा के प्रथम राज्यवर्ष के अहवाल में दी हुई है, वे न पकड़ सके। कलिंग उड़ीसा से बड़ा था, अंध्र देश (तैल नदी) तक पहुँचता था। कालिंग प्रजा खारवेल के प्रथम वर्ष में ३५ लाख थी।

एक साधन हमारे पास है जिससे इस गणना को हम जाँच सकते हैं। कोई ७५ या १०० वर्ष पहले, अशोक ने जब कलिंग फतह किया, उस समय एक लाख बंदी और १$\frac{१}{२}$ लाख घायल और खेत रहे सिपाही कलिंग पल्टन के गिने गए। यह अशोक के शिला-लेख में लिखा है। इस से कलिंग की आबादी का हिसाब जोड़ा जा सकता है। जरमन युद्ध-शास्त्रकारों ने हिसाब दिया है (जिसका प्रमाण मैंने अपने अँगरेजी लेख (१९१७) में दिया है) कि आबादी में सैकड़े पीछे १५ मनुष्य देश पर चढ़ाई होने पर, उसकी रक्षा में, लड़ सकते हैं। इस तरह अशोक के समय में कोई ३८ लाख की आबादी कलिंग में होनी चाहिए। इस हिसाब से खार-वेल के राज्य की आबादी ३५ लाख ठीक जान पड़ती है।

लेख-मान

लेख १५ फुट से ऊपर, लंबाई में, और ५ फुट से ऊपर, चौड़ाई में है। कई आदमियों की लेखनियों से खुदाई के लिये लिखा गया है। कई प्रकार के अक्षर हैं।

लेख-भाषा

भाषा पाली से एक दम मिलती है, और इसके प्रयोगी जातक तथा बौद्ध पिटक से मिलते हैं। शब्दविन्यास रचयिता की काव्य-कुशलता प्रकट करता है। शब्द तुले हुए हैं। शैली संक्षिप्तता में सूत्र की स्पर्धा करती है।

वैदिक बातें आदि

खारवेल का महाराज्याभिषेक हुआ था। महाराज्याभिषेक वैदिक कर्म है। बृहस्पतिसूत्र में लिखा है कि २४ वर्ष के बाद राज्याभिषेक होना चाहिए। यही इस लेख से भी सिद्ध होता है। जैन होने से राजा ने अश्वमेध न करके राजसूय कर अपना सार्वभौम पद सिद्ध किया। लेख में चेदि वंश को राजर्षि-कुल विनिःसृत कहा है। ब्राह्मणों को अग्निकुंडों से सुसज्जित मकानों का राजा द्वारा देना अंकित है। कल्पवृक्ष के दान में (जिसे खारवेल ने किया) सोने के वृक्ष बना दिए जाते थे; और यह महादान कहलाता था, ऐसा हेमाद्रि ने चतुर्वर्ग-चिंतामणि (दान-खंड) में लिखा है।

राजा वेन और वर्धमान

खारवेल की तुलना वेन से की गई है। यह तुलना अभिविजय के विषय में है। वेन पृथ्वी भर के राजा थे। उन्होंने कानून भी अच्छे बनाए, यह मनुस्मृति में लिखा हुआ है। पर उन्होंने जाति-पाँति उठा दी, इससे ब्राह्मण चिढ़ गए। पद्मपुराण में तो उन्हें जैन ही लिखा है। वेन की कीर्त्ति जैनों में, जान पड़ता है, अच्छी रही।

तीर्थंकर महावीर का गृहस्थाश्रमवाला नाम वर्धमान था। जैन पुस्तकों में लिखा हुआ है कि पैदाइश से अभिवृद्धि होने लगी, इसी से वर्धमान नाम पड़ा (अभिधान राजेंद्र)। खारवेल-प्रशस्ति में जो '**वर्धमान-सेसयो वेनाभिविजयो**' है, उसमें **वर्धमान** श्लेषात्मक जान पड़ता है। "जो बचपन (शैशव) से वर्धमान है (या हुआ) और अभिविजय में वेन है (या हुआ)"। श्रीमहावीर स्वामी का वर्धमान नाम सम-सामयिक होना इस से ध्वनित होता है। मालूम रहे कि कोई जैन ग्रंथ इतना पुराना नहीं है, जितना कि यह लेख है।

शिलालेख के सब विषय मैं अँगरेजी में कई बार लिख चुका हूँ। सब को यहाँ लिखने से इस पत्रिका का पूरा अंक भर जायगा या उससे भी अधिक हो जायगा। इस से यहाँ संक्षेप में कुछ कहा गया है। भूलचूक पंडित जन क्षमा करेंगे। शुभं भूयात्।

श्री-खारवेल-प्रशस्ति

संकेत—मूल लेख में मुख्य शब्दों के पहले जगह छुटी हुई है। ऐसे शब्दों को स्थूल अक्षरों में यहाँ छापा जा रहा है। विराम के लिये भी स्थान छूटा है। वह खड़ी पाई से दिखलाया गया है। गलित-प्राय अक्षर कोष्टबद्ध कर दिए गए हैं। उड़ गए हुए अक्षर बिंदियों से सूचित किए गए है।

प्राकृत मूल-पाठ। **संस्कृतच्छाया।**

(पंक्ति १)

नमो अराहंतानं [।] नमो सवसिधानं [।] **ऐरेन** महाराजेन **माहामेघवाहनेन चेति-राज**वसवधनेन पसथ-सुभलखनेन चतुरंतलुठितगुनोपहितेन कलिंगाधिपतिना **सिरि खारवेलेन**

नमोऽर्हद्भ्यः [।] नमः सर्वसिद्धेभ्यः [।] **ऐलेन** महाराजेन **महामेघवाहनेन चेदिराज**वंशवर्धनेन प्रशस्तशुभलक्षणेन चतुरन्त-लुठितगुणोपहितेन कलिङ्गाधिपतिना **श्री खारवेलेन**

(पंक्ति २)

पंदरसवसानि सिरि-कडार-सरीर-वता कीडिता कुमारकीडिका [।] ततो लेखरूपगणना-ववहार-विधि-विसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवरजं पसासितं [।] संपुण-चतु-वीसति-वसो तदानि वधमान-सेसयो वेनाभिविजयो ततिये

पञ्चदशवर्षाणि श्रीकडारशरीरवता क्रीडिताः कुमारक्रीडाः [।] ततो लेख्यरूपगणनाव्यवहारविधिविशारदेन सर्वविद्यावदातेन नववर्षाणि यौवराज्यं प्रशासितम् [।] सम्पूर्णचतुर्विंशतिवर्षस्तदानीं वर्धमानशैशवो वेनाभिविजयस्तृतीये

(पंक्ति ३)

कलिंगराजवंस - पुरिसयुगे **माहारजा**भिसेचनं पापुनाति [।] अभिसितमतो च पधमे वसे

कलिङ्गराजवंश - पुरुष - युगे **माहाराज्या**भिषेचनं प्राप्नोति [।] अभिषिक्तमात्रश्च प्रथमे वर्षे

प्राकृत मूल-पाठ ।

वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति [।] कलिंगनगरि-[ि] खबीर-इसि-ताल-तडाग-पाडियो च बंधापयति [।] सवुयान-पटिसंठपनं च

(पंक्ति ४)

कारयति [।।] पनतीसाहि सतस**हसेहि पकतियो** च रंजयति [।] दुतिये च वसे अचितयिता सातकंणिं पछिमदिसं हय-गज-नर-रध-बहुलं दंडं पठापयति [।] कन्हवेंनां गताय च सेनाय वितासितं मुसिकनगरं [।] ततिये पुन वसे

(पंक्ति ५)

गंधव-वेदबुधो दंप-नत-गीत-वादित संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं

संस्कृतच्छाया ।

वातविहतं गोपुर-प्राकार-निवेशनं प्रतिसंस्कारयति [।] कलिङ्गनगर्याम् खिबीरर्षि* - तल्ल-तडाग-पालीश्च बन्धयति [।] सर्वोद्यानप्रतिसंस्थापनञ्च

कारयति [।।] पञ्चत्रिंशद्भिः शतसहस्रैः† **प्रकृतीश्च** रञ्जयति [।] द्वितीये च वर्षे अचिन्तयित्वा सातकर्णिं पश्चिमदेशं‡ हय-गज-नर-रथ-बहुलं दण्डं प्रस्थापयति [।] कृष्णवेर्णां गतया च सेनया वित्रासितं मूषिकनगरम् [।] तृतीये पुनर्वर्षे

गान्धर्ववेदबुधो दम्प§-नृत्त-गीतवादित्र-सन्दर्शनैरुत्सव-समाज-कारणैश्च क्रीडयति नगरीम् [।]

* ऋषि-खिबीरस्य तल्ल-तडागस्य

† पञ्चत्रिंशच्छत-सहस्रैः प्रकृतीः परिच्छिद्य परिगणय्य इत्येतदर्थे तृतीया।

‡ दिक्शब्दः पालीप्राकृते विदेशार्थोऽपि ।

§ दम्प = डफ इति भाषायां ?

प्राकृत मूल-पाठ ।

[।] तथा चवुथे वसे विजाधराधि-
वासं अहत-पुवं कालिंगपुवराज-
निवेसितं......... वितध-मकुट-
सबिलमढिते च निखित-छत-

संस्कृतच्छाया ।

तथा चतुर्थे वर्षे विद्याधराधिवासम्
अहतपूर्वं कालिङ्ग-पूर्वराजनिवेशितं
.........वितथ-मकुटान् सार्धि-
तबिल्मांश्च निक्षिप्त-छत्र-

(पंक्ति ६)

-भिंगारे हित-रतन-सापतेये सव-
रठिक **भोजके** पादे वंदाप-
यति [।] पंचमे च दानी वसे **नंद-
राज**-ति-वस-सत-ओघाटितं तन-
सुलिय-वाटा पनाडिं नगरं पवेस
[य]ति[।]सो........भिसितो
च राजसुय [ं] संदस-यंतो सव-
कर-वणं

भृङ्गारान् हत - रत्न - स्वापतेयान्
सर्वराष्ट्रिक **भोजकान्** पादाव-
भिवादयते [।] पञ्चमे चेदानीं वर्षे
नन्दराजस्य त्रि-शत-वर्षे अवघ-
ट्टितां तनसुलियवाटात् प्रणालीं
नगरं प्रवेशयति [।] सो(ऽपि च
वर्षे षष्ठे)ऽभिषिक्तश्च राजसूयं
सन्दर्शयन् सर्व-कर-पणम्

(पंक्ति ७)

अनुगह-अनेकानि सतसहसानि
विसजति पोरं जानपदं [।]
सतमं च वसं पसासतो वजिरघर-
व[ँ]ति-घुसित-घरिनीस [-मतुक-
पद]-पुंना [ति? कुमार] ...
..................[।] अठमे
च वसे महता सेना.......-गो-
रधगिरिं

अनुग्रहाननेकान् शतसहस्रं विसृ-
जति पौराय जानपदाय [।]
सप्तमं च वर्षं प्रशासतो वज्रगृहवती
घुषिता गृहिणी [सन्-मातृकपदं
प्राप्नोति ?] [कुमारं].........
..............[।] अष्टमे
च वर्षे महता* सेना........गो-
रथ-गिरिं

---

* महता = महात्मा ?। सेनाग्र समस्यन्तपदस्य विशेषणं वा।

प्राकृत मूल-पाठ ।	संस्कृतच्छाया ।
(पंक्ति ८)	
घातापयिता **राजगहं** उपपीडापयति [।] एतिनं च कंमापदान-संनादेन संवित-सेन-वाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित.................. [मो ?] यछति [वि]......... पलव . .	घातयित्वा **राजगृह**मुपपीडयति [।] एतेषां च कर्मावदान-संनादेन संवीतसैन्य-वाहनो विप्रमोक्तुं मथुरामपयातो यवनराजः डिमित ....[मो ?]† यच्छति [वि]............... पल्लव . .
(पंक्ति ९)	
कपरुखे हय-गज-रध-सह-यंते सवघरावास-परिवसने स-अगिणठिया [।] सव-गहनं च कारयितुं बम्हणानं जातिं परिहारं ददाति [।] अरहतो............व... ...न....गिय	कल्पवृक्षान् हयगजरथान् सयन्तॄन् सर्वगृहावास-परिवसनानि साग्निष्ठिकानि [।] सर्वग्रहणं च कारयितुं ब्राह्मणानां जातिं परिहारं ददाति [।] अर्हतः...... ......व... ... . न..... गिया (?)
(पंक्ति १०)	
...[क] . f . मान [ति]* रा[ज]-संनिवासं महाविजयं पासादं कारयति अठतिसाय सतसहसेहि [।] दसमे च वसे दंड-	...[क] . f . मानति (?) राजसन्निवासं महाविजयं प्रासादं कारयति अष्टात्रिंशता शतसहस्रैः[।]दशमे च वर्षे दण्ड-

* 'मानवि' भी पढ़ा जा सकता है।

† नवमे वर्षे इत्येतस्य मूलपाठो नष्टोन्तार्हताक्षरेषु ।

प्राकृत मूल-पाठ।	संस्कृतच्छाया।
संधी-साम-मयो भरध-वस-पठानं महि-जयनं...ति कारापयति... ....[निरितय] उया-तानं च मनि-रतना[नि] उपल-भते [।]	सन्धि-साममयो भारतवर्ष-प्रस्थानं मही-जयनं...ति कारयति...... ......[निरित्या ?] उद्यातानां च मणिरत्नानि उपलभते [।]
(पंक्ति ११)	
............मंडं च अव-राजनिवेसितं पीथुड-गदभ-नंगलेन कासयति [ ]जनस दंभावनं च तेरसवस-सतिक [ं] तु भिदति तमरदेह-संघातं [।] वारसमे च वसे ...हस...के .ज. सवसेहि वितासयति उतरापथ-राजानो......	......*.....मण्डं च अप-राजनिवेशितं पृथुल-गर्दभ-लाङ्गलेन कर्षयति जिनस्य दम्भापनं त्रयोदश-वर्ष-शतिकं तु भिनत्ति तामर-देह-संघातम् [।] द्वादशे च वर्षे... ....भिः वित्रासयति उत्तरापथराजान्
(पंक्ति १२)	
............मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथी सुगंगीय[ं] पाययति [।] मागधं च राजानं **वहसतिमितं** पादे वंदापयति [।] **नंदराज**-नीतं च कालिंग-जिनं संनिवेसं........गह-रतनान पडिहारेहि अंगमागध-वसुं च नेयाति [।]	............मगधानाञ्च विपुलम्भयं जनयन् हस्तिनः सुगाङ्गेयं प्राययति [।] मागधञ्च राजानं **बृहस्पतिमित्रं** पादावभिवादयते [।] **नन्दराज**नीतञ्च कालिङ्ग-जिन-सन्निवेशं ... .गृहर-त्नानां प्रतिहारैराङ्ग-मागध-वसूनि च नाययति [।]

* एकादशे वर्षे इत्येतस्य मूल-पाठो नष्टो गलितशिलायाम्।

प्राकृत मूल-पाठ ।

(पंक्ति १३)

...........तु [ं] जठर-लिखिल-बरानि सिहरानि नीवेसयति सत-वेसिकनं परिहारेन [।] अभुतमछरियं च हथि-नावन परीपुरं सव-देन हय-हथी-रतना-[मा]निकं **पंडराजा** चेदानि अनेकानि मुतमणिरतनानि अहरापयति इध सतो

(पंक्ति १४)

...........सिनो वसीकरोति [।] तेरसमे च वसे सुपवत-विजय-चक-कुमारीपवते अरहिते[य ?]* प-खीण-संसितेहि कायनिसीदीयाय याप-ञावकेहि राजभितिनि चिनवतानि वसासितानि [।] पूजाय रत-उवास-खारवेल-सिरिना जीवदेह-सिरिका परिखिता [।]

(पंक्ति १५)

......[सु]कति-समणसुविहिताणं (नुं?) च सत-दिसानं(नुं?) ञानिनं तपसि-इसिनं संघियनं

* पंक्ति के नीचे 'य' ऐसा एक अक्षर मालूम होता है ।

संस्कृतच्छाया ।

... .तु ं जठरोल्लिखितानि वराणि शिखराणि निवेशयति शत-वैशिकानां परिहारेण [।] अद्भुतमाश्चर्यञ्च हस्तिनावां पारिपूरम् सर्वदेयं हय-हस्ति-रत्न-माणिक्यं **पाण्ड्यराजात्** चेदानीमनेकानि मुक्तामणिरत्नानि आहारयति इह शक्तः [।]

...........सिनो वशीकरोति [।] त्रयोदशे च वर्षे सुप्रवृत्त-विजय-चक्रे कुमारी-पर्वतेऽर्हिते प्रक्षीण-*संसृतिभ्यः कायिकनिषीद्यां यापज्ञापकेभ्यः राज-भृतीश्चीर्णव्रताः[एव ?]शासिताः[।]पूजायां रतोपासेन खारवेलेन श्रीमता जीवदेह-श्रीकता परीक्षिता [।]

... .सुकृति-श्रमणानां सुविहितानां शतदिशानां तपस्विऋषीणां सङ्घिनां [।]

* यप-क्षीण इति वा ।

प्राकृत मूल-पाठ।	**संस्कृतच्छाया।**
(तुं ?) [;] अरहत-निसीदिया समीपे पभारे वराकर-समुथपिताहि अनेक-योजनाहिताहि प. सि. ओ......सिलाहि सिंहपथ-रानिसि [ं]धुडाय निसयानि	अर्हन्निषीद्याः समीपे प्राग्भारे वराकरसमुत्थापिताभिरनेकयोजनाहृताभिः..........शिलाभिः सिंहप्रस्थीयायै राज्ञ्यै सिन्धुडायै निःश्रयाणि

(पंक्ति १६)

प्राकृत मूल-पाठ	संस्कृतच्छाया
...............घंटालक्तो† चतरे च वेडूरियगभे थंभे पतिठापयति [,] पान-तरिया सत-सहसेहि [।] **मुरिय**-काल-वोछिंनं च चोयठि-अंग-सतिकं तुरियं उपादयति [।] खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा धमराजा पसंतो सुनंतो अनुभवंतो कलाणानि	.........घण्टालक्तः [?], चतुरश्च च वैदूर्य्यगर्भान् स्तम्भान् प्रतिष्ठापयति [,] पञ्चसप्तशतसहस्रैः [।] **मौर्य**काल-व्यवच्छिन्नञ्च चतुःषष्टिकाङ्गसप्तिकं तुरीयमुत्पादयति [।] क्षेमराजः स वर्द्धराजः स भिक्षुराजो धर्मराजः पश्यन् शृण्वन्ननुभवन् कल्याणानि

(पंक्ति १७)

प्राकृत मूल-पाठ	संस्कृतच्छाया
.......गुण-विसेस-कुसलो सव-पासंड-पूजको सव-देवायतन-संकारकारको [अ]पति-हत-चकि-वाहिनिबलो चकधुरो गुतचको पवत-चको राजसि-वस-कुल-विनि-श्रितो महा-विजयो राजा **खारवेल-सिरि**	.........गुण-विशेष-कुशलः सर्व-पाषण्डपूजकः सर्व-देवायतन-संस्कारकारकः [अ]प्रतिहत-चक्रि-वाहिनी-बलः चक्रधुरोगुप्तचक्रः प्रवृत्त-चक्रो राजर्षिवंश-कुल-विनिःसृतो महाविजयो राजा **क्षारवेलश्रीः**

† अथवा-घंटालीण्ह

भाषानुवाद

(१) अरहंतों को नमस्कार। सिद्धों को नमस्कार। ऐर (ऐल) महाराज, महामेघवाहन (महेंद्र), चेदिराज-वंश-वर्धन, प्रशस्त शुभ-लक्षणवाले, चतुरंत पहुँचे हुए गुणोंवाले, कलिंगाधिपति श्रीखारवेल ने

(२) पंद्रह वर्ष तक श्रीकडार (गौर वर्णवाले) शरीर से लड़कपन के खेल (क्रीड़ाएँ) खेले। तिसके बाद, लेख्य (सरकारी हुक्मनामे*), रूप (टकसाल†), गणना (सरकारी हिसाब किताब, आय व्यय‡) कानून (व्यवहार) और धर्म (विधि) (शास्त्रों) में विशारद होकर, सर्व-विद्यावदात (सब विद्याओं से परिशुद्ध), [उन्होंने,] युवराज-पद पर नौ वर्ष तक शासन किया। तब चौबीस वर्ष पूरे हो चुकने पर [आप] जो बचपन ही से वर्धमान हैं, जो अभिविजय में वेन (राज) हैं, तीसरे

(३) पुरुष-युग में (तीसरी पीढ़ी में) कलिंग के राजवंश में, महाराज्याभिषेक को प्राप्त हुए। अभिषेक होते ही, प्रथम (राज्य) वर्ष में, तूफान से गिरे हुए (राजधानी के) फाटक और शहरपनाह की इमारतों की मरम्मत कराई, कलिंग नगरी (राजधानी) में ऋषि खिबीर के ताल-तडाग बाँध बँधवाए, सब बागों की मरम्मत

(४) कराई। पैंतीस लाख प्रकृति (रिआया) का रंजन किया। दूसरे वर्ष में, सातकर्णि (राजा) की कुछ परवाह (चिंता) न करते हुए पश्चिम दिशा (पर चढ़ाई करते हुए) घोड़े-हाथी पैदल-रथवाली बड़ी सेना भेजी। कन्हबेना (कृष्णवेणा नदी) पर पहुँची हुई सेना से मूषिक-नगर को बहुत त्रस्त किया। फिर तीसरे वर्ष

---

* **लेख्य** का यह अर्थ (शासन) कौटिलीय अर्थशास्त्र (१.३१) में देखिए।

† कौ० अर्थशास्त्र, १.३२।

‡ कौ० अ० शा०, १.२८। '**रूप**', '**लेखा**' और '**गणना**' पर सूत्र थे, ऐसा महावग्ग की टीका से विदित होता है। महावग्ग, १.४९। जैन सूत्रों में लिखा है कि महावीर स्वामी जिनेंद्र का नाम इसलिये **वर्धमान** हुआ कि जन्म ही से उनकी बढ़ती होने लगी थी।

(५) [आप] गंधर्व-वेद के पंडितों ने, दंप (डफ ?) नृत्य, गीत, वादित्र (बाजे) के संदर्शनों (तमाशों) से, उत्सव, समाज (नाटक, दंगल आदि) कराते हुए, नगरी को खेलाया। तथा चौथे वर्ष, विद्याधराधिवास को, जिसे कलिंग के पूर्व राजाओं ने बनवाया था और जो पहले कभी गिरा न था*......†, व्यर्थ जिनके मुकुट हो गए हैं, जिनके जिरहबख्तर दो पल्ले काटकर कर दिए गए हैं, काटकर गिरा दिए गए हैं जिनके छत्र

(६) और भृंगार (राजसी चिह्न सोने चाँदी गडुए-झारी), छीन लिए गए हैं, रत्न और स्वापतेय (धन) जिनके (ऐसे) सब राष्ट्रिक भोजकों से अपने चरणों में बंदना करवाई। अब पाँचवें वर्ष में, नंदराज के १०३ वर्ष (संवत्) में खोदी गई। नहर को तनसुलिय वाट (सडक या वाड़े) से राजधानी के अंदर ले आए। [छठें वर्ष में] अभिषिक्त हो राजसूय दिखलाते हुए कर (टिकस) के सब रुपए

(७) छोड़ दिए,—अनुग्रह‡ (नए हक) अनेकों, लाखों, पौर जानपद को बखशे। सातवें वर्ष में राज्य करते हुए [आप] की गृहिणी वज्र घर (कुल) वाली, घुषिता (नामवाली या 'प्रसिद्ध'), मातृ पदवी को प्राप्त हुई (?)§ [कुमार ?]......आठवें वर्ष में महा...सेना...गोरथ गिरि||

(८) को तोड़कर राजगृह को घेर दबाया। इनके कर्मों के अवदान (वीर-कथा) के सं-नाद से यूनानी राजा (यवनराज) डिमित...(Demetrios) ने अपनी सेना और छकड़े (कमसरियट)

---

* अहत-पूर्व का अर्थ नया कपड़ा चढ़ाकर भी हो सकता है।

† यहाँ अक्षर गल गए हैं।

‡ अनुग्रह का यह अर्थ कौटिलीय में है।

§ इस वाक्य का पाठ और अर्थ संदिग्ध है।

|| बराबर पहाड़, जो गया के पास है और जिसमें मौर्य चक्रवर्ती अशोक के बनवाए गुफा-मठ हैं, महाभारत में और एक शिलालेख में गोरथगिरि के नाम से अंकित है। यह एक गिरि दुर्ग था। इसकी किलअ-बंदी अब भी मौजूद है। मोटी मोटी दीवारों से द्वार और दर्रे बंद हैं।

बटोरते हुए मथुरा त्यागने को पीछे पैर दिए।......नवें वर्ष, [आप, श्रीखारवेल] देते हैं......पत्तों [से भरे हुए]

(९) कल्पवृक्ष*, घोड़े, हाथी, रथ, हाँकनेवालों समेत, मकान और शालाएँ अग्निकुंडों सहित। इन सबको ग्रहण कराने के लिये ब्राह्मणों की जाति को जागीरें दीं। अर्हत के......

(१०) शाही इमारत (राजसंनिवास) **महाविजय** (नामक) प्रासाद आपने अड़तीस लाख (पण, रुपयों) से बनवाया। दसवें वर्ष में, दंड-संधि-साम [नीति-] मय [आपने] मही जय करने भारतवर्ष को प्रस्थान किया......जिन पर चढ़ाई की उनके मणि-रत्न प्राप्त किए।

(११)........†(ग्यारहवें वर्ष में) बुरे राजा (अप-राज) के बनवाए हुए मंड (बाजार या मंडप) को बड़े गदहों के हल से जुतवा डाला, जिन (भगवान्) के प्रति दंभ करानेवाले एक सौ तेरह वर्ष-वाले सीस (तमर) के मूर्त्ति-संघात को तोड़ डाला। बारहवें वर्ष में,..........से उत्तरा-पथ के राजाओं को ख़ूब त्रस्त किया।

(१२)......मगधवालों को एक दम भयभीत करते हुए, हाथियों को सुगांगेय (प्रासाद)‡ पर पहुँचाया, और मगध के राजा बृहस्पति-मित्र§ को अपने पैरों गिरवाया (पैरों में वंदना करवाई)। तथा राजा नंद के ले गए हुए कालिंग जिन मूर्त्ति को...और गृह-रत्नों को ले, बदला चुकाते हुए (प्रतिहारों से) अंग मगध का धन ले आए।

(१३)........भीतर से लिखे (खुदे) हुए सुंदर (या 'बड़े', वरानि) शिखर बनवाए, साथ ही सौ कारीगरों को जागीरें दीं।

---

* ये सोने के होते थे। चतुर्वर्ग-चिंतामणि दान कांड, ५। यह महादान में है।

† यहाँ से, अंत तक, प्रति पंक्ति कोई १२ अक्षर पंक्ति के आदि में पत्थर के चप्पड़ के साथ उड़ गए हैं।

‡ मुद्राराक्षस नाटक में नंद और चंद्रगुप्त का महल 'सुगांग' नामक पाटलिपुत्र में कहा गया है।

§ बृहस्पतिमित्र के सिक्के मिलते हैं जो अग्निमित्र के सिक्कों से पहले के माने जाते हैं और उसी तरह के हैं।

अद्भुत आश्चर्य हाथियोंवाले जहाज भरे हुए, सब नजर, हय, हाथी, रत्न, माणिक्य, पांड्य राजा के यहाँ से इस समय अनेक मोती, मणि, रत्न, हरवा लाए, यहाँ पर, इस शक्त (लायक, महाराज) ने

(१४)........सियों को वसी किया। तेरहवें वर्ष में, पूज्य कुमारी पर्वत* पर जहाँ (जैनधर्म का) विजय-चक्र सुप्रवृत्त है, प्रक्षीण-संसृति (जिन्होंने जन्म मरण मिटा डाला है), कायनिषीदी (स्तूप) पर (रहनेवालों) पाप बतलानेवालों (पाप-ज्ञापकों), के लिये व्रत पूरे हो जाने पर मिलनेवाली राजभृतियाँ कायम कर दीं (शासित कर दीं)। पूजा में उपवास पूरा कर खारवेल श्री ने जीव और देह की श्री की परीक्षा कर ली। (जीव देह परख डाला।)

(१५)......सुकृति श्रमण सुविहित शत दिशा के ज्ञानी तपस्वी ऋषि संखी लोगों का......। अर्हत् की निषीदी के पास, पहाड़ पर, अच्छी खानियों से निकाल लाए हुए अनेक योजनों से ले आए गए......पत्थरों से सिंहप्रस्थवाली रानी सिंधुला के लिये निःश्रय...

(१६)......घंटा-युक्त [०] और चार खंभे जिनमें वैदूर्य जड़े हुए हैं, स्थापित किए पचहत्तर लाख [के खर्च] से। मौर्य काल में उच्छिन्न चौसट्ठी (चौंसठ अध्यायवाले) अंग सप्तिक का चतुर्थ भाग फिर से प्रस्तुत करवाया इस क्षेमराज ने, वृद्धिराज ने, भिक्षु-राज ने, धर्मराज ने, देखते सुनते अनुभव करते हुए कल्याणों को।

(१७)...........हैं गुण विशेष कुशल, सब मजहबों को इज्जत देनेवाले, सब (तरह के) देव-मंदिरों की मरम्मत करानेवाले, न रुकनेवाले रथ और सैन्यवाले, चक्र (राज्य) के धुर (नेता), गुप्त (रक्षित)-चक्रवाले, प्रवृत्त-चक्रवाले, राजर्षि-वंश-कुल-विनिःसृत, महाविजय, राजा खारवेलजी ('खारवेल-श्री')॥

---

* यह नाम खंडगिरि उदयगिरि का है जहाँ पर यह लेख है। भुवनेश्वर के पास ये छोटे पहाड़ हैं।

लेख के आदि अंत में एक एक मंगल चिह्न बना हुआ है। पहला बद्ध-मंगल है। दूसरे का नाम अभी नहीं पकड़ा जा सका।

(११) बोधिचर्या

अर्थात्

महायान धर्म की साधना

[लेखक—अध्यापक नरेंद्रदेव वर्म्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी]

प्रथम अध्याय

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जिस प्रकार समुद्र का एक रस लवण रस है, उसी प्रकार हमारी शिक्षा अर्थात् सद्धर्म का एक रस मोक्ष या निर्वाण है। इसलिये बौद्ध धर्म वह मार्ग है जो निर्वाण की प्राप्ति कराता है। यह मार्ग संसार और पुनर्भव का अंत करता है। "निर्वाण" शब्द के दो अर्थ हैं—(१) बुझना, जैसे दीपनिर्वाण अर्थात् दीपक का बुझ जाना और (२) शीतीभूत होना; यथा नेत्रनिर्वाण। पहले अर्थ के अनुसार निर्वाण भव-संतति का उच्छेद है। जिस प्रकार तेल के अत्यंत क्षय से दीपक का निर्वाण होता है अर्थात् दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अविद्या, तृष्णा आदि दोषों के अत्यंत नाश से पंच स्कंधों का उदय, व्यय और संसार मार्ग में आवर्त नहीं होता और मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है। बौद्धों के अनुसार आत्मा नाम की कोई नित्य वस्तु नहीं है। जीव पाँच स्कंधों का संग्रह मात्र है। पंचस्कंध यह हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। जब मनुष्य मरता है, तब उन स्कंधों का नाश हो जाता है जिनसे वह बना है। पर उसके शुभ और अशुभ कर्मों के बल से नवीन पंचस्कंध की सृष्टि होती है और एक अन्य नाम रूप की प्रतिसंधि होती है। जो पंचस्कंध नष्ट होता है वह उस पंचस्कंध से, जो उसके स्थान में उत्पन्न होता है, यदि अभिन्न नहीं है तो भिन्न भी नहीं है। क्षीर कालांतर में दधि में परिवर्तित होता है, दधि से नवनीत और नव-

नीत से घृत होता है। दधि क्षीर नहीं है, पर दधि क्षीर से सर्वथा भिन्न भी नहीं है क्योंकि उसकी उत्पत्ति क्षीर से है। इसी प्रकार धर्म-संतति के संबंध में भी कहा जा सकता है कि एक पंचस्कंध दूसरे पंचस्कंध से न अभिन्न है और न भिन्न है। मनुष्य में क्षण क्षण पर अन्यथा भाव होता है। एक के होने से दूसरे की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार संसार परंपरा से अनादि है। इस परंपरा में कहीं पर उच्छेद नहीं है। एक दूसरे से बद्ध और अन्योन्याश्रित है। इसी लिये नवीन नाम रूप पूर्व नाम रूप के पाप कर्म से मुक्त नहीं होता। उसे पूर्व जन्मार्जित शुभ और अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि संसार का कारण क्या है? यह स्पष्ट ही है कि जन्म ही समस्त दुःखों का कारण है। यदि जन्म न हो तो जरा, मरण, शोक, परिदेवन, दौर्मनस्य आदि दुःखों की उत्पत्ति ही न हो। जन्म का हेतु क्या है? हेतु प्रवृत्त होने से कार्य होता है और हेतु की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति होती है। जन्म की हेतु परंपरा भगवान् ने बतलाई है। इस परंपरा को "द्वादश प्रतीत्य समुत्पाद" अथवा "द्वादश निदान" कहते हैं। "प्रतीत्य समुत्पाद" के पूर्व पद से प्रत्यय सामग्री निर्दिष्ट की गई है और यह सूचित किया गया है कि सब धर्म हेतु-प्रभव हैं अर्थात् धर्मों की प्रवृत्ति प्रत्यय-सामग्री के अधीन है। दूसरे पद से यह दिखलाया गया है कि प्रत्यय-सामग्री-वश धर्मों की उत्पत्ति होती है। अविद्यादि प्रत्यय बल से संस्कारादि उत्तरोत्तर कार्य-प्रवाह का प्रवर्त्तन होता है। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप, नाम रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, और जाति से जरा-मरण होता है। यह परंपरा कार्य-कारण अथवा हेतु-फल परंपरा है। अविद्यादि निर्दिष्ट प्रत्ययों में से जो प्रत्यय जिस संस्कारादिक धर्म का उत्पाद करता है, वह अन्योन्य-विकलता

होने पर उस धर्म का उत्पाद नहीं कर सकता। अविद्यादि के निरोध से द्वादश प्रतीत्य समुत्पाद के क्रम की व्युपरति होती है। इनके निरोध से पंचस्कंध का चरम विनाश होता है। तदनंतर पंचस्कन्ध का उदय व्यय नहीं होता। इसे स्कंधपरिनिर्वाण कहते हैं। स्कंध-परिनिर्वाण से ही निर्वाण पद का लाभ होता है। अतः निर्वाण शब्द के पहले अर्थ के अनुसार भव प्रपंच से मुक्त होना ही निर्वाण है।

निर्वाण का दूसरा अर्थ 'शांति' है। धम्मपद में निर्वाण के लिये 'शांति' शब्द का प्रयोग किया गया है। रागादि दोष एक प्रकार की अग्नि हैं। धम्मपद में कहा है—

नत्थि राग समो अग्गि, नत्थि दोस समो कलि।
नत्थि खंधादि सा दुक्खा, नत्थि संति परं सुखं॥

धम्मपद। सुखवग्गो। श्लोक ६.

अर्थात् राग के समान कोई अग्नि नहीं है और शांति (अर्थात् निर्वाण) के समान कोई सुख नहीं है।

रागादि अग्नि से प्रज्वलित होकर यह समस्त सत्त्व लोक दुःख का अनुभव करता है। अतः रागादि के अत्यंत निरोध से सुख की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार आदीप्त गृह में बंद मनुष्य शीतल जल पाकर अलौकिक सुख प्राप्त करता है, और उसकी व्यथा का अंत हो जाता है, उसी प्रकार रागादि दोष रूपी अग्नि के निर्वाण से मनुष्य को अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

पहले अर्थ के अनुसार निर्वाण मृत्यु के पश्चात् की अवस्था है। पर पंचस्कंध के चरम-विनाश के अनंतर भिक्षु रहता है या नहीं, इस प्रश्न का समाधान भगवान् ने नहीं किया है। भगवान् का कहना था कि यह प्रश्न निरर्थक है, अर्थ-संहित नहीं है। इसके समाधान से विराग, निरोध, उपशम, संबोधि या निर्वाण-प्राप्ति में किंचिन्मात्र भी सहायता नहीं मिलती। इसलिये भगवान् बुद्ध ने इसका व्याकरण नहीं किया कि मरण के अनंतर विमुक्त-चित्त भिक्षु का अस्तित्व रहता है या नहीं।

"अग्गिवच्छगोत्त सुत्तंत" में वत्सगोत्र परिव्राजक ने भगवान् से प्रश्न किया कि विमुक्तचित्त भिक्षु कहाँ उत्पन्न होता है ? भगवान् ने उत्तर दिया कि यह कहना युक्त नहीं है कि वह उत्पन्न होता है। वत्स-गोत्र ने पूछा कि फिर क्या वह उत्पन्न नहीं होता ? भगवान् ने उत्तर दिया कि ऐसा कहना भी युक्त न होगा। वत्स-गोत्र ने फिर पूछा-तो क्या वह उत्पन्न भी होता है और नहीं भी उत्पन्न होता है ? उत्तर— यह भी अयुक्त है। वत्सगोत्र--क्या वह न उत्पन्न होता है और न उत्पन्न नहीं होता है ? उत्तर—यह भी यथार्थ नहीं है। प्रत्येक प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर पाकर वत्सगोत्र बोला—भगवन्, आप प्रत्येक बात में नहीं कहते हैं। मुझको इससे सम्मोह उत्पन्न हो गया है। आपके उत्तर से मेरा संतोष नहीं होता। बुद्ध ने कहा—हे वत्स ! यह धर्म गंभीर और दुर्बोध है। तर्क द्वारा यह नहीं जाना जा सकता। केवल पंडित ही इसको जान सकता है। हे वत्स ! अब मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ। तुम सामर्थ्यानुसार उत्तर दो।

हे वत्स ! यदि तुम्हारे सम्मुख अग्नि जलती हो और कोई तुमसे प्रश्न करे कि किस हेतु यह अग्नि जलती है, तो तुम उसको क्या उत्तर दोगे ? वत्स—मैं कहूँगा कि तृण, काष्ठादि उपादान के कारण अग्नि जलती है। बुद्ध—यदि वह अग्नि बुझ जाय और कोई पूछे कि अग्नि किस दिशा में गई—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण या उत्तर—तो तुम क्या जवाब दोगे ? वत्स—यह प्रश्न युक्त नहीं है, क्योंकि तृण, काष्ठादि उपादान के कारण ही अग्नि जलती थी। जब उपस्थित उपा-दान का क्षय हो गया और अन्य उपादान का आगम न हुआ, तो अपना आहार न पाने के कारण कहा जाता है कि अग्नि का निर्वाण हो गया। बुद्ध—इसी प्रकार, हे वत्स ! जब विमुक्तचित्त भिक्षु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कंधों से रहित हो जाता है, इनको छिन्नमूल करता है और जब इनका अभाव तथा पुन-रनुत्पाद हो जाता है, तब भिक्षु रूपादि संख्या से विमुक्त हो महा-समुद्र के समान गंभीर, अप्रमेय तथा दुष्पर्यवगाह हो जाता है।

इस संवाद से जाना जाता है कि भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाया कि मरणानंतर विमुक्तचित्त भिक्षु की क्या अवस्था होती है। उनके मत में इसका ज्ञान भिक्षु के लिये निष्प्रयोजन है; इसी लिये उन्होंने इस प्रश्न का व्याकरण नहीं किया।

पंचस्कंध का यह चरम-विनाश निरुपधिशेष निर्वाण कहलाता है। 'उपधि' पंचस्कंध का अधिवचन है। जो भिक्षु रागादि दोषों का क्षय कर नवीन कर्म की सृष्टि बंद कर देता है और केवल पूर्व-संचित कर्मों का फल भोगने के लिये शरीर धारण करता है, उसके संबंध में कहा जाता है कि उसने सोपधिशेष निर्वाण प्राप्त किया है, अर्थात् उसका पंचस्कंध शेष रह गया है। ऐसे भिक्षु को 'अर्हत्' कहते हैं। बुद्ध-मार्ग में अर्हत् पद परम पद है। इसी पद की प्राप्ति के लिये भिक्षु यत्नवान् होते हैं। अर्हत् परम शांति का आस्वादन करता है। इस शांतिसुख को निर्वाण-सुख कहा है। अर्हत् जीवन्मुक्त होता है। अर्हत् अवस्था में ही परम सुख और शांति का लाभ होता है। यह लाभ परम उत्कृष्ट है। अर्हत्-पद को धम्म-पद में 'अमृतपद' कहा है। अर्हत् विगतराग और विगतशोक है। उसका मन निर्विषयी है। उसके सकल आस्रव परिक्षीण हो गए हैं। विमोक्ष उसका गोचर है। जिस प्रकार आकाश में पक्षियों का पद-निक्षेप निरूपित नहीं हो सकता, उसी प्रकार अर्हत् की गति भी दुर्ज्ञेय है। उसका चित्त, वाक्य और कर्म प्रशांत हो गया है। वह पुरुषोत्तम है; जरा-मरण से रहित हो, शीतीभूत हो, वह निर्वाण को प्राप्त हुआ है। जब अर्हत् की मृत्यु होती है, तब उसका निरुपधि-शेष निर्वाण होता है। इस प्रकार अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर और निर्वाणसुख का उपभोग कर पीछे भवसंतति का उच्छेद ही निर्वाण है।

निर्वाण ही बौद्धों का लक्ष्य है। निर्वाण की प्राप्ति के लिये महा-कारुणिक भगवान् बुद्ध ने जिस मार्ग का आविष्कार किया, उसको अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। इसमें प्रज्ञा, शील और समाधि तीनों का समन्वय है। इस मार्ग के निम्नलिखित ८ अंग हैं—

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव (=जीविका), सम्यक् व्यायाम (= उद्योग), सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

इस साधना द्वारा चित्त की शुद्धि और एकाग्रता होती है; संचित कर्म का ध्वंस होता है और नवीन कर्म की सृष्टि नहीं होती। इस साधना के बल से भिक्षु अविद्या, तृष्णा आदि दोषों का क्षय करता है और क्लेश-बंधन का विच्छेद कर अर्हत् पद प्राप्त करता है।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध की शिक्षा का उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति है और उसकी साधना अष्टांगिक मार्ग की साधना है। इस मार्ग को 'मध्यम मार्ग' भी कहते हैं। इसको मध्यम मार्ग इसलिये कहते हैं कि यह न अत्यंत विषयसुख के भोग को युक्त समझता है और न अत्यंत कठोर तपस्या को।

इस मार्ग में जैन धर्म के समान शिरोलुंचन, अनशनमरण आदि कष्टकर उपायों का अवलंबन नहीं करना पड़ता। यह मार्ग न तो शाश्वतवाद की तरह दृश्य जगत् के मूल में ब्रह्म के समान किसी नित्य वस्तु के अस्तित्व को मानता है और न उच्छेदवाद की तरह यही मानता है कि मरने के पीछे कुछ नहीं होता, कर्म का फल नहीं मिलता और परलोक नहीं है।

दूसरा अध्याय

पूर्वोक्त शिक्षा के यथावत् प्रचार के लिये भगवान् बुद्ध ने एक भिक्षुसंघ की स्थापना की। भगवान् बुद्ध के समय में कोशल और मगध प्रदेश में इस धर्म का प्रसार हुआ। भगवान् के महापरिनिर्वाण के अनंतर आगे चलकर बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित भिक्षु-संघ में भेद होने के कारण कई वाद प्रचलित हो गए। वैशाली की महासंगीति के समय भिक्षु संप्रदाय दो मुख्य दलों में विभक्त हो गया— (१) स्थविरवादी और (२) महासांघिक। महासांघिकों की

शिक्षा थी कि भगवान् बुद्ध लोकोत्तर हैं और भवास्रव से विमुक्त हैं। इसके विपरीत स्थविरवादियों का मत था कि बुद्ध यद्यपि सम्यक्-संबोधि प्राप्त हैं, तथापि भवास्रव से विमुक्त नहीं हैं। महासांघिकों की शिक्षा थी कि तथागत बुद्ध का प्रत्येक वाक्य गुह्यार्थपूर्ण था; पर स्थविरवादियों के अनुसार यद्यपि भगवान् ने जो कुछ कहा, वह सब सत्य था, तथापि संवाद में उन्होंने बहुत सी ऐसी बातें कहीं जिनका गुह्य अर्थ न था। महासांघिकों के अनुसार बुद्ध को विश्राम अथवा निद्रा की आवश्यकता न थी; और जितने समय तक वह जीवित रहना चाहते, उतने समय तक जीवित रह सकते थे। पर स्थविरवादियों के मत में बुद्ध-काय जरा, व्याधि, और मरण से विमुक्त न था।

स्थविरवाद में धर्म की प्रधानता थी। लोकोत्तरवाद में बुद्ध की प्रधानता हो गई। बुद्ध का जीवनचरित अध्ययन करने से उनको उस साधना का ज्ञान हुआ जिस साधना द्वारा शाक्य मुनि ने विविध जन्मों की तपस्या के बाद बुद्धत्व को प्राप्त किया। यह साधना पारमिता की साधना है। इसे बोधिचर्या कहते हैं। महायान धर्म ने इस साधना को अपनाया।

इसी महासांघिक संप्रदाय के तत्त्वों का विकास होते होते महायान धर्म की प्रतिष्ठा पहली शताब्दी (ईसा के पश्चात्) में हुई। महायान धर्म के अनुयायी स्थविरवाद को 'हीनयान' कहते थे। उनकी दृष्टि में हीनयान निकृष्ट था। हीनयान का आदर्श अर्हत् और उसका गम्य स्थान निर्वाण है। अर्हत् अपने ही लोकनिस्तार के लिये यत्नवान् होता है। महायानवादी का आदर्श 'बोधिसत्व' है। बोधिसत्व का अर्थ है—तत्र (बोधौ) सत्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्वः (बोधिचर्यावतारपंजिका पृ० ४२१, पंक्ति १५) अर्थात् जिसका अभिप्राय 'बोधि' या सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति है। बोधिसत्व उस मार्ग पर आरूढ़ है जिस पर चलने से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जो सर्वज्ञ है, वह भले प्रकार जानता है कि समस्त जीव-

लोक दुःख से अर्दित और स्वमोहपाश से परिवेष्टित है। उसके चित्त में जीवलोक के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव होता है। वह विचारता है कि जब मुझे और दूसरों को भय और दुःख समान रूप से अप्रिय हैं, तब मुझ में कौन सी विशेषता है जिसके कारण मैं अपनी रक्षा करूँ और दूसरों की न करूँ। शांतिदेव कारिकावली में कहते हैं—

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम्॥

शाक्य मुनि सर्वज्ञ थे। वे परम कारुणिक थे। जीवों के उद्धार के लिये उन्होंने उस सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का आविष्कार किया जिस पर चलकर लोग संसार से विमुक्त होते हैं। उन्होंने सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति केवल अपने लिये नहीं की किंतु अनेक जीवों के क्लेश-बंधन को नष्ट करने के लिये की। इसके विपरीत अर्हत् केवल अपने निर्वाण के लिये यत्नवान् होता था। अर्हत् का आदर्श बुद्ध के आदर्श की अपेक्षा तुच्छ था। इस विशेषता का कारण यह है कि बुद्ध ने पूर्व-जन्मों में पुण्यराशि का संचय किया था और अनंत ज्ञान प्राप्त किया था। भगवान् बुद्ध का जीवनचरित अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह पूर्व जन्मों में 'बोधिसत्व' थे। पाली निकाय में जातक नाम का एक ग्रंथ है। यह भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं का संग्रह है। जातक की निदान कथा में वर्णित है कि अनेक कल्प व्यतीत हो गए कि शाक्य मुनि अमरवती नगरी में एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनका नाम सुमेध था। बाल्य काल में ही उनके माता पिता का देहांत हो गया था। सुमेध को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने तापस प्रव्रज्या की। एक दिन उसने विचार किया कि पुनर्भव दुःख है; मैं उस मार्ग का अन्वेषण करता हूँ जिस पर चलने से भव से मुक्ति मिलती है; ऐसा मार्ग अवश्य है; जिस प्रकार लोक में दुःख का प्रतिपक्ष सुख है, उसी प्रकार भव का भी प्रतिपक्ष विभव होना चाहिए, और जिस प्रकार उष्ण का उपशम शीत है,

उसी प्रकार रागादि दोष का उपशम निर्वाण है। ऐसा विचार कर सुमेध तापस हिमालय में पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। उस समय लोकनायक दीपंकर बुद्ध संसार में धर्मोपदेश करते थे। एक दिन सुमेध तापस आश्रम से निकलकर आकाश-मार्ग से जा रहे थे। देखा कि लोग नगर को अलंकृत कर रहे हैं, भूमि को समतल कर रहे हैं, उस पर बालुका आकीर्ण कर लाज और पुष्प विकीर्ण कर रहे हैं, नाना रंग के वस्त्रों की ध्वजा पताका का उत्सर्ग कर रहे हैं और कदली तथा पूर्ण घट की पंक्ति प्रतिष्ठित कर रहे हैं। यह देखकर सुमेध आकाश से उतरे और लोगों से पूछा कि किस लिये मार्ग शोधन कर रहे हो? यह जानकर कि दीपंकर 'बुद्ध' के लिये मार्ग शोधन हो रहा है, सुमेध को प्रीति उत्पन्न हुई और 'बुद्ध', 'बुद्ध' कहकर वह बड़े प्रसन्न हुए। सुमेध भी मार्गशोधन करने लगे। इतने में दीपंकर बुद्ध आ गए। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता साधु साधु कहने लगे। आकाश से मंदार पुष्पों की वर्षा होने लगी। सुमेध अपनी जटा खोलकर वल्कल, चीर और चर्म बिछाकर भूमि पर लेट गए और यह विचार किया कि यदि दीपंकर मेरे शरीर को अपने चरण कमल से स्पर्श करें तो मेरा हित हो। लेटे लेटे उन्होंने दीपंकर की बुद्ध-श्री को देखा और चिंता करने लगे कि सर्व क्लेश का नाश कर निर्वाण-प्राप्ति से मेरा उपकार न होगा। मुझको यह अच्छा मालूम होता है कि मैं भी दीपंकर की तरह परम संबोधि प्राप्त कर अनेक जीवों को धर्म की नौका पर चढ़ाकर संसार सागर के पार ले जाऊँ और पश्चात् स्वयं परिनिर्वाण में प्रवेश करूँ। यह विचार कर उन्होंने 'बुद्ध भाव' के लिये उत्कट अभिलाषा (पाली—अभिनीहार) प्रकट की।

दीपंकर के समीप सुमेध ने बुद्धत्व की प्रार्थना की और ऐसा दृढ़ विचार किया कि बुद्धों के लिये मैं अपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हूँ। इस प्रकार सुमेध 'अधिकार-संपन्न' हुए।

दीपंकर पास आकर बोले—इस जटिल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा। यह बुद्ध का व्याकरण हुआ। यह एक दिन बुद्ध होगा, इस वचन को सुनकर देवता और मनुष्य प्रसन्न हुए और बोले—यह 'बुद्ध बीज' है, यह 'बुद्धांकुर' है। वहाँ पर जो 'जिन-पुत्र' (बुद्ध-पुत्र) थे, उन्होंने सुमेध की प्रदक्षिणा की। लोगों ने कहा—तुम निश्चय ही बुद्ध होगे। दृढ़ पराक्रम करो, आगे बढ़ो, पीछे न हटो। सुमेध ने सोचा कि बुद्ध का वचन अमोघ होगा।

बुद्धत्व की आकांक्षा की सफलता के लिये सुमेध बुद्धकारक धर्मों का अन्वेषण करने लगे और महान् उत्साह और व्यायाम प्रदर्शित किया। अन्वेषण करने से दश 'पारमिता' प्रकट हुईं। इनका आसेवन पूर्व काल में बोधिसत्वों ने किया था। इन्हीं के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। 'पारमिता' का अर्थ है 'पूर्णता'। पाली रूप 'पारमी' है। दस पारमिता ये हैं—दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्य, अधिष्ठान (= दृढ़ निश्चय), मैत्री (= अहित और हित में सम भाव रखना) तथा उपेक्षा (= सुख और दुःख में समान रूप रहना)। सुमेध ने बुद्ध गुणों का ग्रहण कर दीपंकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या अर्थात् साधना प्रारंभ हुई और ५५० विविध जन्मों के पश्चात् वह तुषित लोक में उत्पन्न हुए; और वहाँ बोधि-प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध-हलाहल शब्द इस अभिप्राय से हुआ कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुषित लोक से च्युत होकर माया देवी के गर्भ में उनकी अवक्रांति हुई और मनुष्य भाव धारण कर उन्होंने सम्यक् संबोधि अधिगत की।

सुमेध-कथा से स्पष्ट है कि सुमेध ने सम्यक् संबोधि के आगे अर्हत् के आदर्श निर्वाण को तुच्छ समझा और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये दस पारमिता का ग्रहण किया। शाक्य मुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर पारमिताओं द्वारा सम्यक् संबुद्ध की लोकोत्तर संपत्ति प्राप्त की। शाक्य मुनि का पुण्यसंभार और ज्ञान अर्हत् के पुण्यसंभार और ज्ञान से कहीं बढ़कर है। बुद्ध अन्य अर्हतों से भिन्न

हैं, क्योंकि उन्होंने निर्वाण मार्ग का आविष्कार किया है। अर्हत् ने बुद्ध के मुख से दुःखनिरोध का उपाय श्रवण किया और उनके बताए हुए मार्ग का अनुसरण कर अर्हत् अवस्था प्राप्त की। बुद्ध का ज्ञान अनंत है और उनकी चर्या परार्थ है।

बुद्धत्व की प्राप्ति ही महायान धर्म का लक्ष्य है

महायान धर्म सर्वभूतदया पर आश्रित है। 'आर्य गया शीर्ष' में कहा है—किमारंभा मंजुश्री बोधिसत्वानां चर्या। किमधिष्ठाना मंजुश्रीराह। महा करुणारंभा देवपुत्र बोधिसत्वानां चर्या सत्वाधिष्ठानेति विस्तरः। (बोधिचर्यावतारपंजिका पृ० ४८७) अर्थात् हे मंजुश्री, बोधिसत्वों की चर्या का आरंभ क्या है और उसका अधिष्ठान अर्थात् आलंबन क्या है ? मंजुश्री बोले—हे देवपुत्र ! बोधिसत्वों की चर्या महाकरुणा पुरःसर होती है, अतः महाकरुणा ही उसका आरंभ है। इस करुणा के सत्व ही पात्र हैं। दुःखित सत्वों का अवलंबन करके ही करुणा की प्रवृत्ति होती है।

आर्य धर्म संगीति में कहा है—न भगवन् बोधिसत्वेनाति-बहुषु धर्मेषु शिक्षितव्यम्। एक एवहि धर्मो बोधिसत्वेन स्वाराधित कर्तव्यः सुप्रतिविद्धः। तस्य करतलगताः सर्वे बुद्धधर्मा भवंति। ... भगवन् येन बोधिसत्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वबुद्धधर्मा गच्छंति। तद्यथा भगवन् जीवितेंद्रिये सत्वं येषामिंद्रियाणां प्रवृत्तिर्भवति एवमेव भगवन् महाकरुणायां सत्यां बोधिकारकाणां धर्माणां प्रवृत्तिर्भवति। (बोधि० पृ० ४८६-४८७) अर्थात् हे भगवन्, बोधिसत्व के लिये बहुधर्म की शिक्षा का ग्रहण अनावश्यक है। बोधिसत्व को एक ही धर्म स्वायत्त करना चाहिए। उसके हस्तगत होने से सब बुद्ध-धर्म हस्तगत होते हैं। जिस ओर महाकरुणा की प्रवृत्ति होती है, उसी ओर सब बुद्ध-धर्मों की प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार जीवितेंद्रिय के रहते अन्य इंद्रियों की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार महाकरुणा के रहने से बोधिकारक अथवा बोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति होती है।

महायान धर्म में महाकरुणा को सम्यक् संबोधि का साधन माना है। भगवान् बुद्ध के चरित से भी महाकरुणा की उपयोगिता प्रकट होती है। 'महावग्ग' में वर्णित है कि जब भगवान् को बोधि वृक्ष के तले संबोधि प्राप्त हुई, तब धर्म देशना में उनकी प्रवृत्ति न थी। उन्होंने सोचा कि लोग अन्धकार से आच्छन्न हैं और राग दोष से संयुक्त हैं, अतः धर्म का प्रकाश नहीं देख सकते। यदि मैं इन्हें धर्मोपदेश भी करूँ तब भी इनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति न होगी। बुद्ध का यह भाव जानकर ब्रह्मासहंपति को चिंता हुई कि यदि बुद्ध धर्मोपदेश न करेंगे तो संसार नष्ट हो जायगा। आर्तजन को दुःखार्णव के उस पार कौन ले जायगा और धर्मनदी का प्रवर्तन कर कौन जीवलोक की तृष्णा का उपशम करेगा? यह विचार कर ब्रह्मा बुद्ध के सम्मुख प्रादुर्भूत हुए और भगवान् से प्रार्थना की कि भगवान् धर्म का उपदेश करें; नहीं तो जो लोग दोषपूर्ण हैं, वे धर्म का परित्याग कर देंगे। भगवान् ने कहा कि मैंने गंभीर और दुरनुबोध धर्म पाया है, पर धर्म देशना में मेरा चित्त नहीं लगता। ब्रह्मा के विशेष प्रार्थना करने पर जीवों पर करुणा कर भगवान् ने बुद्ध-चक्षु से लोक को देखा और जाना कि जीव दुःखार्दित हैं। अतः ब्रह्मासहंपति की प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की और सर्व-भूत-दया से प्रेरित होकर सत्वों के कल्याण के लिये धर्मोपदेश किया।

जहाँ 'हीनयान'-अनुगामी केवल अपने दुःख का अत्यंत विरोध चाहता है, वहाँ 'महायान' धर्म का साधक बुद्ध के समान अपने ही नहीं किंतु सत्वसमूह के जन्म मरणादि दुःखों का अपनयन चाहता है। बोधिचर्या का ग्रहण केवल इसी अभिप्राय से है कि जिसमें साधक सब जीवों का समुद्धरण करने में समर्थ हो। महायान का अनुगामी निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी भूतदया से प्रेरित हो संसार का उपकार करने के लिये अपने इस अपूर्व अधिकार का भी परित्याग करता है। इसी कारण महायान ग्रंथों में सप्तविध अनुत्तर पूजा का एक अंग 'बुद्धयाचना' कहा है जिसमें निर्वाण की

इच्छा रखनेवाले कृतकृत्य जिनों से प्रार्थना की जाती है कि वे अनंत कल्प तक निवास करें जिसमें यह लोक अंधकार से आच्छन्न न हो।

हीनयान तथा महायान की परस्पर तुलना करते हुए अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता के एकादश परिवर्त में कहा है कि हीनयान के अनुयायी का विचार होता है कि मैं एक आत्मा का दमन करूँ, एक आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊँ और एक आत्मा को निर्वाण प्राप्त कराऊँ। उसकी सारी चेष्टाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये होती हैं। पर बोधिसत्व की शिक्षा अन्य प्रकार की है। उसका अभिप्राय उदार और उत्कृष्ट है। वह अपने को परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है, पर साथ ही साथ सब सत्त्वों की भी परमार्थ सत्य में प्रतिष्ठा चाहता है। वह अप्रमेय सत्वों को परिनिर्वाण की प्राप्ति कराने के लिये उद्योग करता है। इसलिये बोधिसत्व को हीनयान की शिक्षा ग्रहण न करनी चाहिए। सर्वज्ञान के मूल स्वरूप प्रज्ञापारमिता को छोड़कर जो शाखा पत्र स्वरूप हीनयान में सारवृद्धि देखते हैं, वह भूल करते हैं।

एक महायान ग्रंथ का कहना है कि महाकरुणा ही मोक्ष का उपाय है। हीनयानवादी इस मोक्षोपाय को नहीं रखता। उसकी प्रज्ञा असमर्थ है, क्योंकि वह पाप-शोधन का उपाय नहीं रखता।

महायान ग्रंथों के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये यत्नवान है अर्थात् जो बोधिसत्व है, उसे षट्पारमिता का ग्रहण करना चाहिए। दान, शीलादि गुणों में जिसने पूर्णता प्राप्त की है, उसके लिये कहा जाता है कि इसने दान शीलादि पारमिता हस्तगत कर ली है। यही बोधिसत्व शिक्षा है और इसी को बोधिचर्या कहते हैं। षट्पारमिता निम्नलिखित हैं—दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। षट्पारमिता में प्रज्ञा पारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञा पारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। इसका दूसरा नाम भूत-तथता है। प्रज्ञा के बिना पुनर्भव का अंत नहीं होता। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये

ही अन्य पारमिताओं की शिक्षा कही गई है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान आदि पूर्णता को प्राप्त होते हैं और 'पारमिता' का व्यपदेश प्राप्त करते हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति में इस पुण्य-संभार की परिणामता होने के कारण ही इनकी पारमिता सार्थक होती है। यह पंच पारमिता प्रज्ञारहित होने पर लौकिक कहलाती है। उदाहरण के लिये जब तक दाता भिक्षु, दान और अपने अस्तित्व में विश्वास रखता है, तब तक उसकी दान पारमिता लौकिक होती है; पर जब वह इन तीनों के शून्य भाव को मानता है, तब उसकी पारमिता लोकोत्तर कहलाती है। जब पंच पारमिता प्रज्ञा पारमिता से समन्वागत होती है, तभी वह सचक्षुस्क होती है और उसको लोकोत्तर संज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारमिताओं का ग्रहण नितांत आवश्यक है। संबोधि की प्राप्ति में दान प्रथम कारण है; शील दूसरा कारण है।

दान शील की अनुपालना शांति द्वारा होती है। दानादि त्रितय पुण्य-संभार वीर्य अर्थात् कुशलोत्साह के बिना नहीं हो सकता। और बिना ध्यान अर्थात् चित्तैकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता; क्योंकि समाहित चित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है जिससे सब आवरणों की अत्यंत हानि होती है।

इसी बोधिचर्या का वर्णन शांतिदेव ने बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय में विशेष रूप से किया है। शांतिदेव महायान धर्म के एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गए हैं। ये सातवीं शताब्दी में हुए थे। इन्हीं के ग्रन्थों के आधार पर हम अगले अध्यायों में बोधिचर्या का वर्णन करेंगे।

तीसरा अध्याय

बोधिचित्त परिग्रह

मनुष्य भाव की प्राप्ति दुर्लभ है। इसी भाव में परम पुरुषार्थ अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं।

यही भाव आठ अक्षणों* से विनिर्मुक्त है। अक्षणावस्था में धर्म प्रविचय करना अशक्य है इसलिये इस सुअवसर को खोना न चाहिए। यदि हमने मनुष्य भाव में अपने और पराए हित की चिंतना न की तो ऐसा समागम हमको फिर प्राप्त न होगा। मनुष्य भाव में भी अकुशल पक्ष में अभ्यस्त होने के कारण साधारणतया मनुष्य की बुद्धि शुभ कर्म में रत नहीं होती। पुण्य सर्व काल में दुर्बल है और पाप अत्यंत प्रबल है। ऐसी अवस्था में प्रबल पाप पर विजय केवल किसी बलवान् पुण्य द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। भगवान् बुद्ध ही लोगों की अस्थिर मति को एक मुहूर्त के लिये शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। जिस प्रकार बादलों से घिरे हुए आकाश मंडल में रात्रि के समय क्षण मात्र के लिये विद्युत् के प्रकाश से वस्तु-ज्ञान होता है, उसी प्रकार इस अंधकारमय जगत् में भगवत्कृपा से ही क्षण मात्र के लिये मानव बुद्धि शुभ कर्मों में प्रवृत्त होती है। वह बलवान् शुभ कौन सा है जो घोरतम पाप को अपने तेज से अभिभूत करता है? यह शुभ **बोधिचित्त** ही है। इससे बढ़कर पाप का प्रतिघातक और विरोधी दूसरा नहीं है। बोधिचित्त क्या है? सब जीवों के समुद्धरण के अभिप्राय से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये सम्यक् संबोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना बोधिचित्त का ग्रहण करना है। एक बोधिचित्त ही सर्वार्थ साधन की योग्यता रखता है। इसी के द्वारा अनेक जीव भवसागर के पार लगते हैं। बोधिचित्त ग्रहण सदा सबके लिये आवश्यक है। इसका परित्याग किसी अवस्था में न होना चाहिए। जो श्रावक की तरह दुःख का अत्यंत निरोध चाहते हैं, जो बोधिसत्वों की तरह केवल अपने ही नहीं किंतु सत्व-समूह के दुःखों का अपनयन चाहते हैं और जिनको दुःखापनयन मात्र नहीं वरंच संसार-सुख की भी अभिलाषा है, उन

* आठ अक्षण यह हैं—नरकोपपत्ति, तिर्यगुपपत्ति, यमलोकोपपत्ति, प्रत्यंतजनपदोपपत्ति, दीर्घायुपदेवोपपत्ति, इंद्रियविकलता, मिथ्यादृष्टि और चित्तोत्पादविरागितता। (धर्मसंग्रह)

सब को सदा बोधिचित्त का ग्रहण करना चाहिए। शांतिदेव बोधि-चर्यावतार (प्रथम परिच्छेद श्लोक ८) में कहते हैं—

भव-दुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम्॥

बोधिचित्त के उदय के समय ही वह बुद्धपुत्र हो जाता है और इस प्रकार देवता और मनुष्य सब उसकी वंदना और स्तुति करते हैं। जिस प्रकार एक पल रस सहस्र पल लोहे को सोना बना देता है, उसी प्रकार बोधिचित्त एक प्रकार का रस धातु है जो मनुष्य के अमेध्य कलेवर और स्वभाव को बुद्ध विग्रह और स्वभाव में परिवर्तित कर देता है। बोधिचित्तग्रहण से पापशुद्धि होती है, ऐसा आर्य मैत्रेय विमोक्ष में कहा है। जिस प्रकार एक गुहा का सहस्रों वर्षों से संचित अंधकार प्रदीप के प्रवेश मात्र से ही नष्ट हो जाता है और वहाँ प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार बोधिचित्त अनेक कल्पों के संचित पाप का ध्वंस और ज्ञान का प्रकाश करता है। यह केवल सर्व शुभ का संचय ही नहीं करता, वरंच उन समस्त दारुण और महान् पापों का एक क्षण में क्षय करता है जो बोधिचित्त ग्रहण के पूर्व किए गए हों। जिस प्रकार कोई बड़ा अपराध करके भी किसी बलवान् की शरण में जाने से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार बोधिचित्त का आश्रय ग्रहण करने से एक ही क्षण में पुण्यराशि का अनुपम लाभ होता है और समस्त पाप का ध्वंस हो जाता है। बोधिचित्त के उत्पाद से प्रसूत आकाशधातुव्यापक पुण्यराशि में पाप अंतर्लीन हो जाता है; और जिस प्रकार सबल दुर्बल को दबा लेता है, उसी प्रकार पाप प्रतिपक्षी से अभिभूत होकर फल देने में असमर्थ हो जाता है।

बोधिचित्त ही सब पापों के निर्मूल करने का महान् उपाय है। यह सतत फल देनेवाला कल्पवृक्ष है, सकल दारिद्र्य को दूर करनेवाला चिंतामणि है और सबका अभिप्राय परिपूर्ण करनेवाला भद्रघट है। आर्यगंडव्यूह सूत्र में भगवान् अजित ने स्वयं कहा है कि सब

बुद्धधर्मों का बीज बोधिचित्त है। (बोधिचित्तं हि कुलपुत्र बीज भूतं सर्व बुद्धधर्माणाम्।)

अतः महायान धर्म की शिक्षा की मूल भित्ति बोधिचित्त ही है। बोधिचित्तोत्पाद के बिना कोई व्यक्ति, जो महायान का अनुगामी होना चाहता है, बोधिसत्व की चर्या अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी नहीं होता। बोधिचित्तग्रहणपूर्वक ही बोधिसत्वशिक्षा का समादान होता है, अन्यथा नहीं। यह बोधिचित्त दो प्रकार का है—बोधिप्रणिधिचित्त और बोधिप्रस्थानचित्त। प्रणिधि का अर्थ है—ध्यान अथवा कर्म-फल-परित्याग। शिक्षा-समुच्चय (पृ० ८) में कहा है—मया बुद्धेन भवितव्यमितिचित्तं प्रणिधानादुत्प भवति। अर्थात्—मैं सर्वजगत् के परित्राण के लिये बुद्ध होऊँ—ऐसी भावना प्रार्थना रूप में जब उदय होती है, तब बोधिप्रणिधिचित्त का उत्पाद होता है। यह पूर्वावस्था है। महायान का पथिक होने की इच्छा मात्र प्रकट हुई है। अभी उस मार्ग पर पथिक ने प्रस्थान नहीं किया है। पर जब व्रत ग्रहण कर वह मार्ग पर प्रस्थान करता है और कार्य में व्यापृत होता है, तब बोधिप्रस्थानचित्त का उत्पाद होता है। प्रस्थानचित्त निरंतर पुण्य का देनेवाला है। इसी लिये शूरंगम सूत्र में कहा है कि ऐसे प्राणी इस जीवलोक में अत्यंत दुर्लभ हैं जो संबोधि-प्राप्ति के लिये प्रस्थान कर चुके हैं। वह जगत् के दुःख की ओषधि और जगदानंद का बीज है। वह सब दुःखित जनों के समस्त दुःखों का अपनयन कर सब को सर्व सुख-संपन्न करने का उद्योग करता है। वह सबका अकारण बंधु है। उसका व्यापार अहैतुक है। उसकी महिमा अपार है। जो उसका निरादर करता है, वह सब बुद्धों का निरादर करता है और जो उसका सत्कार करता है, उसने सब बुद्धों का सत्कार किया।

———

चौथा अध्याय

सप्त-विध अनुत्तर पूजा

बोधिचित्त का उत्पादन करने के लिये सप्त-विध अनुत्तर पूजा का विधान है। धर्म-संग्रह के अनुसार इस लोकोत्तर पूजा के सात अंग इस प्रकार हैं—वंदना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और परिणामना। बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इस पूजा के आठ अंग हैं। यथा—वन्दन, पूजन, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येषण, याचना और बोधिपरिणामना।

बोधिचित्त-ग्रहण के लिये सबसे पहले बुद्ध, सद्धर्म तथा बोधिसत्वगण की पूजा आवश्यक है। यह पूजा मनोमय पूजा है। शांतिदेव मनोमय पूजा में हेतु देते हैं—

अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः, पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किंचित्।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता, गृह्णंतु नाथा इदमात्मशक्त्या॥

—बोधि० परि० २। ७.

अर्थात् मैंने पुण्य नहीं किया है; मैं महादरिद्र हूँ; इसलिये पूजा की कोई अन्य सामग्री मेरे पास नहीं है। भगवान् महाकारुणिक हैं, सर्वभूतहित में रत हैं। अतः इस पूजोपकरण को नाथ ग्रहण करें। अकिंचन होने के कारण आकाश धातु का जहाँ तक विस्तार है, तत्पर्यंत निरवशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न, जल, रत्नमय पर्वत, वन प्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष, कल्पवृक्ष, मनोहर तटाक तथा जितनी अन्य उपहार वस्तुएँ प्राप्त हैं, उन सब को बुद्धों तथा बोधिसत्वों के प्रति वह दान करता है। यही अनुत्तर दक्षिणा है। यद्यपि वह अकिंचन है, पर आत्मभाव उसकी निज की संपत्ति है, उस पर उसका स्वामित्व है। इसलिये वह आत्मभाव बुद्ध को समर्पण करता है। भगवान् भक्ति भाव से प्रेरित होकर वह दास भाव स्वीकार करता है। भगवान्

के आश्रय में आने से वह निर्भय हो गया है। वह प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं प्राणिमात्र का हित साधन करूँगा, पूर्वकृत पाप का अतिक्रमण करूँगा और फिर पाप न करूँगा। मनोमय पूजा के अनंतर साधक बुद्ध, बोधिसत्व, सद्धर्म, चैत्य आदि की विशेष पूजा करता है। मनोरम स्नानगृह में गन्ध-पुष्प-पूर्ण रत्नमय कुम्भों के जल से गीत-वाद्य के साथ बुद्ध तथा बोधिसत्व को स्नान कराता है; स्नानान्तर निर्मल वस्त्र से शरीर संमार्जन कर सुरक्त, वासित वर चीवर उनको प्रदान करता है, दिव्य अलंकारों से उनको विभूषित करता है; उत्तम उत्तम गंध द्रव्य से शरीर का विलेपन करता है। तदनंतर उनको माला से विभूषित करता है, धूप तथा दीपक दिखाता है और नैवेद्य अर्पित करता है। बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाता है, तत्पश्चात् अपने सर्व पाप का प्रख्यापन करता है। इसे पापदेशना कहते हैं। जो पाप कायिक, वाचिक, मानसिक उसने स्वयं किया हो अथवा दूसरे से कराया हो अथवा अनुमोदन किया हो, उन सब पापों को वह प्रकट करता है। अपना सब पाप वह बुद्ध के समक्ष प्रकाशित करता है और भगवान् से प्रार्थना करता है कि भगवन् मेरी रक्षा करो। जब तक मैं पाप का क्षय न कर लूँ, तब तक मेरी मृत्यु न हो, नहीं तो मैं दुर्गति-अपाय में पड़ूँगा। मेरा इस अनित्य जीवन में विशेष आग्रह था। मैं यह नहीं जानता था कि मुझको नरकादि दुःख भोगना पड़ेगा। मैं यौवन, रूप, धनादि के मद से मत्त था; इसलिये मैंने अनेक पापों का अर्जन किया। मैंने चारों दिशाओं में घूमकर देखा कि कौन ऐसा साधु है जो मेरी रक्षा करे। दिशाओं को त्राणशून्य देखकर मुझको संमोह हुआ और अन्त में मैंने यह निश्चय किया कि बुद्धों की शरण में जाऊँ, क्योंकि वह सामर्थ्यवान् हैं, संसार की रक्षा के लिये उपयुक्त हैं और सबके त्रास के हरनेवाले हैं। मैं बुद्ध द्वारा साक्षात् कृत धर्म की तथा बोधिसत्वगण की भी शरण में जाता हूँ। मैं हाथ जोड़कर भगवान् के सम्मुख अपने समस्त उपार्जित पापों का प्रख्या-

पन करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी अनार्य या गर्हित कर्म न करूँगा।

पापदेशना के अनंतर साधक सर्व सत्वों के लौकिक शुभ कर्म का प्रसादपूर्वक अनुमोदन करता है तथा सब प्राणियों के सर्व दुःख विनिर्मोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे पुण्यानुमोदन कहते हैं। तदनंतर अंजलिबद्ध हो सर्वदिगवस्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि अज्ञान तम से आवृत जीवों के उद्धार के लिये भगवान् धर्म का उपदेश करें। यही बुद्धाध्येषणा है। वह फिर कृतकृत्य जिनों से याचना करता है कि वह अभी परिनिर्वाण में प्रवेश न करें और अनंत कल्प तक निवास करें जिसमें यह लोक मार्ग-ज्ञान न होने से निश्चेतन न हो जाय। यह बुद्धयाचना है। अंत में साधक प्रार्थना करता है कि उक्त क्रम से अनुत्तर पूजा करने से जो सुकृत मुझे प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के सर्व दुःखों का प्रशमन करने में समर्थ होऊँ और उनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराऊँ। यह बोधिपरिणामना है। साधक भक्तिपूर्वक प्रार्थना करता है—हे भगवन् जो व्याधि-पीड़ित हैं, उनके लिये मैं उस समय तक औषध, चिकित्सक और परिचारक होऊँ जब तक व्याधि की निवृत्ति न हो; मैं क्षुधा और पिपासा की व्यथा का अन्न-जल की वर्षा से निवर्त्तन करूँ, और दुर्भिक्षांतर कल्प में जब अन्नपान के अभाव से प्राणियों का एक दूसरे का मांस, अस्थि-भक्षण ही आहार हो, उस समय मैं उनके लिये पान-भोजन होऊँ। दरिद्र लोगों का मैं अक्षय धन होऊँ। जिस जिस पदार्थ की वह अभिलाषा करें उस उस पदार्थ को लेकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित होऊँ।

———

पाँचवाँ अध्याय

दानपारमिता

बोधिसत्व बोधिचित्तोत्पाद के अनंतर शिक्षा ग्रहण के लिये विशेष रूप से यत्न-शील होता है। पहली पारमिता दानपारमिता है। सर्व

वस्तुओं का सब जीवों के लिये दान और दानफल का भी परित्याग दान-पारमिता है। इसलिये बोधिसत्व आत्मभाव का उत्सर्ग करता है। वह सर्व भोग्य वस्तुओं का परित्याग करता है तथा अतीत, वर्तमान और अनागत काल के कुशलमूल का भी परित्याग करता है जिसमें सब प्राणियों की अर्थसिद्धि हो। आत्मभाव का त्याग ही निर्वाण है।

यदि निर्वाण के समय सब कुछ त्यागना ही है, तो अच्छा तो यह है कि सब कुछ प्राणियों को अर्पित कर दिया जाय। ऐसा विचार कर वह अपना शरीर सब प्राणियों के प्रति अर्पित करता है। चाहे वे दंडादि से उसकी ताड़ना करें, चाहे जुगुप्सा करें, चाहे उस पर धूल फेंकें और चाहे उसके साथ क्रीड़ा करें। वह केवल इतना चाहता है कि उसके द्वारा किसी प्राणी का अनर्थ संपादित न हो। वह चाहता है कि जो उस पर मिथ्या दोष आरोपित करते हैं, या उसका अपकार करते हैं या उपहास करते हैं, वे भी बुद्धत्व लाभ करें। वह चाहता है कि जिस प्रकार पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार महाभूत समस्त आकाशधातु-निवासी अनंत प्राणियों के अनेक प्रकार से उपभोग्य होते हैं, उसी प्रकार वह भी तब तक सब सत्वों का आश्रय-स्थान रहे जब तक सब संसार दुःख से विनिर्मुक्त न हो।

उसका किसी वस्तु में भी ममत्व नहीं होता। वह सब सत्वों को पुत्र तुल्य देखता है और अपने को सबका पुत्र समझता है। यदि कोई याचक उससे किसी वस्तु की याचना करता है, तो तुरंत वह वस्तु उसे दे देता है। मात्सर्य नहीं करता। बोधिसत्व के लिये चार बातें कुत्सित हैं--शाठ्य, मात्सर्य, ईर्ष्या-पैशुन्य और संसार में लीनचित्तता। बोधिसत्व को ऐसी किसी वस्तु का ग्रहण न करना चाहिए जिसमें उसकी त्यागचित्तता उत्पन्न न हुई हो। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसको वह वस्तु बिना शोक किए, बिना फल की आकांक्षा के और बिना प्रतिसार के दे दे।

अशोचन्न विप्रतिसारी अविपाकप्रतिकांक्षी परित्यक्ष्यामि।

—शिक्षासमुच्चय; पृ० २१।

सांसारिक दुःख का मूल सर्व परिग्रह है; अतः अपरिग्रह द्वारा भव-दुःख से विमुक्ति मिलती है। इस प्रकार बोधिसत्व अनंत कल्प तक लौकिक तथा लोकोत्तर सुखसंपत्ति का अनुभव करता है और दूसरों का भी निस्तार करता है। इसी लिये रत्नमेघ में कहा है--दानं हि बोधिसत्वस्य बोधिरिति।—शिक्षासमुच्चय; पृ० ३४।

इस प्रकार आत्मभाव आदि का उत्सर्ग कर, अनाथ सत्वों पर दया कर, स्वयं दुःख उठाते हुए दूसरों के दुःख का विनाश करने के अभिप्राय से बुद्धत्व ही को उपाय ठहराकर बुद्धत्व के लिये बद्धपरिकर होता है और अन्य पारमिताओं का ग्रहण करता है।

छठा अध्याय

शीलपारमिता

आत्मभाव का उत्सर्ग इसी लिये बताया गया है कि जिसमें सब सत्व उसका उपभोग करें। पर यदि इस आत्मभाव की रक्षा न होगी तो दूसरे उसका उपभोग किस प्रकार करेंगे ? वीरदत्त-परिपृच्छा में कहा है—

शकटमिव भारोद्वहनार्थं केवलं धर्मबुद्धिना वाढव्यमिति।

—शिक्षासमुच्चय; पृ० ३४।

अर्थात् यह समझकर, कि शकट की नाईं केवल भारोद्वहन करना है, धर्मबुद्धि से शरीर की रक्षा करे। इसलिये आत्मभावादि का परिपालन आवश्यक है। यह शिक्षा की रक्षा और कल्याणमित्र के अपरित्याग से हो सकता है। कहा भी है—

परिभोगाय सत्वानामात्मभावादिदीयते।
अरक्षिते कुतो भोगः किं दत्तं यन्न भुज्यते॥
तस्मात् सत्वोपभोगार्थमात्मभावादि पालयेत्।
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणां च सदेक्षणात्॥

—शिक्षा समुच्चय; पृ० ३४।

कल्याणमित्र के अपरित्याग से मनुष्य दुर्गति में नहीं पड़ता। कल्याणमित्र प्रमाद-स्थान से निवारण करता है। क्या करणीय है और क्या अकरणीय है, इसका ज्ञान शिक्षा की रक्षा से होता है; और विहित कर्म करने से और प्रतिषिद्ध के न करने से नरकादि विनिपात गमन से रक्षा होती है।

आत्मभावादि की रक्षा शिक्षा की रक्षा से होती है। शिक्षा की रक्षा चित्त की रक्षा से होती है। चित्त चलायमान है। यदि इसको स्वायत्त न किया जायगा तो शिक्षा की स्थिरता नष्ट हो जायगी। भय और दुःख का कारण चित्त ही है। चित्त द्वारा ही अर्थात् मानस-कर्म द्वारा ही वाक्काय कर्म की उत्पत्ति है। अतः वाक्काय कर्म का चित्त ही समुत्थापक है। चित्त ही अति विचित्र सत्व लोक की रचना करता है; इसलिये चित्त का दमन अत्यंत आवश्यक है। जिसका चित्त पाप से निवृत्त है, उसके लिये भय का कोई हेतु नहीं है। जिसका चित्त स्वायत्त है, उसके सुख की हानि नहीं होती। इस-लिये पापचित्त से कोई अधिक भयानक वस्तु नहीं है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि दानपारमिता आदि में चित्त कैसे प्रधान है, क्योंकि दानपारमिता का लक्षण सब प्राणियों का दारिद्र्य दूर करना है और इसका चित्त से कोई संबंध नहीं है। यह शंका अनुचित है। यदि दानपारमिता का तात्पर्य समस्त जगत् के दारिद्र्य को दूर कर सब सत्वों को परिपूर्ण करना ही हो तो अनेक बुद्ध हो चुके हैं, पर आज भी जगत् दरिद्र है। तो क्या उनमें दानपारमिता न थी? ऐसा नहीं कहा जा सकता। दानपारमिता का अर्थ केवल यही है कि सब वस्तुओं का सब जीवों के लिये दान, और दान-फल का भी परित्याग। इस प्रकार के अभ्यास से मात्सर्य मल का अपनयन होता है और चित्त निरासंग हो जाता है। इस प्रकार दानपारमिता निष्पन्न होती है। इसलिये दानपारमिता चित्त से भिन्न नहीं है। शीलपारमिता भी इसी प्रकार चित्त से भिन्न नहीं है। शील का अर्थ है—प्राणातिपात आदि सब गर्हित कार्यों से

चित्त की विरति। विरति-चित्तता ही शील है। इसी प्रकार शान्ति-पारमिता का अर्थ है—दूसरे के द्वारा अपकार के होते हुए भी चित्त की अकोपनता। शत्रु गगन के समान अपर्यन्त हैं। उनका मारना अशक्य है। पर उपाय द्वारा यह शक्य है। उनके किए हुए अपकार को न गिनना ही उपाय है। क्रोधादि से चित्त की निवृत्ति होने से ही उनकी मृत्यु हो जाती है। वीर्यपारमिता का लक्षण कुशलोत्साह है। यह स्पष्टरूपेण चित्त है। ध्यानपारमिता का लक्षण चित्तैकाग्रता है; इसलिये उसको चित्त से पृथक् नहीं बताया जा सकता। प्रज्ञा तो निर्विवाद रूप से चित्त ही है।

शत्रु प्रभृति जो बाह्य भाव हैं, उनका निवारण करना शक्य नहीं है। चित्त के निवारण से ही कार्य-सिद्धि होती है। इसलिये बोधि-सत्व को अपकार क्रिया से अपने चित्त का निवारण करना चाहिए। शान्तिदेव कहते हैं—

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी॥

—बोधि० परि० ५।१३।

अर्थात्—कंटकादि से रक्षा करने के लिये पृथ्वी को चर्म से आच्छादित करना उचित ही है। पर यह संभव नहीं है, क्योंकि इतना चर्म कहाँ मिलेगा? यदि मिले भी तो छादन असंभव है। पर उपाय द्वारा कंटकादि से रक्षा शक्य है। उपानह के चर्म द्वारा सब भूमि छादित हो जाती है। इसी प्रकार अनंत बाह्य भावों का निवारण एकचित्त के निवारण से होता है।

चित्त की रक्षा के लिये 'स्मृति' और 'संप्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। 'स्मृति' का अर्थ है 'स्मरण'। किसका स्मरण? विहित और प्रतिषिद्ध का स्मरण।

विहितप्रतिषिद्धयोर्यथायोगं स्मरणं स्मृतिः।

—बो० प० पृ० १०८।

आर्यरत्नचूड़ सूत्र में कहा है कि स्मृति से क्लेशों का प्रादुर्भाव नहीं होता; स्मृति से ही सुरक्षित होकर मनुष्य उत्पथ या कुमार्ग में पैर नहीं रखता। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है जो अकुशल को अवकाश नहीं देता। शिक्षा० पृ० १२०।

संप्रजन्य का अर्थ है—प्रत्यवेक्षण। किसकी प्रत्यवेक्षा करना? काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना। खाते पीते, सोते जागते, उठते बैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है। स्मृति तीव्र आदर से ही उत्पन्न होती है। तीव्र आदर शमथ-माहात्म्य को जानने से ही होता है। 'शमथ' चित्त की शांति को कहते हैं। अचपलता, अचंचलता, सौम्यता, अनुद्धतता, कर्मण्यता, एकाग्रता, एकारामता इत्यादि शम के लक्षण हैं।

शम ही के प्रभाव से चित्त समाहित होता है और समाहित चित्त होने से ही यथाभूत दर्शन होता है। यथाभूत दर्शन से ही सत्वों के प्रति महा करुणा उत्पन्न होती है। बोधिसत्व की इच्छा होती है कि मैं सब सत्वों को भी यथाभूत परिज्ञान कराऊँ। इस प्रकार वह शील, चित्त और प्रज्ञा की परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सम्यक् संबोधि प्राप्त करता है। इसलिये वह शील में सुप्रतिष्ठित होता है और बिना विचलित हुए, बिना शिथिलता के उसके लिये यत्नवान् होता है। यह जानकर कि शम से अपना और पराया कल्याण होगा, अनंत दुःखों का संक्रमण और अनंत लौकिक तथा लोकोत्तर सुख संपत्ति की प्राप्ति होगी, बोधिसत्व को शम की आकांक्षा होनी चाहिए। इससे शिक्षा के लिये तीव्र आदर उत्पन्न होता है जिससे स्मृति उत्पन्न होती है। स्मृति से अनर्थ का परिहार होता है। इसलिये जो आत्मभाव की रक्षा करना चाहता है, उसको स्मृति के मूल का अन्वेषण कर नित्य सजग रहना चाहिए। शील से समाधि होती है। चंद्रदीप सूत्र में कहा है कि जो समाधि चाहता है, उसका शील विशुद्ध होना चाहिए और उसको स्मृति तथा संप्रजन्य ग्रहण करना चाहिए। शीलार्थी को भी समाधि के लिये यत्नवान् होना चाहिए।

(शिक्षा० पृ०१२१)। शील और समाधि द्वारा चित्त-परिकर्म की निष्पत्ति होती है। यही बोधिसत्व शिक्षा है, क्योंकि पुरुषार्थ का यही मूल है। (शिक्षा० पृ० १२१) आर्यरत्नमेघ में कहा है—चित्तपूर्वङ्गमाश्च सर्वधर्माः। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति। शिक्षा० पृ० १२१—अर्थात् सब धर्म चित्त-पुरःसर हैं। चित्त का ज्ञान होने पर सब धर्म परिज्ञात होते हैं।

आर्यधर्मसंगीति सूत्र में कहा है—तदुच्यते। चित्ताधीनो धर्मो धर्माधीना बोधिरिति। (शिक्षा० पृ० १२२) अर्थात् चित्त के अधीन धर्म हैं और धर्म के अधीन बोधि है। आर्यगंडव्यूह सूत्र में भी कहा है—स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वबोधिसत्वचर्या स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वसत्वपरिपाकविनयः। (शिक्षा० पृ० १२२) अर्थात् बोधिसत्वचर्या अपने चित्त में अधिष्ठित है। सब सत्वों को संबोधि प्राप्त कराने की शिक्षा अपने चित्त में अधिष्ठित है; इसलिये चित्त नगर के परिपालन में कुशल होना चाहिए। चित्तनगर का परिपालन संसार के सब विषयों से विरक्त होने से होता है। ईर्ष्या, मात्सर्य और शठता के अपनयन से चित्त नगर का परिशोधन करना चाहिए। सर्व क्लेश और मार (कामदेव) की सेना का विमर्दन कर चित्त नगर को दुर्योध्य तथा दुरासाद्य बनाना चाहिए। चित्त नगर के विस्तार के लिये सब सत्वों के प्रति महामैत्री प्रदर्शित करनी चाहिए। सर्व जगत् को आध्यात्मिक और बाह्य वस्तु का दान कर चित्त नगर का द्वार खोलना चाहिए।

चित्त नगर की शुद्धि से सब आवरण नष्ट होते हैं। (शिक्षा० १२२—१२३) इसलिये यह व्यवस्थित हुआ कि चित्त-परिकर्म ही बोधिसत्व-शिक्षा है। जब चित्त अचपल होता है, तभी उसका परिकर्म होता है। शम से चित्त अचल होता है। जो निरंतर प्रत्यवेक्षा नहीं करता और जिसमें स्मृति का अभाव है, उसका चित्त चलायमान होता है। पर स्मृति और संप्रजन्य से जिसकी बाह्य चेष्टाओं का निवर्तन हो गया है, उसका चित्त इच्छानुसार एक आलंबन में ही निबद्ध रहता है।

इसलिये स्मृति को मनोद्वार से कभी न हटावे। यदि प्रमाद-वश स्मृति अपने उचित स्थान से हट जाय तो उसको फिर से अपने स्थान पर लौटाकर आरोपण करे। स्मृति की उत्पत्ति ऐसे लोगों के लिये सुकर है जो आचार्य का संवास करते हैं, जिनके हृदय में उनके प्रति आदर का भाव है और जो यत्नशील हैं। जो सदा यह ध्यान करता है कि बुद्धि और बोधिसत्वगण समस्त वस्तु विषय का अप्रतिहत ज्ञान रखते हैं, सब कुछ उनके सामने है, मैं भी उनके सम्मुख हूँ, वह शिक्षा में आदरवान् होता है और अयोग्य कर्म के प्रति लज्जा करता है। जब चित्त की रक्षा के लिये स्मृति मनोद्वार पर द्वारपाल की नाईं अवस्थित होती है, तब संप्रजन्य बिना प्रयत्न के उत्पन्न होता है। अतः स्मृति ही संप्रजन्य की उत्पत्ति और स्थैर्य में कारण है। जिसका चित्त संप्रजन्य से रहित है, उसको वस्तु का उसी प्रकार स्मरण नहीं रहता जिस प्रकार सछिद्र कुंभ का जल ऊपर से भरा जाता है, पर नीचे से निकल जाता है। संप्रजन्य के अभाव से संचित कुशल धन भी विलुप्त हो जाता है और मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है। क्लेश-तस्कर छिद्रान्वेषण में तत्पर होते हैं और प्रवेश मार्ग पाकर हमारे कुशल-धन का अपहरण करते हैं और सद्गति का नाश करते हैं। इसलिये चित्त की सदा प्रत्यवेक्षा करे। इसकी प्रत्यवेक्षा करे कि मन कहाँ जाता है, पहले आलंबन में निबद्ध है अथवा कहीं अन्यत्र चला गया है।

ऐसा प्रयत्न करे जिसमें मन समाहित हो। अनर्थ विवर्जन के लिये सदा काष्ठवत् रहना चाहिए। बिना प्रयोजन नेत्र विक्षेप न करना चाहिए। दृष्टि सदा नीचे की ओर रखे, पर कभी कभी दृष्टि को विश्राम देने के लिये अपने चारों ओर भी देखे। जब कोई समीप आवे, तब उसकी छाया मात्र के अवगत होने से उसका स्वागत करे, अन्यथा अवज्ञा करने से अकुशल की उत्पत्ति होती है। भय हेतु जानने के लिये मार्ग में बारंबार चारों ओर देखे। अच्छी तरह निरूपण कर अग्रसर हो अथवा पीछे अपसरण करे।

इस प्रकार सब अवस्थाओं में बुद्धिपूर्वक कार्य करे जिसमें उपघात का परिहार और आत्मभाव की रक्षा हो। प्रत्येक कार्य में शरीर की अवस्था पर ध्यान रखे। बीच बीच में देखता रहे। देह की भिन्न अवस्था होने पर उसका पूर्ववत् अवस्थापन करे। नाना विध प्रलाप सुनने तथा कुतूहल देखने के लिये उत्सुक न हो। निष्प्रयोजन नख, दंडादि से भूमि, फलकादि पर रेखा न खींचे। कोई निरर्थक कार्य न करे। जब चित्त मान, मद या कुटिलता से दूषित हो, तब उसको स्थिर करे। जब चित्त में अपने गुणों के अतिशय प्रकाशन की इच्छा प्रकट हो या दूसरों के छिद्रान्वेषण की आकांक्षा का उदय हो या दूसरे से कलह करने के लिये चित्त चलायमान हो, तो उस समय मन को स्थिर करे। जब मन परार्थ-विमुख और स्वार्थाभिनिविष्ट हो कर लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी हो, तब मन को काष्ठवत् स्थिर करे। इस प्रकार चित्त की सर्व प्रवृत्तियों का निरोध करे और मन को निश्चल रखे। शरीर में अभिनिवेश न रखे। चित्तरहित मृत-काय व्यापार-शून्य होता है। आमिष-लोभी गृध्र जब शरीर को इधर उधर खींचते हैं, तब वह आत्मरक्षा में समर्थ नहीं होता और प्रतिकार में असमर्थ होता है। इसलिये शरीर सर्वथा अनुपयोगी है। इसकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस मांस और अस्थि के पुंज को आत्मवत् स्वीकार करके इसकी रक्षा में प्रयत्नशील न होना चाहिए। जब यह आत्मा से भिन्न है, तब इसके अपचय से कोई अनिष्ट संपादित नहीं होता। जिसको तू अपना समझता है, वह अपवित्र है। इस अपवित्र अमेध्य घटित यंत्र की रक्षा से कोई लाभ नहीं है। इस चर्मपुट को अस्थि-पंजर से पृथक् कर अस्थियों को खंड खंडकर मज्जा को देखे और स्वयं विचार करे कि इसमें सारभूत क्या है। इस प्रकार यत्नपूर्वक ढूँढने पर भी जब कुछ सार वस्तु नहीं दिखलाई देती, तब शरीर की रक्षा व्यर्थ है। जब इसकी अँतड़ियाँ नहीं चूस सकते, इसका रक्त-पान नहीं कर सकते, तब फिर इस काय में क्यों आसक्ति है?

जिसकी रक्षा केवल गृध्र-शृगालों के आहारार्थ की जाती है, उसमें अभिनिवेश न होना चाहिए। यह शरीर मनुष्य के लिये एक उपयुक्त कर्मोपकरण अवश्य है। जो भृत्य भृत्य-कर्म नहीं करता, उसको वस्त्रादि नहीं दिया जाता। शरीर को वेतन मात्र देना चाहिए। मन द्वारा शरीर को स्वायत्त करे। जो शरीर के स्वभाव और उपयोग को विचार कर उसको अपने वश में करता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। वह संसार का बंधु है। वह दूसरों का स्वागत करता है। वह निष्फल कार्य नहीं करता। सदा उसकी निःशब्द में अभिरति होती है। जिस प्रकार बक, विड़ाल और चोर निःशब्द भ्रमण करते हुए विवक्षित अर्थ को पाते हैं, उसी प्रकार आचरण करते हुए बोधिसत्व अभिमत फल पाता है।

जो दूसरों को उपदेश देने में दक्ष हैं और बिना प्रार्थना के ही दूसरों के हित की कामना करते हैं, उनका अपमान न करना चाहिए और उनका हित-विधायक वचन आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अपने को सब का शिष्य समझना चाहिए। सब से सब कुछ सीखना चाहिए। इस प्रकार ईर्ष्या-मल का प्रक्षालन करना चाहिए। कुशल कर्म करनेवाले को देखकर उसका पुण्यकर्म सराहे। सब सत्वों के सारे उपक्रम तुष्टि के लिये हैं। तुष्टि धन के विसर्ग द्वारा भी दुर्लभ है। इसलिये पराए गुण को श्रवण कर बिना परिश्रम किए तुष्टि सुख का अनुभव होता है। इसमें कुछ व्यय नहीं है और दूसरे को भी सुख मिलता है। पर दूसरे के गुण का अभिनंदन न करने से दुःख और द्वेष उत्पन्न होता है।

बोधिसत्व को मित और स्निग्धभाषी होना चाहिए। किसी से कर्कश वचन न बोले। सदा सबको सरल दृष्टि से देखे जिसमें लोग उसकी ओर आकृष्ट हों और उसकी बात का विश्वास करें। सदा कार्य-कुशल होना चाहिए और सत्वों के हित सुख का विधान करने के लिये नित्य उत्थान करना चाहिए। किसी कार्य में दूसरे

की अपेक्षा न करे। सब काम स्वयं करे। प्रातिमोक्ष में जिस कर्म का निषेध है, उसका आचरण न करे।

सद्धर्म-सेवक काय को थोड़े के लिये कष्ट न दे, अन्यथा महती अर्थ-राशि की हानि होगी। क्षुद्र अवसर पर अपने जीवन का परित्याग न करे, अन्यथा एक सत्व के अर्थ-संग्रह के लिये महान् अर्थ की हानि संपन्न होगी। सब सत्वों के लिये आत्मभाव का उत्सर्ग पहले ही हो चुका है। केवल अकाल परिभोग से उसकी रक्षा करना है। इस प्रकार उपाय-कौशल से विहार करता हुआ बोधिसत्व बोधि मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता।

सातवाँ अध्याय

क्षांतिपारमिता

अनेक प्रकार से शील-विशुद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका। आत्मभाव, पुण्य तथा भोग की रक्षा और शुद्धि का भी प्रतिपादन किया गया। अब क्षांतिपारमिता का उल्लेख करते हैं। शांतिदेव कारिका में कहते हैं—

क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम्॥

शिक्षा-समुच्चय में इस कारिका के प्रत्येक पद को लेकर व्याख्या की गई है।

मनुष्य में क्षांति होनी चाहिए। जो अक्षम है, वह श्रुतादि में खेद सहन करने की शक्ति न रखने के कारण अपना वीर्य नष्ट करता है। अखिन्न होकर श्रुत की इच्छा करनी चाहिए, क्योंकि बिना ज्ञान के समाधि का उपाय नहीं जाना जाता और क्लेश-शोधन का उपाय भी अधिगत नहीं होता। ज्ञानी के लिये भी संकीर्णचारी होने से समाधान दुष्कर है; इसलिये वन का आश्रय ले।

वन में भी बिना चित्त-समाधान के विक्षेप का प्रशमन नहीं होता, इसलिये समाधि करे। समाहित-चित्त होने पर भी बिना क्लेश-शोधन के कोई फल नहीं है; इसलिये अशुभ आदि की भावना करे।

जिस प्रकार अग्नि-कण तृण-राशि को दग्ध करता है, उसी प्रकार द्वेष सहस्रों कल्प के उपार्जित शुभ कर्म को तथा बुद्ध-पूजा को नष्ट करता है।

द्वेष के समान दूसरा पाप नहीं है और क्षांति के समान कोई तप नहीं है। इसलिये नाना प्रकार से क्षांति का अभ्यास करना चाहिए। जिसके हृदय में द्वेषानल प्रज्वलित है, उसको शांति और सुख कहाँ! उसको न नींद आती है और न उसका चित्त सुखी होता है। वह लाभ सत्कार से जिनका अनुनय करता है और जो उसके आश्रित हैं, वे भी उसका विनाश चाहते हैं। उसके मित्र भी उससे त्रास खाते हैं। दान देने पर भी उसकी कोई सेवा नहीं करता। संक्षेप में क्रोधी कभी सुखी नहीं होता। अतः मनुष्य को द्वेष के परित्याग के लिये यत्नवान् होना चाहिए। जो क्रोध का नाश करता है, वह इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है। द्वेष के उपघात के लिये उसके कारण का उपघात करना चाहिए। जो हमारी कल्पना में हमारे सुख का साधन है, वह इष्ट है; और जो इसके विपरीत है, वह अनिष्ट है। अनिष्ट के संपादन से अथवा इष्ट के उपघात से मानस दुःख की उत्पत्ति होती है। इस-लिये जो अनिष्टकारी है अथवा इष्ट-विरोधी है, उसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। दौर्मनस्य रूपी भोजन पाकर द्वेष बलवान् होता है; इसलिये द्वेष के नाश की इच्छा रखता हुआ बोधिसत्व सबसे पहले दौर्मनस्य का समूल उपघात करे, क्योंकि द्वेष का उद्देश्य वध ही है। इस प्रकार द्वेष के दोषों को भली भाँति जानकर द्वेष के विपक्ष रूप क्षांति का उत्पादन करे। क्षांति तीन प्रकार की है— (१) दुःखाधिवासना क्षांति; (२) परापकारमर्षण क्षांति और (३) धर्मनिध्यान क्षांति।

दुःखाधिवासना क्षांति वह है जिसमें अत्यंत अनिष्ट का आगम होने पर भी दौर्मनस्य न हो। दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है। वह केवल पुण्य का नाश करता है। अतः दौर्मनस्य के प्रतिपक्ष रूप 'मुदिता' की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। दुःख पड़ने पर प्रमुदित-चित्त रहना चाहिए। चित्त में क्षोभ या किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने देना चाहिए। दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है, वरंच प्रत्यक्ष हानि ही है। यदि इष्ट विघात का प्रतीकार हो, तो भी दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है; और यदि प्रतीकार न हो तो भी दौर्मनस्य व्यर्थ और निष्प्रयोजन है। ऐसा विचारकर दौर्मनस्य का परित्याग ही श्रेष्ठ है।

प्रतीकार होने पर भी क्षुब्ध व्यक्ति मोह को प्राप्त होता है और क्रोध से मूर्छित हो जाता है। उसको यथार्थ अयथार्थ का विवेक नहीं रह जाता। उसका उत्साह मंद पड़ जाता है और उसे आपत्तियाँ घेर लेती हैं। इसलिये प्रतीकार भी असफल हो जाता है। इसी से कहा है कि दौर्मनस्य निरर्थक और अनर्थवान् है। पर अभ्यास से दुःख अबाधक हो जाता है। अभ्यास द्वारा दौर्मनस्य का त्याग हो सकता है। अभ्यास से दुष्कर भी सुकर हो जाता है। सुख अत्यंत दुर्लभ है, दुःख सदा सुलभ है। दुःख का सर्वदा परिचय मिलता रहता है; इसलिये उसका अभ्यास कठिन नहीं है।

निस्तार का उपाय भी दुःख ही है; इसलिये दुःख का परिग्रह युक्त ही है। चित्त को दृढ़ करना चाहिए और कातरता का परित्याग करना चाहिए। बोधिसत्व तो अपने को तथा दूसरों को बुद्धत्व की प्राप्ति कराने का बीड़ा उठा चुका है। उसको तो कदापि कातर न होना चाहिए। यदि यह कहो कि अल्प दुःख तो किसी प्रकार सहा जा सकता है, पर करचरणशिरश्छेदनादि दुःख अथवा नरकादि दुःख किस प्रकार सहा जा सकेगा? ऐसी शंका अनुचित है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो अभ्यास द्वारा अधिगत न हो सके। अल्पतर व्यथा के अभ्यास से महती व्यथा

भी सही जा सकती है। अभ्यासवश ही जीवों को दुःख सुख का ज्ञान होता है; इसलिये दुःख के उत्पाद के समय सुख संज्ञा के प्रत्युपस्थान का अभ्यास करने से सुख संज्ञा ही का प्रवर्तन होता है। इससे सर्व धर्म-सुखाक्रांत नाम की समाधि का प्रतिलाभ होता है। इस समाधि के लाभ से बोधिसत्व सब कार्यों में सुखवेदना ही का अनुभव करता है।

क्षुत्पिपासा आदि वेदना को और मशक-दंश आदि व्यथा को निरर्थक न समझना चाहिए। इन मृदु व्यथाओं के अभ्यास के कारण ही हम महती व्यथा के सहन करने में समर्थ होते हैं। शीतोष्ण, वृष्टि, वात, मार्गक्लेश, व्याधि आदि का दुःख सुकुमार-चित्तता के कारण बढ़ता है; इसलिये चित्त को दृढ़ रखना चाहिए। हम देखते हैं कि कोई तो संग्राम भूमि में अपना रक्त बहता देखकर और भी वीरता दिखलाते हैं और कोई ऐसे हैं कि दूसरे का रुधिर-दर्शन होने से ही मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं। यह चित्त की दृढ़ता और कातरता के कारण है। इसलिये जो दुःख से पराजित नहीं होता, वही व्यथा को अभिभूत करता है। दुःख में भी पंडित को चित्त-क्षोभ न करना चाहिए, क्योंकि उसने क्लेश शत्रुओं से संग्राम छेड़ रखा है और संग्राम में व्यथा का होना अनिवार्य है। जो शत्रु के सम्मुख जाकर उसके प्रहारों को अपने वक्षःस्थल पर धारण करते हुए समर-भूमि में विजयी होते हैं, वे ही सच्चे विजयी और शूर हैं, शेष मृतमारक हैं।

दुःख का यह भी गुण है कि उस से यौवन, धनादिविषयक मद का भंग होता है और संसार के सत्त्वों के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

पित्तादिदोषत्रय के प्रति हम कोप नहीं करते, यद्यपि वे व्याधि उत्पन्न कर सब दुःखों के हेतु होते हैं। इसका कारण यह है कि हम समझते हैं कि वे अचेतन हैं और बुद्धिपूर्वक दुःखदायक नहीं हैं। इसी प्रकार सचेतन भी कारणवश ही कुपित होते हैं। पूर्व

कर्म के अपराध से वे कुपित होकर दुःखदायक होते हैं। उनका प्रकोप भी कारणाधीन है। इसलिये उन पर भी कोप न करना चाहिए। जिस प्रकार पित्तादि की इच्छा के बिना शूल अवश्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बिना इच्छा के कारण-विशेष से क्रोध उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य क्रोध करने के लिये ही इच्छापूर्वक क्रोध नहीं करता और न क्रोध विचारपूर्वक उत्पन्न होता है। मनुष्य जो अपराध या विविध पाप करता है, वह प्रत्यय बल से ही करता है। उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं होती। प्रत्यय-सामग्री को यह चेतना नहीं रहती कि मैं कार्य की उत्पत्ति कर रही हूँ; और कार्य को भी यह चेतना नहीं रहती कि अमुक प्रत्यय सामग्री द्वारा मैं उत्पन्न हुआ हूँ। यह जगत् प्रत्ययता मात्र है। सर्व धर्म हेतु प्रत्यय के अधीन हैं। अतः किसी वस्तु का संभव स्वतंत्र नहीं है। सांख्य के मत में प्रधान और वेदांत के मत में आत्मा स्वतंत्र है, पर यह कल्पित है। यदि प्रधान या आत्मा विषय में प्रवृत्त होता है तो उसकी निवृत्ति नहीं होती, अन्यथा अनित्यत्व का प्रसंग होगा। और यदि वह नित्य और अचेतन है तो स्पष्ट ही अक्रिय है, क्योंकि यद्यपि उसका प्रत्ययांतर से संपर्क भी हो, तब भी निर्विकार अर्थात् पूर्व स्वभाव से च्युत न होने से उसमें किसी प्रकार की क्रिया का होना संभव नहीं है। जो अक्रिया-काल तथा क्रिया-काल में एक रूप है, वह क्रिया का कौन सा अंश संपादित करता है? आत्मा और क्रिया में संबंध का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि क्रिया ही संबंध है तो इसमें कोई निमित्त नहीं ज्ञात होता। इस प्रकार सब बाह्य और आध्यात्मिक वस्तुएँ परायत्त हैं, स्वायत्त नहीं। हेतु भी स्वहेतु परतंत्र है। इस प्रकार अनादि संसारपरंपरा है। यहाँ स्ववशिता कहाँ संभव है? परमार्थ दृष्टि में कौन किसके साथ द्रोह करता है जिसके कारण अपराधी के प्रति द्वेष किया जाय? अतः जो चेष्टा और व्यापार-रहित हैं, उन पर कोप करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

यदि यह कहा जाय कि जब कोई स्वतंत्र नहीं है तो द्वेष आदि का निवारण भी संभव नहीं है; सब वस्तुजात प्रत्ययसामग्री के बल से उत्पन्न होते हैं; कौन निवारण करता है जब कि कोई स्वतंत्र कर्ता नहीं है? और किसका निवारण किया जाता है जब कि किसी वस्तु की स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है? अतः द्वेषादि से निवृत्ति का उपाय भी व्यर्थ है, क्योंकि सब कुछ परवश है, स्ववश नहीं है। ऐसी शंका करना उचित नहीं है। यद्यपि सर्व वस्तु-जात व्यापार-रहित है, तथापि प्रत्यय बल से उत्पन्न होने के कारण परतंत्र है। अविद्यादि प्रत्यय बल से संस्कारादि उत्तरोत्तर कार्य-प्रवाह का प्रवर्तन होता है और पूर्व पूर्व की निवृत्ति से निवर्तन होता है। इसलिये दुःख की निवृत्ति अभिमत है। द्वेषादि पाप प्रवृत्ति-निवारण रूपी प्रत्यय बल से अभ्युदय निःश्रेयस फल की उत्पत्ति होती है। इसलिये यदि शत्रु या मित्र कुछ अपकार करें तो यह विचार कर कि ऐसे ही प्रत्यय बल से उसकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है, दुःख से संतप्त न होना चाहिए। अपनी इच्छा मात्र से इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-हानि नहीं होती, हेतु-वश ही होती है। यदि इच्छा मात्र से अभीष्ट-सिद्धि होती तो किसी को दुःख न होता, क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता; सभी अपना सुख चाहते हैं।

दूसरे के किए हुए अपकार को सहन करना और उसका प्रत्यपकार न करना परापकारमर्षण क्षांति है। प्रमादवश, क्रोधवश अथवा अगम्यपरदारधनादिलिप्सावश सत्व अनेक कष्ट उठाते हैं; पर्वतादि से गिरकर अथवा विष खाकर आत्महत्या कर लेते हैं अथवा पापाचरण द्वारा अपना विनाश करते हैं। जब क्लेशवश हो सत्व अपने आपको पीड़ा पहुँचाते हैं, तब पराए के लिये अपकार-विरत कैसे हो सकते हैं? अतः ये जीव कृपा के पात्र हैं न कि द्वेष के स्थान। ये क्लेश से उन्मत्त हो परापकार द्वारा आत्मघात में प्रवृत्त हैं, अतः ये दया के पात्र हैं। इनके प्रति क्रोध कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि दूसरों के साथ उपद्रव करना बालकों का स्वभाव है तो उन पर कोप करना उपयुक्त नहीं। अग्नि

का स्वभाव जलाना है। यदि वह दहन क्रिया छोड़ दे तो तत्स्वभावता की हानि का प्रसंग उपस्थित हो। यह विचारकर कोई अग्नि पर कोप नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि सत्व दुष्ट स्वभाव के नहीं हैं वरंच सरल स्वभाव के हैं और यह दोष आगंतुक है, तब भी इन पर कोप करना अयुक्त होगा जिस प्रकार धूम से आच्छन्न आकाश के प्रति क्रोध करना मूर्खता है। आकाश का स्वभाव निर्मल है। वह प्रकृति परिशुद्ध है। कटुता उसका स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति शुद्ध सत्वों पर आगंतुक दोष के लिये क्रोध करना मूर्खता है।

कटुता आकाश का स्वभाव नहीं है, धूम का है। इसलिये धूम से द्वेष करे, न कि आकाश से। अतः सत्वों पर क्रोध न कर दोषों पर क्रोध करना चाहिए। दुःख का जो प्रधान कारण है, उसी पर कोप करना चाहिए न कि अप्रधान कारण पर। शरीर पर दंड-प्रहार होने से जो दुःख वेदना होती है, उसका मुख्य कारण दंड ही प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि दंड दूसरे की प्रेरणा से दुःख वेदना उत्पन्न करता है, इसमें दंड का क्या दोष है? इसलिये दंड के प्रेरक से द्वेष करना युक्त होगा; तो यह अधिक समुचित होगा कि दंड-प्रेरक के प्रेरक द्वेष से द्वेष किया जाय।

मुख्यं दंडादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वर॥ बोधि० ६।४१॥

बोधिसत्व को विचार करना चाहिए कि मैंने भी पूर्व जन्म में सत्वों को ऐसी ही पीड़ा पहुँचाई थी, इसलिये यह युक्त है कि ऋण-परिशोधन न्यायेन मेरे साथ भी दूसरा अपकार करे। अपकारी का शस्त्र और मेरा शरीर दोनों दुःख का कारण हैं। उसने शस्त्र ग्रहण किया है और मैंने शरीर ग्रहण किया है। यदि कारणोपनायक पर ही क्रोध करना है तो अपने ऊपर भी क्रोध करना चाहिए।

जो कार्य की अभिलाषा नहीं करता, उसको उसके कारण का ही परिहार करना चाहिए। पर मेरी तो उलटी मति है। मैं दुःख नहीं चाहता, पर दुःख के कारण शरीर में मेरी आसक्ति है। इसमें अप-

राध मेरा है। दूसरे पर कोप करना व्यर्थ है। दूसरा तो सहकारी मात्र है। आत्मवध के लिये मैं स्वयं शस्त्र ग्रहण किए हूँ, तो दूसरे पर कोप क्यों करूँ ? नरक का असिपत्र वन और वहाँ के पक्षी जो नरक में मेरे दुःख के हेतु हैं, वे मत्कर्म-जनित हैं। इसमें दूसरा कारण नहीं है। इसी प्रकार दूसरा यदि मेरे साथ दुष्ट व्यवहार करता है और उससे मुझको दुःख उत्पन्न होता है, तो उसमें भी मेरा कर्म ही हेतु है। ऐसा विचार कर कोप न करना चाहिए।

मैंने पहले दूसरों के साथ अपकार किया, इसलिये मेरे कर्म से प्रेरित होकर वे भी अपकार करते हैं और नरक में निवास करते हैं। इसलिये मैंने ही इनका नाश किया। इन्होंने मेरा विघात नहीं किया। इस प्रकार चित्त का बोध करना चाहिए।

इन अपकारियों के निमित्त क्षांति धारण करने से पूर्व जन्मकृत परापकार जनित पाप दुःखानुभव द्वारा क्षीण हो जाता है और मेरे निमित्त इनका नरक-गमन होता है जहाँ इनको दुःसह दुःख का अनुभव करना होता है। इस प्रकार मैं ही इनका अपकारी हूँ और यह मेरे उपकारी हैं। फिर उपकारी के प्रति मेरी अपकार की बुद्धि क्यों है ?

मैं यदि अपकारी होते हुए भी किसी उपाय-कौशल से यथा प्रत्यपकार-निवृत्ति निष्ठा द्वारा नरक न जाऊँ और अपनी रक्षा करूँ तो इसमें इन उपकारियों की क्या क्षति है ? यदि ऐसा है तो उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करनी चाहिए और अपकार निवृत्ति द्वारा अपनी रक्षा न करनी चाहिए। पर प्रत्यपकार करने से भी इनकी रक्षा नहीं होती। इनको अपने पाप कर्म का फल भोगने के लिये नरक में अवश्य निवास करना होगा और ऐसा करने से मैं बोधिसत्वचर्या से भ्रष्ट हो जाऊँगा। कहा है—सर्वसत्वेषु न मैत्र-चित्तं मया निक्षेप्तव्यं। अन्तशो न दग्धस्थूणायामपि प्रतिघचित्तमुत्पादयितव्यम्।

इसके अतिरिक्त मैं सब सत्वों की रक्षा करने में अशक्य हो जाऊँगा और इस प्रकार वे दुर्गति में पड़ेंगे।

[शेष आगे

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गईं—

१—पुरुषार्थ—ले० स्वर्गवासी बाबू जगन्मोहन वर्मा।
२—तर्कशास्त्र २ भाग—ले० बाबू गुलाबराय।
३—हिंदी शब्दसागर, अंक ३७, ३८।
४—हिंदी व्याकरण (बृहत्)
५—प्राचीन आर्य-वीरता—लेखक पं० द्वारकाप्रसाद शर्मा।

नवीन संस्करण

१—मितव्यय।
२—संक्षिप्त हिंदी व्याकरण।
३—मध्य हिंदी व्याकरण।
४—हिंदी निबंधमाला भाग १, २।
५—प्रथम हिंदी व्याकरण।
६—वीरमणि।
७—महर्षि सुकरात।
८—आदर्श जीवन।
९—हरिश्चंद्र काव्य।

छप रही हैं

१—हिंदू राज्य-तंत्र।
२—शिखर-वंशोत्पत्ति।
३—मौर्य्यकालीन भारत।

प्रकाशन-मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ८—अंक ४

संपादक

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:*:—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

माघ संवत् १९८४]

[मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१२—बोधिचर्या [लेखक—अध्यापक नरेंद्रदेव वर्म्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी] ३६१

१३—सागर का बुंदेली शिलालेख [लेखक—रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, कटनी—जबलपुर] ... ३६५

१४—गोस्वामी तुलसीदासजी [लेखक—पंडित मयाशंकर याज्ञिक, बी० ए०, भरतपुर] ४०१

१५—मृगयाविनोद [लेखक—श्रीयुक्त कुँवर कन्हैयाजू] ४०६

१६—हिंदी साहित्य में बिहारी [लेखक—पंडित ललिताप्रसाद सुकुल एम० ए०, प्रयाग] ४२१

१७—पुष्कर [लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर] ४३३

१८—हस्तलिखित प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट [लेखक—रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, कटनी] ४५६

[महाराज खारवेल का शिलालेख-संबंधी चित्र]
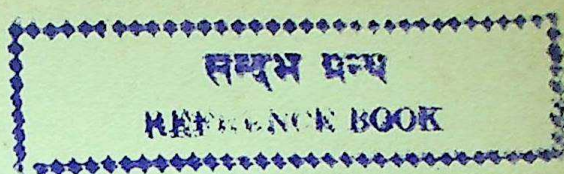
(१२) बोधिचर्या

अर्थात्

महायान धर्म की साधना

[लेखक—अध्यापक नरेंद्रदेव वर्म्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी]

(पत्रिका भाग ८ अंक ३ पृष्ठ ३६० से आगे)

अब धर्मनिध्यान क्षांति बतलाते हैं।

दुःख दो प्रकार का है—कायिक और मानसिक। इसमें मानसिक दुःख परमार्थतः नहीं है, क्योंकि मन अमूर्त है और इसलिये मन पर दंडादि द्वारा प्रहार शक्य नहीं है। पर इस कल्पना द्वारा कि यह शरीर मेरा है, शरीर को दुःख पहुँचने से चित्त भी दुःखी होता है। पर अयश और परुष वाक्य तो शरीर का उपघात नहीं करते। फिर किस लिये इनसे चित्त कुपित होता है ? यदि यह कहा जाय कि जब लोग मेरे अयश इत्यादि की बात सुनते हैं, तो वे मुझसे अप्रसन्न होते हैं और उनकी अप्रसन्नता मुझको अभीष्ट नहीं है। पर लोकाप्रसाद न इस लोक में मेरा अनर्थ संपादन कर सकता है न जन्मांतर में, ऐसा विचारकर लोक की अप्रसन्नता में अभिनिवेश न करना चाहिए।

यदि यह संदेह हो कि लाभ का विघात होगा, लोग मुझसे विमुख हो जायँगे और पिंडपातादि लाभ सत्कार से मुझको वंचित रखेंगे, तो यह विचारना चाहिए कि लाभ विनश्वर होने के कारण नष्ट हो जायगा, पर पाप सदा स्थिर रहेगा।

नंक्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवम्। बोधि० ६। ५५।

लाभ के अभाव में आज ही मर जाना अच्छा है, पर परापकार द्वारा लाभ सत्कार पाकर चिरकाल तक मिथ्या जीवन व्यतीत करना

बुरा है, क्योंकि चिरकाल तक जीवित रहने में भी मृत्यु का दुःख वैसा ही बना रहता है। एक स्वप्न में १०० वर्ष का सुख अनुभव कर जागता है और दूसरा मुहूर्त के लिये सुखी होकर जागता है। स्वप्नोपलब्ध सुख जाग्रत अवस्था में लौट नहीं आता। उसका स्मरण मात्र अवशिष्ट रह जाता है। जाग्रत अवस्था में उपभुक्त सुख भी विनष्ट होकर नहीं लौटता। इसी प्रकार मनुष्य चाहे चिरजीवी हो या अल्पजीवी, उसका उपभुक्त सुख मरण समय विनष्ट हो जाता है। प्रचुरतर लाभ सत्कार पाकर और दीर्घ काल पर्यंत अनेक सुखों का उपभोग करके भी अन्त में खाली हाथ और नग्न जाना होता है, मानों किसी ने सर्वस्व हर लिया हो।

लब्ध्वापि च बहूंल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ॥ बोधि० ६। ५९।

यदि यह विचार हो कि लाभ द्वारा चीवरादि का विघात न होने से चिरकाल तक जीवित रहकर पापक्षय और पुण्यसंचय करेंगे, तो यह भी स्मरण रहे कि लाभ के लिये द्वेष करनेवाले का सुकृत नष्ट हो जाता है और अक्षांति से पापराशि की उत्पत्ति होती है।

पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जीवन् करोमि चेत्।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु ॥ बोधि० ६। ६०।

जिसके लिये मेरा जीवन है, यदि वही नष्ट हो जाय तो ऐसे निन्दित जीवन से क्या लाभ? बोधिसत्व का जीवन इतरजन के जीवन के सदृश निष्प्रयोजन नहीं है। उसका जीवन पाप के क्षय के लिये और पुण्य की अभिवृद्धि के लिये है। यदि यह उद्देश्य फलीभूत न हो और सुकृत का क्षय हो तो ऐसा अशुभ जीवन व्यर्थ है। यदि यह कहो कि जो मेरे गुणों को छिपाकर केवल दोषों का आविष्करण करता है, उससे मेरा द्वेष करना युक्त है, क्योंकि वह सत्वों का नाश करता है, तो जब दूसरे किसी का कोई अयश प्रकाशित करता है तो उसके प्रति तुमको क्यों कोप नहीं उत्पन्न होता? जो दूसरे की

निंदा करता है, उसको तो तुम क्षमा कर देते हो, उसके प्रति क्रोध नहीं करते। तब अपनी निंदा करनेवाले को भी क्षमा क्यों नहीं करते ?

जो प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म के निंदक या नाशक हों, उनके प्रति भी श्रद्धावश द्वेष करना युक्त नहीं है। इससे बुद्धादि को कोई पीड़ा नहीं पहुँचती। यदि कोई गुरुजन, सहोदर भाई तथा अन्य बंधुवर्ग का भी अपकार करे तो उस पर भी क्रोध न करना चाहिए। एक अज्ञान के वश हो दूसरे के साथ अपकार करता है अथवा दूसरे की निंदा करता है, तो दूसरा अपकारी पर मोहवश क्रोध करता है। इनमें से किसको अपराधी और किसको निर्दोष कहें ? दोनों का दोष समान है। पहले ऐसे कर्म क्यों किए जिनके कारण दूसरों द्वारा पीड़ित होना पड़ता है ? सब अपने कर्म के अधीन हैं। कर्मफल के निवर्तन में कोई समर्थ नहीं है, ऐसा विचार कर कुशल कर्म के संपादन में यत्नवान् होना चाहिए जिसमें सन्मार्ग में प्रवेश कर सब सत्व द्रोह छोड़कर एक दूसरे के हित सुख-विधान में तत्पर हों।

जिस प्रकार जब एक घर में आग लगती है और वह आग फैल कर दूसरे घर में जाती है और वहाँ के तृणादि में लगती है, तब शीघ्र उस तृण आदि को हटाकर उसकी रक्षा का विधान किया जाता है, उसी प्रकार चित्त जिस वस्तु के संग से द्वेषाग्नि से दह्यमान हो, उस वस्तु का उसी क्षण परित्याग करना चाहिए।

जिसको मारण दंड मिला है, यदि वह हस्तच्छेदमात्रानंतर मुक्त कर दिया जाय तो इसमें उसका स्पष्ट लाभ है, क्षति नहीं है। इसी प्रकार यदि मनुष्य को दुःख का अनुभव कर नरक-दुःख से छुटकारा मिले तो इसमें सुखी होना चाहिए, क्योंकि नरक-दुःख की अपेक्षा मनुष्य-दुःख कुछ भी नहीं है। यदि इतना भी दुःख नहीं सहा जा सकता तो उस क्रोध का निवारण क्यों नहीं करते जिसके कारण नरक की व्यथा भोगनी पड़ती है ? इसी क्रोध के निमित्त

अनेक सहस्र बार मुझको नरक-व्यथा सहनी पड़ी है। इससे न मैंने अपना उपकार किया न दूसरों का। इसलिये यह सारा दु:खानुभव निष्प्रयोजन ही हुआ। पर मनुष्य-दु:ख नरक-दु:ख के समान कठोर नहीं है और यह इसके अतिरिक्त बुद्धत्व का साधन भी है। अतः इस दु:ख में अभिरुचि होनी चाहिए, क्योंकि यह संसार के दु:ख का प्रशमन करेगा। यदि किसी गुणी के गुणों का वर्णन कर दूसरे सुखी होते हैं तो तुम भी उसका गुणानुवाद कर अपने मन को क्यों नहीं प्रसन्न करते? ईर्ष्यानल की ज्वाला से क्यों जलते हो? यह सुख अनिंद्य है और सुख का कारण है। इसमें सबसे बड़ा गुण यह है कि सत्वों के आवर्जन का यह सर्वोत्तम उपाय है।

यदि यह कहो कि पराए की गुण-प्रशंसा मुझको प्रिय नहीं है क्योंकि इसमें दूसरे को सुख प्राप्त होता है, तो इससे बड़ा अनर्थ संपादित होगा। इससे ऐहिक और पारलौकिक दोनों फल नष्ट हो जायँगे। दूसरे की सुख-संपत्ति को देखकर कुढ़ना अनुचित है। जब अपने गुण का संकीर्तन सुन तुम यह इच्छा करते हो कि दूसरे प्रसन्न हों, तो क्यों दूसरों की प्रशंसा सुनकर तुम स्वयं प्रसन्न नहीं होते? तुमने इसलिये बोधिचित्त का ग्रहण किया है कि बुद्धत्व के अनुपम लाभ द्वारा सब सत्वों को समस्त सुख-संपत्ति का उपभोग करावेंगे; तो फिर यदि वे स्वयं सुख प्राप्त करें तो इससे क्यों अप्रसन्न होते हो? दूसरे की सुख-संपत्ति देख तुम्हारी यह असहिष्णुता क्यों है? तुम तो यह आकांक्षा रखते हो कि सत्वों को बुद्धत्व प्राप्त करावेंगे जिसमें वे त्रैलोक्य में पूजे जायँ। फिर उनके स्वल्प लाभ सत्कार को देखकर क्यों जलते हो?

त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्वानां किल वाञ्छसि।
सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिदह्यसे॥ बोधि० ६। ८१।

सब सत्व तुम्हारे आत्मीय हैं। उनके पोषण का भार तुमने अपने ऊपर लिया है। जो उनका पोषण करता है, वह तुम्हीं को देता है। ऐसे पुरुष को पाकर तुम क्रोध करते हो। उनको सुखी देख तुमको

सुखी होना चाहिए। यदि यह कहो कि बुद्धत्व ही के लिये मैंने जगत् को आमंत्रित किया है न कि अन्य सुख के लिये, तो यह उपयुक्त नहीं है। जो सत्वों के लिये बुद्धत्व की इच्छा रखता है, वह उनके लिये लौकिक तथा लोकोत्तर समस्त वस्तुजात की इच्छा रखता है। जो दूसरे की सुख-संपत्ति को देखकर क्रुद्ध होता है और दूसरे का लाभ सत्कार नहीं देख सकता, उसकी बोधिचित्त की प्रतिज्ञा मिथ्या है। यदि उसने लाभ सत्कार न पाया तो दान की वस्तु दानपति के घर में रहती है। वह वस्तु किसी अवस्था में भी तुम्हारी नहीं हो सकती। लाभ सत्कार का पानेवाला क्या उस पूर्व जन्मकृत पुण्य का निवारण करे जिसके कारण उसको लाभ सत्कार प्राप्त होता है अथवा दाता का निवारण करे? अथवा अपने गुणों का निवारण करे जिनसे प्रसन्न हो दानपति लाभ सत्कार का दान करता है? कहो, किस प्रकार से तुम्हारा परितोष हो? तुम अपने किए हुए पापों के लिये शोक नहीं करते, पर दूसरों के पुण्य की ईर्ष्या करते हो। यदि तुम्हारी अभिलाषा मात्र से तुम्हारे शत्रु का अनिष्ट संपादित हो तो उससे क्या फल मिलेगा? बिना हेतु के केवल तुम्हारी अभिलाषा से ही किसी का अनिष्ट नहीं हो सकता। यदि हो भी तो दूसरे के दुःख में तुमको क्या सुख मिलता है? यदि दूसरे को दुखी देखना ही तुम्हारा अभिप्राय हो और इसी में अपना सुख मानते हो तो इससे बढ़कर तुम्हारे लिये क्या अनर्थ हो सकता है? यम के दूत तुमको ले जाकर कुंभीपाक नरक में पकावेंगे। स्तुति के विघात से दुःख उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। स्तुति, यश अथवा सत्कार से न पुण्य की वृद्धि होती है, न आयु की, न बल की; न आरोग्य लाभ होता है और न शरीर-सुख प्राप्त होता है। बुद्धिमान पुरुष इन पाँच प्रकार के पुरुषार्थों की कामना करता है। यश के लिये लोग अपने धन और प्राण को भी तुच्छ समझते हैं। यश के लिये मरने पर उसका सुख किसको प्राप्त होता है? केवल अक्षर मात्र हैं। तो क्या अक्षर खाए जायँगे? यह बाल-क्रीड़ा के

समान है। जिस प्रकार एक बालक धूलिमय गृह बनाकर परम परितोष से क्रीड़ा करता है, पर उसके भग्न हो जाने पर अत्यंत दुखी हो करुण स्वर से आर्तनाद करता है, उसी प्रकार उस व्यक्ति की दशा होती है जो स्तुति और यशरूपी खिलौनों से खेलता है और उनके विघात से दुखी होता है।

यदि कोई मुझसे या किसी दूसरे से प्रीति करता है तो मुझे क्या ? यह प्रीति-सुख उसी का है। इसमें मेरा किंचिन्मात्र भी भाग नहीं है। यदि दूसरे के सुख से सुख की प्राप्ति हो तो सर्वत्र ही मुझको सुख की प्राप्ति हो; और जब कोई किसी का लाभ सत्कार करे तो मुझको भी सुख हो। पर ऐसा नहीं होता। मैं तो तभी प्रसन्न होता हूँ जब दूसरे मेरी प्रशंसा करते हैं। यह तो बाल-चेष्टा है। स्तुति आदि कल्याण की घातक होती हैं। स्तुति आदि द्वारा गुणी के प्रति ईर्ष्या और परलाभसत्कारामर्षण का उदय होता है। स्तुति आदि में यह दोष है। इसलिये जो मेरी निंदा के लिये उद्यत है, वह नरकपात से मेरी रक्षा करने में प्रवृत्त हुआ है। लाभ सत्कार विमुक्ति के लिये बंधन हैं। मैं मुमुक्षु हूँ। इसलिये जो इन बंधनों से मुझको मुक्त करता है, वह शत्रु किस प्रकार है ? वह तो एक प्रकार का कल्याण-मित्र है। इसलिये उससे द्वेष करना अयुक्त है। यह बुद्ध का ही माहात्म्य है कि मैं तो दुःखसागर में प्रवेश करना चाहता हूँ और ये कपाट बंद कर मेरा मार्ग अवरुद्ध करना चाहते हैं; अतः दुःख से मेरी रक्षा करते हैं। फिर क्यों मैं इनसे द्वेष करूँ ? जो पुण्य का विघात करे उस पर भी क्रोध करना अयुक्त है, क्योंकि क्षांति, तितिक्षा के तुल्य कोई तप अर्थात् सुकृत नहीं है और यह सुकृत बिना किसी यत्न के ही उपस्थित होता है। पुण्यविघ्नकारी के छल से पुण्यहेतु की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत यदि मैं पुण्यविघ्नकारी को क्षमा न करूँ तो मैं ही पुण्यहेतु उपस्थित होने पर पुण्य का बाधक होता हूँ। यदि वह पुण्य विघातकारी है तो किस प्रकार वह पुण्य का हेतु हो सकता है ? यह शंका उचित

नहीं है। जिसके बिना कार्य नहीं होता और जिसके रहने पर ही कार्य होता है, वही उस कार्य का कारण है; वह उसका विघात हेतु नहीं कहलाता। दान देने के समय यदि दानपति के पास कोई अर्थी आवे तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस याचक ने दान में विघ्न डाला, क्योंकि वह दान का कारण है। बिना अर्थी के दान प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार शिक्षा ग्रहण कराने के लिये यदि परिव्राजक आवे तो उसकी प्राप्ति प्रव्रज्या में विघ्नकारक नहीं है। लोक में याचक सुलभ हैं, पर अपकारी दुर्लभ हैं; क्योंकि जो दूसरे के साथ बुराई नहीं करता, उसका कोई अनिष्ट नहीं करता। इसलिये यह समझना चाहिए कि मेरे घर में बिना श्रम के एक निधि उपार्जित हुई है। अपने शत्रु का कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि वह बोधिचर्या में सहायक है। इस प्रकार क्षमा का फल मुझको और उसको दोनों को मिलता है। वह मेरे धर्म में सहायक है, इसलिये यह क्षमा-फल पहले उसी को देना चाहिए।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि क्या ऐसा युक्ति-युक्त होता, यदि शत्रु इस अभिप्राय से कार्य में प्रवृत्त होता कि मुझको क्षमा-फल की प्राप्ति हो? यद्यपि शत्रु कुशल का हेतु है, तथापि वह इस बुद्धि से अपकार नहीं करता कि दूसरों को क्षमा-फल प्राप्त हो। ऐसा होते हुए भी शत्रु पूजनीय है। जैसे सद्धर्म की पूजा इसलिये होती है कि वह कुशल-निष्पत्ति का हेतु है, यद्यपि वह अचित्त अर्थात् निरभिप्राय है। यदि अभिप्राय ही पूजा में हेतु होता तो आशय-शून्य होने से सद्धर्म भी पूजनीय न होता। यदि यह कहो कि अपकार बुद्धि होने से शत्रु की पूजा न करनी चाहिए, तो अन्यथा क्षांति कैसे हो? अपकार का न सहना या प्रत्यपकार करना युक्त नहीं है। जिस प्रकार हितसुखविधायक सुवैद्य के प्रति रोगी का प्रेम और आदर भाव रहता है, द्वेष का गंध भी नहीं रहता, वहाँ क्षांति का प्रश्न ही नहीं उठता, उसी प्रकार जो अपकारी नहीं है, उसके प्रति द्वेष-चित्त के निवर्तन का क्या प्रश्न?

दुष्टाशय के कारण ही क्षमा की उत्पत्ति होती है, शुभाशय को लक्ष्य कर नहीं होती, इसलिये वह क्षमा का हेतु है और सद्धर्म की तरह उसका सत्कार करना चाहिए। मुझे उसके आशय के विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

सत्व-क्षेत्र और जिन-क्षेत्र का वर्णन भगवान् ने किया है, क्योंकि इनकी अनुकूलता से बहुतों ने बुद्धत्व प्राप्त कर लौकिक और लोकोत्तर सर्व संपत्ति पर्यंत पाई है। यद्यपि सत्व सर्व संपत्ति के हेतु हैं, तथापि तथागत बुद्ध के साथ उनकी समानता युक्त नहीं है, ऐसी शंका हो सकती है। पर ऐसी शंका करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जब दोनों से समान रूप में बुद्ध-धर्मों का आगम होता है, तब जिनों के प्रति गौरव होना और सत्वों के प्रति न होना युक्त नहीं है। सत्व यदि रागादि मलों से संयुक्त होने के कारण हीनाशय हैं, तो भगवत् समानता कैसे हो सकती है? यह शंका भी अनुचित है, क्योंकि यद्यपि भगवान् का माहात्म्य अपरिमित पुण्य और ज्ञान के होने के कारण लोकोत्तर है, तथापि कार्य के तुल्य होने से सम माहात्म्य कहा जाता है। सत्व जिन के समान इसी लिये हैं, क्योंकि वह भी बुद्धधर्म का लाभ कराते हैं, यद्यपि परमार्थ दृष्टि में वह भगवान् के समान नहीं हैं; क्योंकि भगवान् गुणों के सागर हैं और गुणार्णव का एक देश भी अनंत है। यदि किसी सत्व में बुद्ध के गुणों की एक कणिका भी पाई जाय तो तीनों लोक भी उसकी पूजा के लिये अपर्याप्त हैं।

अकृत्रिम सुहृद और अनंत उपकार करनेवाले बुद्ध तथा बोधि-सत्वों के प्रति जो अपकार किया गया है, उसका परिशोधन इससे बढ़कर क्या हो सकता है कि जीवों की सेवा करे? बोधिसत्व जीवों के हित सुख के लिये अपने अंग काट काटकर दे देते हैं और अवीची नामक नरक में सत्वों के उद्धार के लिये प्रवेश करते हैं। इसलिये परम अपकार करनेवाले की ओर से भी चित्त को दूषित नहीं करना चाहिए, किंतु अनेक प्रकार से मनसा वाचा कर्मणा

दूसरों का कल्याण ही करना चाहिए। इसी से लोकनायक बुद्ध अनुकूल होंगे और इसी से वांछित फल मिलेगा। बोधिसत्व को विचारना चाहिए कि जिनके निमित्त भगवान् अपने शरीर और प्राणों की उपेक्षा करते हैं और तृणवत् उनका परित्याग करते हैं, उन सत्वों से वह कैसे मान कर सकता है ? सत्वों को सुखी देखकर मुनींद्र हर्ष को प्राप्त होते हैं और उनकी पीड़ा से उनको विषाद होता है। उनकी प्रसन्नता में बुद्धों की प्रसन्नता है और उनका अपकार करने से बुद्ध अपकृत होते हैं।

जिसका शरीर चारों ओर से अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है, वह किसी प्रकार इच्छाओं में सुख नहीं मानता। उसी प्रकार जब सत्वों को दुःख-वेदना होती है, तब दयामय भगवान् प्रसन्न नहीं होते। मैंने सत्वों को दुःख देकर सब बुद्धों को दुःखित किया है। इसलिये आज मैं अपना पाप महाकारुणिक जिनों के आगे प्रकाश करता हूँ। मैंने उनको दुःख पहुँचाया, इसलिये क्षमा माँगता हूँ। मैं अपने को सब प्रकार से लोगों का दास मानता हूँ। लोग चाहे मेरे सिर पर पैर रखें, उनका पैर मैं प्रसन्नता से सिर पर धारण करूँगा। इसमें संशय नहीं है कि बुद्ध और बोधिसत्वों ने समस्त जगत् को अपनाया है। यह निश्चित है कि बुद्ध सत्व के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। वे नाथ हैं। हम उनका अनादर कैसे कर सकते हैं ?

आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत्तैः कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति।
दृश्यन्त एते ननु सत्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र॥

—बोधि० ६। १२६।

तथागत बुद्ध इसी से प्रसन्न होते हैं। स्वार्थ की सिद्धि भी इसी से होती है। लोक का दुःख भी इसी से नष्ट होता है। इसलिये यही मेरा व्रत हो।

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव, तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव॥

—बोधि० ६।१२७।

एक राजपुरुष जन-समूह का विमर्दन करता है और वह समूह उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। वह अकेला नहीं है। उसको राजबल प्राप्त है। इसी प्रकार जो अपराध करता है, उसको दुर्बल समझकर अपमानित न करना चाहिए। वह अकेला नहीं है। नरकपाल और दयामय उसके बल हैं। इसलिये जैसे भृत्य कुपित राजा को प्रसन्न करता है, उसी प्रकार सबको सत्वों को प्रसन्न करना चाहिए। कुपित होकर भी राजा उतना कष्ट नहीं दे सकता जितना कष्ट सत्वों को अप्रसन्न कर नारकी यातना के अनुभव से मिलता है। राजा प्रसन्न होकर यदि बड़े से बड़ा पदार्थ भी दे, तब भी वह बुद्धत्व की समता नहीं कर सकता जो सत्वाराधन से मिलता है। सत्वाराधन से भविष्य में बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ साथ इस लोक में सौभाग्य, यश और सुख मिलता है। जो क्षमा करता है, वह संसार में आरोग्य, चित्तप्रसाद, दीर्घायु और अत्यंत सुख पाता है।

आठवाँ अध्याय

वीर्य-पारमिता

जो क्षमी है, वही वीर्य लाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठित है। वीर्य के विना पुण्य नहीं है, जैसे वायु के बिना गति नहीं है। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपक्ष आलस्य, कुत्सित में आसक्ति, विषाद और आत्म-अवज्ञा हैं। संसार-दुःख का तीव्र अनुभव न होने से कुशल-कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। इस निर्व्यापारिता से आलस्य होता है। क्या नहीं जानते कि क्लेश रूपी मछुओं से आक्रांत तुम जन्म के जाल में पड़े हो? क्या नहीं जानते कि मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो? क्या अपने वर्ग के लोगों को, एक के बाद दूसरे को, मारे जाते नहीं देखते हो? तुम यह देखकर भी निद्रा के मोह-जाल में पड़े हो। अपने को निःशरण देखकर भी सुखपूर्वक बैठे हो। तुमको

भोजन कैसे रुचता है, नींद क्योंकर आती है और संसार में रति कैसे होती है? आलस्य छोड़कर कुशलोत्साह की वृद्धि करो। मृत्यु अपनी सामग्री एकत्र कर शीघ्र ही तुम्हारे वध के लिये आ उपस्थित होगी। उस समय तुम कुछ न कर सकोगे। उस समय तुम इस चिंता से विह्वल हो जाओगे कि हा! जो काम विचारा था, वह न कर सके; जिसका आरंभ किया था या जिसको कुछ निष्पन्न किया था, उस कार्य को समाप्त न कर सके और बीच ही में अकस्मात् मृत्यु का आक्रमण हुआ। तुम उस समय यमदूतों के मुख की ओर निहारोगे; तुम्हारे बंधु बांधव तुम्हारे जीवन से निराश हो जायँगे और शोक के वेग से उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होगी। मरण समय उपस्थित होने पर सुकृत या पापकर्म का स्मरण होने से तुमको पश्चात्ताप होगा। तुम नारक शब्दों को सुनोगे और त्रास से पुरीषोत्सर्ग के कारण तुम्हारे गात्र मल-मूत्र से उपलिप्त हो जायँगे। शरीर, वाणी और चित्त तुम्हारे अधीन न रहेगा। उस समय तुम क्या करोगे? ऐसा समझकर स्वस्थ अवस्था में ही कुशल-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। जिस प्रकार बहुत से लोग क्रमशः खाने के लिये ही मछलियों को पालते हैं, उनका मरण आज नहीं तो कल अवश्य होगा, उसी प्रकार सत्वों को समझना चाहिए कि आज नहीं तो कल मृत्यु अवश्यमेव होगी। उन लोगों को विशेष कर तीव्र नरक-दुःख से भयभीत होना चाहिए जिन्होंने पापकर्म किया है। सुकुमार होने के कारण जब तुम उष्णोदक के स्पर्श को भी सहन नहीं कर सकते, तो नारक कर्म करके सुखासीन क्यों हो? बिना पुरुषार्थ किए फल की आकांक्षा करते हो; दुःख सहने की सामर्थ्य नहीं है; मृत्यु के वशीभूत हो। तुम्हारी दशा कष्ट-पूर्ण है। अष्टाक्षण-विनिर्मुक्त मनुष्य भाव रूपी नौका तुमको मिली है। दुःखमयी महानदी को पार करो। वीर्य का अवलंबन कर सब दुःखों को पार करो। यह निद्रा का समय नहीं है। यदि इस समय पुरुषार्थ न करोगे तो फिर नौका

का मिलना कठिन होगा। समागम बार बार नहीं होता। कुत्सित कर्मों में आसक्त न हो। शुभ कर्मों में रति होने से अपर्यंत सुख-प्रवाह प्रवाहित होता है। इसको छोड़कर तुम्हारी प्रवृत्ति रति, हास, क्रीड़ा इत्यादि में क्यों है? यह केवल दुःख का हेतु है।

अविषाद, बलव्यूह, निपुणता, आत्मवशवर्तिता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन से वीर्य-समृद्धि का लाभ होता है। कोई पुरुष विशेष अपरिमित पुण्य ज्ञान के बल से दुष्कर कर्मों का अनुष्ठान कर कहीं असंख्येय कल्पों में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। मैं साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त करूँगा, ऐसा विषाद न करना चाहिए; क्योंकि सत्यवादी तथागत बुद्ध ने सत्य कहा है कि जिन बुद्धों ने उत्साहवश दुर्लभ अनुत्तर बोधि को पाया है, वे भी संसार-सागर के आवर्त में परिभ्रमण करते हुए मशक, मक्षिका और कृमि की योनियों में उत्पन्न हुए थे। जिसमें पुरुषार्थ है, उसके लिये कुछ दुष्कर नहीं। मैं मनुष्यभाव में हूँ; हित, अहित पहचानने की मुझमें शक्ति है।

सर्वज्ञ के बताए हुए मार्ग के अपरित्याग से बोधि अवश्य प्राप्त होगी। अति दुष्कर कर्म के श्रवण से अनध्यवसाय ठीक नहीं है। हस्त-पादादि दान में देना होगा। कैसे ऐसे दुष्कर कर्म कर सकेंगे, ऐसा भय केवल इसी लिये होता है कि मोहवश गुरु और लाघव का परमार्थ विचार नहीं होता, पाप कर्म कर सत्व नरकाग्नि में जलाए जाते हैं और नाना प्रकार की यातना भोगते हैं। यह दुःख महान्, पर निष्फल है। इससे बोधि नहीं प्राप्त होती। पर बुद्धत्व का प्रसाधक दुःख अल्प और सफल है। शरीर से नष्ट शल्य के उद्धरण में थोड़ा दुःख अवश्य होता है, पर बहुव्यथा का निवर्तन होता है। इसी प्रकार थोड़ा दुःख सहकर दीर्घकालिक दुःख का उपशम होता है; इसलिये इस थोड़े से दुःख को सहना उचित है। वैद्य लंघन, पाचनादि दुःखमय क्रियाओं द्वारा रोगियों को आरोग्य लाभ कराता है। इससे बहुत से दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को थोड़ा

दुःख स्वीकार करना चाहिए। पर सर्वव्याधि-चिकित्सक भगवान् ने साधक के लिये इन उचित दुःखोत्पादनी क्रियाओं का कर्तव्यरूप में प्रतिपादन नहीं किया है। वह सामर्थ्यानुसार मृदु उपचार द्वारा दीर्घ रोगियों की चिकित्सा करते हैं। प्रारंभ में शक्य के परित्याग में यथा शाकादिदान में नियुक्त करते हैं। पीछे से जब मृदुदानाभ्यास-क्रम से अधिक मात्रा में दानाभ्यास प्रकर्ष होता है, तब अपना मांस रुधिर आदि भी प्रसन्नतापूर्वक देने का सामर्थ्य प्रकट होता है। जब अभ्यासवश स्वमांस में शाक के समान निरासंग बुद्धि उत्पन्न होती है, तब स्वमांसादि दान भी सुलभ हो जाता है।

बोधिसत्व को कायिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख नहीं होते। पाप से विरत होने के कारण कायिक दुःख नहीं होता। बाह्य और आध्यात्म नैरात्म्य होने के कारण मानसिक दुःख भी उसको नहीं होता। मिथ्या कल्पना से मानसिक और पाप से कायिक व्यथा होती है। पुण्य से शरीर-सुख और यथार्थ ज्ञान से मानसिक सुख मिलता है। जो दयामय है और जिसका जीवन संसार में परमार्थ के लिये ही है, उसको कौन सा दुःख हो सकता है? यदि यह शंका हो कि दीर्घ काल में पुण्य संचय द्वारा सम्यक् संबोधि की प्राप्ति होती है, इसलिये मुमुक्षु को चाहिए कि शीघ्र काल में फल देनेवाले हीनयान ही का आश्रय ले, तो ऐसी शंका न करनी चाहिए; क्योंकि महायान पूर्वकृत पापों का क्षय करता है और पुण्यसागर की प्राप्ति कराता है। इसलिये यह हीनयान की अपेक्षा शीघ्रगामी है।

बोधिचित्त रथ पर आरूढ़ होना चाहिए। यह सब क्लेशों का निवारक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख पाते हुए कौन ऐसा सचेतन है जो विषाद को प्राप्त हो? सत्वों की अर्थसिद्धि के लिये बोधिसत्व के पास एक बल-व्यूह है जो इस प्रकार है—छंद, स्थाम, रति और मुक्ति। 'छंद' कुशल की अभिलाषा को कहते हैं। इस भय से कि अशुभ कर्म से दुःख उत्पन्न होता है और यह सोचकर कि शुभ कर्म द्वारा अनेक प्रकार से मधुर फलों की उत्पत्ति

होती है, सत्व को कुशल कर्म की अभिलाषा होनी चाहिए। 'स्थाम' आरब्धदृढ़ता को कहते हैं। 'रति' सत्कर्म में आसक्ति है। 'मुक्ति' का अर्थ उत्सर्ग है। यह बल-व्यूह वीर्य साधन में चतुरंगिणी सेना का काम देता है। इसके द्वारा आलस्यादि विपक्ष का उन्मूलन कर वीर्य-प्रवर्धन के लिये यत्न करना चाहिए।

मुझको अपने और पराए अप्रमेय कायवाक्-चित्तसमाश्रित दोष नष्ट करने हैं। एक एक दोष का क्षय मुझ मंदवीर्य से अनेक शतसहस्र कल्पों में होगा। दोष-नाश के लिये मेरा लेश मात्र भी उत्साह नहीं दिखलाई पड़ता। मैं अपरिमित दुःख का भाजन हूँ। मेरा हृदय क्यों नहीं विदीर्ण होता? इस अद्भुत और दुर्लभ मनुष्य जन्म को मैंने वृथा गँवाया। मैंने भगवत्पूजा का सुख नहीं उठाया, मैंने बुद्धशासन की पूजा नहीं की। भीतों को अभयदान नहीं दिया; दरिद्रों की आशा नहीं पूरी की; आर्तों को सुखी नहीं किया; मेरा जन्म केवल माता को दुःख देने के लिये हुआ है। पूर्वकृत पापों के कारण धर्म की अभिलाषा का अभाव है; इसी लिये इस जन्म में मेरी यह दशा हुई है। ऐसा समझकर कौन कुशल-कर्म की अभिलाषा का परित्याग करेगा? सब कुशलों का मूल 'छंद' है। उसका भी मूल बारंबार शुभ अशुभ कर्मों के विपाक फल की भावना है। जो पापी हैं, उनको अनेक प्रकार के कायिक मानसिक नरकादि दुःख होते हैं और उनके लाभ का विघात होता है। पुण्यवान् को पुण्यबल से अभिवांछित फल मिलता है। पापी को जब जब सुख की इच्छा का उदय होता है, तब तब दुःख-शस्त्रों से उसका विघात होता है। जो असाधारण शुभ कर्म करते हैं, वे इच्छा न रहते हुए मातृ-कुक्षि में नहीं उत्पन्न होते। जो अशुभ कर्म करते हैं, कालदूत उनके शरीर की सारी खाल उधेड़ते हैं। आग में गलाए हुए ताँबे से उनके शरीर को स्नान कराते हैं; जलती हुई तलवार और शक्ति के प्रहार से मांस के सैकड़ों खंड करते हैं और सुतप्त लौहभूमि पर वे बार बार गिरते हैं। शुभ

और अशुभ कर्मों का यह मधुर और कटु-फल-विपाक होता है। इसलिये शुभ कर्मों की अभिलाषा होनी चाहिए।

उपस्थित सामग्री का निरूपण कर बलाबल का विचार करना चाहिए; फिर कार्य का आरंभ करे अथवा न करे। आरंभ न करने में इतना दोष नहीं है जितना कि आरंभ करके निवर्तन करने में है। प्रतिज्ञात कर्म के न करने से पाप होता है और उससे दुःख की वृद्धि होती है। इस प्रकार आरब्ध कर्म का ही संपादन न होता हो, ऐसा नहीं है; पर उस काल में जो अन्य कार्य हो सकते थे, वह भी नहीं होते। कर्म, उपक्लेश और शक्ति में 'मान' होता है। 'मुझ अकेले के ही करने का यह काम है' यह भाव 'कर्म-मानिता' कहलाता है। सब सत्व क्लेशाधीन हैं; स्वार्थ-साधन में समर्थ नहीं हैं। ये अशक्त हैं और मैं भारोद्वहन में समर्थ हूँ। इसलिये मुझको सबका सुख संपादन करने के लिये बोधिचित्त का उत्पादन करना चाहिए। मुझ दास के रहते और लोग क्यों नीच कर्म करें? जो काम मेरे करने का है, उसे और क्यों करें? यदि मैं इस मान से कि यह मेरे अयुक्त है, उसे न करूँ तो इससे तो यही अच्छा है कि मेरा मान ही नष्ट हो जाय। यदि मेरा चित्त दुर्बल है, तो थोड़ी भी आपत्ति बाधक होगी। मृत सर्प को पाकर काक भी गरुड़ हो जाता है। जो विषादयुक्त है, उसके लिये आपत्ति सुलभ है। पर जो उत्साह-संपन्न है और स्मृति-संप्रजन्य द्वारा उपक्लेशों को अवकाश नहीं देता, उसको बड़े से बड़ा भी नहीं जीत सकता। इसलिये बोधिसत्व दृढ़चित्त हो आपत्ति का अंत करता है। यदि बोधिसत्व क्लेशों के वशीभूत हो जाय तो उसका उपहास हो, क्योंकि वह त्रैलोक्य के विजय की इच्छा रखता है। वह विचार करता है कि मैं सबको जीतूँ और मुझको कोई न जीते। उसको इस बात का मान है कि मैं शाक्यसिंह का पुत्र हूँ। जो मान से अभिभूत हो रहे हैं, वे मानी नहीं हैं; क्योंकि मानी शत्रु के वश में नहीं आता; और वह मानरूपी शत्रु के वश में है। मान से वे दुर्गति को

प्राप्त होते हैं। मनुष्य भाव में भी उनको सुख नहीं मिलता। वे दास, परभृत, मूर्ख और अशक्त होते हैं। यदि उनकी गणना मानियों में हो तो बताओ दीन किन्हें कहेंगे? वही सच्चा मानी, विजयी और शूर है जो मानशत्रु की विजय के लिये ही मान धारण करता है और जो उसका नाश कर लोक में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। संक्लेशों के बीच में रहकर सहस्र गुना अग्रसर होना चाहिए। जो काम आगे आवे, उसका व्यसनी हो जाय। द्यूतादि क्रीड़ा में आसक्त पुरुष उसके सुख को पाने की बार बार इच्छा करता है। इसी प्रकार बोधिसत्व को काम से तृप्ति नहीं होती। वह बार बार उसकी अभिलाषा करता है। सुख के लिये ही कर्म किया जाता है, अन्यथा कर्म में प्रवृत्ति न हो। पर कर्म ही जिसको सुख स्वरूप है, जिसको कर्म के अतिरिक्त किसी दूसरे सुख की अभिलाषा नहीं है, वह निष्कर्म होकर कैसे सुखी रह सकता है?

बोधिसत्व को चाहिए कि एक काम के समाप्त होने पर दूसरे काम में लग जाय। पर अपनी शक्ति का क्षय जानकर काम को उस समय छोड़ देना चाहिए। यदि कार्य अच्छी तरह समाप्त हो जाय तो उत्तरोत्तर कार्य के लिये अभिलाषी होना चाहिए। क्लेशों के प्रहार से अपनी रक्षा करनी चाहिए; और जिस प्रकार शस्त्र-विद्या में कुशल शत्रु के साथ खड्ग-युद्ध करते हुए निपुणतर दृढ़ प्रहार किया जाता है, उसी प्रकार दृढ़ प्रहार करना चाहिए। अणु मात्र भी दोष को अवकाश न देना चाहिए। जैसे विष रुधिर में प्रवेश कर शरीर भर में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार दोष अवकाश पाकर चित्त में व्याप्त हो जाता है।

अतः क्लेश-प्रहार के निवारण में यत्नवान् होना चाहिए। जब निद्रा और आलस्य का प्रादुर्भाव हो, तब उनका शीघ्र प्रतीकार करे; जैसे किसी पुरुष की गोद में यदि सर्प चढ़ आता है, तो वह झट से खड़ा हो जाता है। जब जब स्मृति प्रमोष हो, तब तब परिताप होना चाहिए और सोचना चाहिए कि क्या करें जिसमें फिर ऐसा न हो।

बोधिसत्व की सत्संग की इच्छा करनी चाहिए। जैसे रूई वायु की गति से संचालित होती है, वैसे ही बोधिसत्व उत्साह के वश होता है और इस प्रकार अभ्यास-परायण होने से ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

नवाँ अध्याय

ध्यान-पारमिता

वीर्य की वृद्धि कर समाधि में मन का आरोप करे अर्थात् चित्तैकाग्रता के लिये यत्नवान् हो, क्योंकि विक्षिप्तचित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशों से कवलित होता है। जन-संपर्क के विवर्जन से तथा कामादि वितर्कों के विवर्जन से विक्षेप का प्रादुर्भाव नहीं होता और निरासंग होने से आलंबन में चित्त की प्रतिष्ठा होती है। इसलिये संसार का परित्याग कर रागद्वेष मोहादि विक्षेप-हेतुओं का परित्याग करे। स्नेह के वशीभूत होने से और लाभ सत्कार यश आदि के प्रलोभन से संसार नहीं छोड़ा जाता। विद्वान् को सोचना चाहिए कि जिसने चित्तैकाग्रता द्वारा यथाभूत तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति की है, वही क्लेशादि दुःखों का प्रहाण कर सकता है। ऐसा विचार कर क्लेशमुमुक्षु पहले 'शमथ' अर्थात् चित्तैकाग्रता के उत्पादन की चेष्टा करे। जो समाहित-चित्त है और जिसको यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसकी बाह्य चेष्टा का निवर्तन होता है और शम के होने से उसका चित्त चंचल नहीं होता।

लोक विषय में निरपेक्ष-बुद्धि रखने से ही यह 'शमथ' उत्पन्न होता है। अनित्य को अनित्य पुत्रदारादिकों में स्नेह रखना युक्त नहीं है, जब यह विदित है कि अनेक जन्म पर्यंत उस आत्म-प्रिय का पुनर्वार दर्शन नहीं होगा। यह जानते हुए भी दर्शन न मिलने से चित्त व्याकुल हो जाता है और किसी प्रकार सुस्थिर नहीं होता; और जब उसका प्रिय दर्शन होता है, तब भी चित्त का पूर्ण रूप से संतर्पण नहीं होता और दर्शन की अभिलाषा पूर्ववत् पीड़ा देती है।

उसको प्रिय समागम की आकांक्षा से मोह उत्पन्न होता है। वह गुण-दोष नहीं विचारता; अतः वह निरंतर शोक-संतप्त रहता है। उस प्रिय की चिंता से तथा तल्लीन-चित्तता के कारण प्रति क्षण आयु का क्षय होता है और कोई कुशल कर्म संपादित नहीं होता। जिस मित्र के लिये आयु का क्षय होता है, वह स्थिर नहीं है। वह क्षणभंगुर है, अशाश्वत है। उसके लिये दीर्घकालावस्थायी शाश्वत धर्म की हानि क्यों करते हो? यदि यह सोचते हो कि उसके समागम से हित सुख की प्राप्ति होगी तो यह भूल है, क्योंकि यदि तुम्हारा आचरण उसके सदृश हुआ तो तुम अवश्य दुर्गति को प्राप्त होगे; और यदि असदृश हुआ तो वह तुमसे द्वेष करेगा। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में वह तुम्हारे हित सुख का निमित्त नहीं हो सकता। इस समागम से क्या लाभ है? क्षण में यह मित्र हैं और क्षण में शत्रु हैं। जहाँ प्रसन्न होना चाहिए, वहाँ कोप करते हैं। इनका आराधन दुष्कर है। यदि इनसे इनके हित की बात कहो तो यह कोप करते हैं और दूसरे का भी हित-पथ से निवारण करते हैं; और यदि उनकी बात न मानी जाय तो क्रुद्ध होते हैं। संसार के मूढ़ पुरुषों से भला कहीं हित हो सकता है? वह दूसरे का उत्कर्ष नहीं सह सकते। जो उनके बराबर के हैं, उनसे विवाद करते हैं; और जो उनसे अधम हैं, उनसे अभिमान करते हैं। जो उनका दोष कीर्त्तन करते हैं, उनसे वह द्वेष करते हैं। मूढ़ के संसर्ग से आत्मोत्कर्ष, परनिंदा, संसार रति-कथा आदि अकुशल अवश्यमेव होते हैं। दूसरे के संग से अनर्थ का समागम निश्चय जानो। यह विचारकर अकेला सुखपूर्वक रहने का निश्चय करे। मूढ़ की संगति कभी न करे। यदि दैवयोग से कभी संग हो तो प्रिय उपचारों द्वारा उसका आराधन करे और उसके प्रति उदासीन वृत्ति रखे। जिस प्रकार भृंग कुसुम से मधु संग्रह करता है, पर परिचय नहीं पैदा करता, उसी प्रकार मूढ़ से जो धर्मार्थ प्रयोजनीय हो, केवल उसको ले ले।

इस प्रकार प्रिय संगति का कारण स्नेह अपाकृत होता है। सांप्रत लाभादि तृष्णा का, जिनके कारण लोक का परित्याग नहीं बन पड़ता, परिहार करना चाहिए। विद्वान् को रति की आकांक्षा न करनी चाहिए। जहाँ जहाँ मनुष्य का चित्त रमता है, वह वह वस्तु सहस्र गुना दुःख रूप हो उपस्थित होती है। इच्छा से भय की उत्पत्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष किसी वस्तु की इच्छा न रखे। बहुतों को विविध लाभ और यश प्राप्त हुए, पर वह लाभ-यश के साथ कहाँ गए, यह पता नहीं है। कुछ मेरी निंदा करते हैं और कुछ प्रशंसा करते हैं। अपनी प्रशंसा सुनकर क्यों प्रसन्न होऊँ और आत्म-निंदा सुनकर क्यों विषाद को प्राप्त होऊँ? जब बुद्ध भी अनेक सत्वों का परितोष न कर सके, तो मुझ ऐसे अज्ञों की क्या कथा? मुझको लोकचिंता न करनी चाहिए। जो सत्व लाभ-रहित है, उसकी यह कहकर लोग निन्दा करते हैं कि यह सत्व पुण्य-रहित है, इसी लिये क्लेश उठाकर भी पिंडपातादि मात्र लाभ भी नहीं पाता; और जो लाभ सत्कार प्राप्त करते हैं, उनका यह कहकर उपहास करते हैं कि इन्होंने दानपति को किसी प्रकार प्रसन्न कर यह लाभ प्राप्त किया है। उभयथा उनके चित्त को शांति नहीं मिलती। ऐसे लोग स्वभाव से दुःख का हेतु होते हैं। ऐसे लोगों का संवास न मालूम क्यों प्रिय होता है? मूढ़ पुरुष किसी का मित्र नहीं है। उसकी प्रीति निःस्वार्थ नहीं होती। जो प्रीति स्वार्थ पर आश्रित है, वह अपने लिये ही होती है।

मुझको अरण्य-वास के लिये यत्नशील होना चाहिए। वृक्ष तुच्छ दृष्टि से नहीं देखते और न उनके आराधन के लिये कोई प्रयत्न करना पड़ता है। कब इन वृक्षों के सहवास का सुख मुझको मिलेगा? कब मैं शून्य देवकुल में, वृक्षमूल में, गुहा में सर्वनिरपेक्ष हो बिना पीछे देखे हुए निवास करूँगा? कब मैं गृह त्याग कर स्वच्छंदतापूर्वक प्रकृति के विस्तीर्ण प्रदेशों में, जहाँ किसी का स्वामित्व नहीं है, विहार करूँगा? कब मैं मृण्मय भिक्षा-

पात्र ले शरीरनिरपेक्ष हो निर्भय विहार करूँगा ? भिक्षा-पात्र ही मेरा समस्त धन होगा; मेरा चीवर चोरों के लिये भी अनुपयुक्त होगा। फिर मुझको किसी प्रकार का भय न रहेगा।

मैं कब श्मशान भूमि में जाकर दुर्गंधयुक्त निज देह की तुलना पूर्व मृत जीवों के अस्थिपंजर से करूँगा ? शृगाल भी अति दुर्गंध के कारण समीप नहीं आवेंगे। इस शरीर के साथ उत्पन्न होनेवाले अस्थि-खंड भी पृथक् हो जायँगे; फिर प्रियजनों का क्या कहना ? यदि यह सोचा जाय कि पुत्र कलत्रादि सुख दुःख में मेरे सहायक होते हैं, इसलिये इनका अनुनय करना युक्त है, तो ऐसा नहीं है। कोई किसी का दुःख बाँट नहीं लेता। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है। सब लोग अपने अपने कर्म का फल भोगते हैं। इसलिये यह केवल अभिमान है कि पुत्र कलत्रादि सुख दुःख में सहायक होते हैं। वह केवल विघ्न ही करते हैं। अतः उन प्रियजनों से कोई लाभ नहीं है।

परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो कौन किसकी संगति करता है। जिस प्रकार राह चलते पथिकों का एक स्थान में मिलन होता है और फिर वियोग होता है, उसी प्रकार संसार रूपी मार्ग पर चलते हुए ज्ञाति, सगोत्र आदि संबंधों द्वारा आवास परिग्रह होता है। मरने पर वह उसके साथ नहीं जाते। पूर्व इसके कि लोग मरणावस्था में उसका परित्याग करें और उसके लिये विलाप करें, मनुष्य को वन का आश्रय लेना चाहिए। न किसी से परिचय और न किसी से विरोध रखे। स्वजनबांधवों के लिये प्रव्रज्या के अनंतर वह मृत के समान है। वन में ज्ञाति सगोत्रादि कोई उसके समीपवर्ती नहीं हैं जो अपने शोक से व्यथा पहुँचावें या विक्षेप करें। इसलिये एकांतवास-प्रिय होना चाहिए। एकांतवास में आयास या क्लेश नहीं है। वह कल्याणदायक है और सब प्रकार के विक्षेपों का शमन करता है। इस प्रकार जनसंपर्क के विवर्जन से कायविवेक का लाभ होता है। तदनंतर चित्तविवेक की आवश्यकता है। चित्त

के समाधान के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्तसमाधान का विपक्षी कामवितर्क है। इसका निवारण करना चाहिए। रूपादि विषयों के सेवन से लोक और परलोक दोनों में अनर्थ होता है। जिसके लिये तुमने पाप और अपयश को भी न गिना, और अपने को भय में डाला, वह अब अस्थि मात्र है और किसी के अधिकार में नहीं है। जो मुख कुछ काल पहले लज्जा से अवनत था और सदा अवगुंठन से आवृत रहता था, उसे आज गृध्र व्यक्त करते हैं। जो मुख दूसरों के दृष्टिपात से सुरक्षित था, उसे आज गृध्र खाते हैं। अब क्यों नहीं उसकी रक्षा करते ? गृध्रों और शृगालों से विदारित इस मांस-पुंज को देखकर अब क्यों भागते हो ? काष्ठ, लोष्ठ के समान निश्चल इस अस्थि-पंजर को देखकर अब क्यों त्रास होता है ? पुरीष और श्लेष्म दोनों एक ही आहार पान से उत्पन्न होते हैं। इनमें पुरीष को तुम अपवित्र मानते हो। पर कामिनी का अधर मधुपान करने के लिये उसके श्लेष्म-पान में क्यों रति होती है ? जो काम-सुख के अभिलाषी हैं, उनकी विशेष रति अपवित्र स्त्री-कलेवर में ही होती है। यदि तुम्हारी आसक्ति अशुचि में नहीं है, तो क्यों इस स्नायुबद्ध अस्थि-पंजर और मांस के लोथड़े को आलिंगन करते हो ? अपने ही अमेध्य शरीर पर संतोष करो। यह काय स्वभाव से ही विकृत है। यह अभिरति का युक्त स्थान नहीं है। जब शरीर का चर्म उत्पाटित होता है, तब त्रास उत्पन्न होता है। यह शरीर का स्वभाव है। पर ऐसा जानकर भी इसमें रति क्यों उत्पन्न होती है ? यदि यह कहो कि माना, शरीर स्वभाव से अमेध्य है, पर चंदनादि सुरभि वस्तुओं के उपलेप से कमनीय हो जाता है तो यह उचित नहीं है। सहस्र संस्कार करने पर भी शरीर का स्वभाव नहीं बदल सकता। नग्न, वीभत्स और भयंकर काय की केशनखादि रचना-विशेष कर और स्नान, अभ्यंग, अनुलेपन द्वारा विविध संस्कार कर मनुष्य आत्मव्यामोहन करता है, जो उसके वध का कारण होता है।

बिना धन के सुख का उपभोग नहीं होता। बाल्यावस्था में धनोपार्जन की शक्ति नहीं होती। युवावस्था धनोपार्जन में ही व्यतीत होती है। जब उमर ढल जाती है, तब विषयों का कोई उपयोग नहीं रह जाता। कुछ लोग दिन भर भृति कर्म कर सायंकाल को परिश्रांत हो घर लौटते हैं और मृतकल्प सो जाते हैं। वह इस प्रकार केवल आयु का क्षय करते हैं, काम-सुख का आस्वाद नहीं करते।

जो दूसरों के सेवक हैं, उनको स्वामी के कार्यवश प्रवास का क्लेश भोगना पड़ता है। वह अनेक वर्षों में भी स्त्री और पुत्र को नहीं देखते। जिस सुख की लालसा से दूसरे का दासत्व स्वीकार किया, वह सुख न मिला; केवल दूसरे का काम कर व्यर्थ ही आयु का क्षय किया। लोग जीविका के लिये रण में प्रवृत्त होते हैं, जहाँ जीवन का भी संशय होता है और मान के लिये दासता स्वीकार करते हैं। यह विडंबना नहीं तो क्या है? इस जन्म में भी कामासक्त पुरुष विविध दुःखों का अनुभव करते हैं। सुख-लिप्सा से कार्य में प्रवृत्त होते हैं, पर अनर्थ-परंपरा की प्रसूति होती है। धन का अर्जन और अर्जित धन की प्रत्यवायों से रक्षा कष्टमय है और रक्षित धन का नाश विषाद और चित्त की मलिनता का कारण होता है। इस प्रकार अर्थ अनर्थ का कारण होता है। धनासक्त पुरुष का चित्त एकाग्र नहीं होता। भवदुःख से विमुक्त होने के लिये उसको अवकाश ही नहीं मिलता। इस प्रकार कामासक्ति में अनर्थ बहुत है, सुखोत्पाद की वार्ता भी नहीं है। धनासक्त पुरुष की वही दशा है जो उस बैल की होती है जिसको शकटभार वहन करना पड़ता है और खाने को घास मिलती है। इस थोड़े से सुखास्वाद के लिये मनुष्य अपनी दुर्लभ संपत्ति नष्ट कर देता है। निश्चय ही मनुष्य की उलटी मति है, क्योंकि वह निकृष्ट, अनित्य और नरकगामी शरीर के सुख के लिये निरंतर परिश्रम करता रहता है। इस परिश्रम का कोटि-शत भाग भी बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये पर्याप्त है। तिस पर भी मंद बुद्धिवाले लोग बुद्धत्व के लिये उत्साही नहीं होते। जो

कामान्वेषी हैं, उनको बोधिसत्व की अपेक्षा कहीं अधिक दुःख उठाना पड़ता है। काम का निदान दुःख है। शस्त्र, विष, अग्नि इत्यादि मरणमात्र दुःख देते हैं, पर काम दीर्घकालिक तीव्र नरक दुःख का हेतु है। काम का परित्याग कर चित्त विवेक में रति उत्पन्न करना चाहिए और कलहशून्य, शांत वनभूमियों में विहार कर सुखी होना चाहिए। वह धन्य हैं जो वन में सुखपूर्वक भ्रमण करते हैं और सत्वों को सुख उत्पादन करने के लिये चिंतना करते हैं या वन में, शून्य आलय में, वृक्ष के तले या गुफा में अपेक्षानिरत हो यथेष्ट विहार करते हैं। जिस संतोष सुख का भोग स्वच्छंदचारी निर्गृही करता है, वह संतोष सुख इंद्र को भी दुर्लभ है। इस प्रकार काय विवेक और चित्त विवेक के गुणों का चिंतन कर सत्व वितर्कों का उपशम करता है, और जब चित्त परिशुद्ध होता है, तब बोधिचित्त की भावना में प्रकर्ष पद की प्राप्ति होती है।

वह भावना करता है कि सब प्राणियों को समान रूप से सुख अनुग्राहक और दुःख बाधक होता है, इसलिये मुझको आत्मवत् सब का पालन करना चाहिए। वह विचारता है कि जब मुझ को और दूसरों को सुख समान रूप से प्रिय और दुःख तथा भय समान रूप से अप्रिय है, तो मुझमें क्या विशेषता है कि मैं अपने ही सुख के लिये यत्नवान् होऊँ और अपनी ही रक्षा करूँ? करुणापरतंत्रता से लोग दूसरों के दुःख से दुखी होते हैं और सर्व दुःख के अपहरण के लिये यत्नवान् होते हैं। एक के दुःख से यदि बहुत सत्वों का दुःख दूर होता हो, तो दयावान् को वह दुःख उत्पादित करना चाहिए। जो कृपावान् हैं, वह दूसरे के उद्धार के लिये नारक दुःख को भी सुख ही मानते हैं। जीवों के निस्तार से उनको अनंत परितोष होता है।

दसवाँ अध्याय

प्रज्ञा-पारमिता

चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा के प्रादुर्भाव में सहायता मिलती है। जिसका चित्त समाहित है, उसी को यथाभूत परिज्ञान होता है। प्रज्ञा से सब आवरणों की अत्यंत हानि होती है। प्रज्ञा के अनुकूल-वर्त्ती होने पर ही दान आदि पाँच पारमिताएँ सम्यक् संबोधि की प्राप्ति कराने में समर्थ और हेतु होती हैं। दानादि गुण प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होकर अभ्यासवश प्रकर्ष की पराकाष्ठा को पहुँचते हैं और अविद्या-प्रवर्तित सकल विकल्प का ध्वंस कर तथा क्लेश और आवरणों को निर्मूल कर परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति में हेतु होते हैं। इस प्रकार षट् पारमिता में प्रज्ञा पारमिता की प्रधानता पाई जाती है। 'आर्य-शत साहस्री प्रज्ञा पारमिता' में भगवान् कहते हैं–"हे सुभूति! जिस प्रकार सूर्यमंडल और चंद्रमंडल चार द्वीपों को प्रकाशमान करते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा पारमिता का कार्य पंच पारमिता में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार बिना सप्तरत्न से समन्वागत हुए राजा चक्रवर्ती का पद नहीं पाता, उसी प्रकार प्रज्ञा पारमिता से रहित होने पर पंच पारमिता 'पारमिता' के नाम से नहीं पुकारी जा सकती। प्रज्ञा पारमिता अन्य पाँच पारमिताओं को अभिभूत करती है। जो जन्म से अंधे हैं, उनकी संख्या चाहे कितनी ही क्यों न हो, बिना मार्ग-प्रदर्शक के मार्गावतरण में वह असमर्थ हैं। इसी प्रकार दानादि पाँच पारमिताएँ नेत्र विकल हैं; बिना प्रज्ञाचक्षु की सहायता के बोधि मार्ग में अवतरण नहीं कर सकतीं। जब पंच पारमिता प्रज्ञा पारमिता से परिगृहीत होती है, तभी सचक्षुष्क होती है। जिस प्रकार क्षुद्र नदियाँ गंगा नाम की महानदी का अनुगमन कर उसके साथ महा समुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार पाँच पारमिताएँ

प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत हो उसका अनुगमन कर सर्वाकारज्ञता को प्राप्त होती हैं।"

अतः यह पारमिता पंचात्मक पुण्य संभार प्रज्ञा का समुत्थापक है। जब चित्त समाहित होता है, तब चित्त को शांति सुख मिलता है और चित्त के शांत होने से ही प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है। शिक्षा-समुच्चय (पृ० ११९) में कहा है—किं पुनरस्य शमथस्य माहात्म्यं यथाभूतज्ञानजननशक्तिः। यस्मात् समाहितो यथाभूतं जानातीत्युक्तवान् मुनिः।

अर्थात् इस 'शमथ' का क्या माहात्म्य है? यथाभूतज्ञानोत्पत्ति सामर्थ्य ही इसका माहात्म्य है, क्योंकि भगवान् ने कहा है कि जो समाहितचित्त है, वही यथाभूत का ज्ञान रखता है। जो यथा-भूत-दर्शी है, उसी के हृदय में सत्वों के प्रति महा करुणा उत्पन्न होती है। इस महा करुणा से प्रेरित हो शील, प्रज्ञा और समाधि इन तीनों शिक्षाओं को पूरा कर बोधिसत्व सम्यक् संबोधि प्राप्त करता है।

सर्व धर्म के अनुपलम्भ को ही प्रज्ञा पारमिता कहते हैं। अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता में कहा है—योऽनुपलम्भः सर्वधर्माणां सा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते। शून्यता में जो प्रतिष्ठित है, उसी ने प्रज्ञा पारमिता प्राप्त की है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है, और न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति होती है। उस समय किसी प्रकार का व्यवहार नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्य की प्रतीति होती है कि दृश्यमान वस्तुजात माया के सदृश हैं, स्वप्न और प्रतिबिम्ब की तरह अलीक और मिथ्या हैं। केवल व्यवहार दशा में उनका सत्यत्व है। जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह सांवृत स्वरूप है। यथाभूत दर्शन से इस अनादि संसार-प्रवाह का यथावस्थित सांवृत स्वरूप उद्भावित होता है। व्यवहार दशा में ही प्रतीत्य समुत्पाद की सत्ता है; पर परमार्थ दृष्टि

से प्रतीत्य समुत्पाद धर्मशून्य है, क्योंकि परमार्थ में भावों का स्वकृतत्व, परकृतत्व और उभयकृतत्व निषिद्ध है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है। सब धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न हैं। यह ज्ञान आर्य-ज्ञान कहलाता है। जब इस आर्यज्ञान का उदय होता है, तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व कारणभूत के निरोध से उत्तरोत्तर कार्यभूत का निरोध होता है। अन्त में दुःख का निरोध होता है। इस प्रकार अविद्या, तृष्णा और उपादान रूपी क्लेश मार्ग का, संस्कार और भव रूपी कर्म मार्ग का और दुःख मार्ग का व्यव-च्छेद होता है। पर जो मनुष्य असत् में सत् का समारोप करता है, उसकी बुद्धि विपर्यस्त होती है और उसको रागादि क्लेश उत्पन्न होते हैं। इसी से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म ही से जन्म होता है और जन्म के कारण ही जरा, मरण, व्याधि, शोक, परि-वेदनादि दुःख उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार केवल महान् दुःख स्कंध की उत्पत्ति होती है।

प्रज्ञा द्वारा सब धर्मों की निःस्वभावता सिद्ध होती है और प्रत्य-वेक्षमाण जगत् स्वप्नमायादिवत् हो जाता है। तब इस ज्ञान का स्फुरण होता है कि जो प्रत्यय के अधीन है, वह शून्य है। सब धर्म मायोपम हैं; बुद्ध भी मायोपम हैं। यथार्थ में बुद्धधर्म निःस्वभाव है। सम्यक्संबुद्धत्व भी मायोपम है। निर्वाण भी मायोपम है। यदि निर्वाण से भी कोई विशिष्टतर धर्म हो तो वह भी माया स्वप्नवत् ही है। जब परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब वासनादिक निःशेष दोषराशि की विनिवृत्ति होती है। यही प्रज्ञा सब दुःखों के उपशम का हेतु है।

सर्वधर्मशून्यता के स्वीकार करने से लोकव्यवहार असंभव हो जाता है। जब सब कुछ शून्य ही शून्य है, यहाँ तक कि बुद्धत्व और निर्वाण भी शून्य हैं, तब लोक-व्यवहार कहाँ से चल सकता है? शून्य का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह अनक्षर है, इसलिये

इसका ज्ञान और उपदेश कैसे हो सकता है ? शून्यता के संबंध में इतना भी कहना कि यह अनक्षर है अर्थात् वाग्विषयातीत है, मिथ्या है। ऐसा केवल समारोप से ही होता है। जब किसी के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और जब 'शून्यता' शब्द का प्रयोग भी केवल लोकव्यवहार-सिद्ध है, परंतु परमार्थ में अलीक और मिथ्या है, तब एक प्रकार से हमारा मुँह ही बंद हो जाता है और लोक-व्यवहार का अत्यंत व्यवच्छेद होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये सत्यद्वय की व्यवस्था की गई है--संवृतिसत्य और परमार्थ-सत्य। संवृतिसत्य व्यावहारिक सत्य है। 'संवृति' उसे कहते हैं जिससे यथाभूत परिज्ञान का आवरण हो। अविद्या से ही स्वभाव का आवरण होता है और यथावस्थित सांवृत स्वरूप का उद्भावन होता है। अविद्या से ही असत् का सत् में आरोप होता है और वह असत् सत्यवत् प्रतिभात होता है। लोक में यह संवृति दो प्रकार की है--तथ्य संवृति और मिथ्या संवृति। जिस वस्तु-जात के ग्रहण में इंद्रियों का उपघात नहीं होता अर्थात् जिसकी उपलब्धि इंद्रियों द्वारा बिना किसी दोष के होती है, वह लोक में सत्य प्रतीयमान होता है और उसकी संज्ञा 'तथ्यसंवृति' है। पर मृगतृष्णा की नाईं जिस वस्तुजात की इंद्रियोपलब्धि दोषवती है, वह विकल्पित है और लोक में उसकी संज्ञा 'मिथ्या संवृति' है। पर दोनों प्रकार के संवृति सत्य सम्यक्दर्शी के लिये मृषा हैं, क्योंकि परमार्थ दशा में संवृति सत्य भी अलीक और मिथ्या है। परमार्थ सत्य वह है जिसके द्वारा वस्तु का अकृत्रिम रूप अवभासित होता है। वस्तु-स्वभाव के अभि-गम से आवृति, वासना और क्लेश की हानि होती है।

सब धर्म निःस्वभाव अर्थात् शून्य हैं। तथता, भूतकोटि, धर्म, धातु इत्यादि शून्य के पर्याय हैं। जो रूप दृश्यमान है, वह सत् स्वभाव का नहीं है, क्योंकि उत्तर काल में उसकी स्थिति नहीं है। जिसका जो स्वभाव होता है, वह कदापि किंचिन्मात्र भी परिवर्तित नहीं होता। उसका स्वरूप अविचलित है; अन्यथा उसकी स्वभावता के नष्ट

होने का प्रसंग उपस्थित होगा। उत्पद्यमान वस्तु का न तो कहीं से सत् स्वरूप में आगम होता है और न निरोध होने पर उसका कहीं लय होता है। हेतुप्रत्ययसामग्री का आश्रय लेकर ही वस्तु माया के समान उत्पन्न होती है; और हेतुप्रत्ययसामग्री की विकलता से ही सर्व वस्तुजात का निरोध होता है। जो वस्तु हेतुप्रत्ययसामग्री का आश्रय लेकर उत्पन्न होती है अर्थात् जिसकी उत्पत्ति पराधीन है, उस वस्तु की सत्स्वभावता कहाँ? यदि परमार्थ की दृष्टि से देखा जाय तो हेतुप्रत्ययसामग्री से भी किसी पदार्थ की समुत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह सामग्री भी अपर सामग्री-जनित है और उसका आत्म-लाभ पराधीन होने के कारण वह भी स्वभावरहित है। इस प्रकार पूर्व पूर्व सामग्री की निःस्वभावता जाननी चाहिए। जब कार्य कारण के अनुरूप होता है, तब किस प्रकार निःस्वभाव से स्वभाव की उत्पत्ति संभव है? जो हेतुओं से निर्मित हैं और जो माया से निर्मित हैं, उनके संबंध में निरूपण करने से ज्ञात होगा कि वह प्रतिबिंब के समान कृत्रिम हैं। जिस प्रकार मुखादि बिंब आदर्शमंडल के सन्निधान से उसमें प्रतिबिंबित होता है, यदि उसका अभाव हो तो मुखबिंब का उसमें प्रतिभास न हो, उसी प्रकार जिस वस्तु के रूप की उपलब्धि दूसरे हेतु-प्रत्यय के सन्निधान से होती है अन्यथा नहीं होती, वह वस्तु प्रतिबिंब के समान कृत्रिम है। इस-लिये यत्किंचित् हेतु-प्रत्ययोपजनित है, वह परमार्थ में असत् है। इस प्रकार शून्य धर्मों से शून्य धर्म ही उत्पन्न होते हैं। भावों की उत्पत्ति स्वतः स्वभाव से नहीं है। उत्पाद के पूर्व वह स्वभाव विद्यमान नहीं है; इसलिये कहाँ से उसकी उत्पत्ति हो? उत्पन्न होने पर उसका स्वरूप निष्पन्न हो जाता है; फिर क्या उत्पादित किया जाय? यदि यह कहा जाय कि जात का पुनर्जन्म होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बीज और अंकुर एक नहीं हैं; रूप, रस, वीर्य और विपाक में दोनों भिन्न हैं। अपने स्वभाव से यदि जन्म होता तो किसी की उत्पत्ति ही न होती। स्वभाव और उत्पत्ति

इतरेतर आश्रित हैं। जब तक स्वभाव नहीं होता, तब तक उत्पत्ति नहीं होती; और जब तक उत्पत्ति नहीं होती, तब तक स्वभाव नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि स्वतः किसी की उत्पत्ति नहीं होती। परतः भी किसी की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानने में शालि-बीज से कोद्रवांकुर की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा; अथवा ऐसी अवस्था में सबका जन्म सबसे मानना पड़ेगा, जो दूषित है। यह मानना भी युक्त न होगा कि कार्य कारण का अन्योन्य जन्यजनक भाव नियामक होने से सबकी उत्पत्ति होती है। जब तक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक यह नहीं बतलाया जा सकता कि इसकी शक्ति किसमें है। और जब कार्य की उत्पत्ति होती है, उस अवस्था में कारण का अभाव होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसकी शक्ति है। कार्य कारण का जन्य जनक भाव नहीं है, क्योंकि दोनों समान काल में नहीं रहते। कार्य कारण की एक संतति मानना भी युक्त नहीं है; क्योंकि कार्य कारण के बिना संतति का अभाव है और कार्य कारण का एक क्षण भी अवस्थान नहीं है। पूर्वापर क्षणप्रवाह में संतति की कल्पना की गई है। वास्तव में संतति नियम नहीं है। इस प्रकार सादृश्य भी कोई नियामक नहीं है। अतः परतः भी किसी की उत्पत्ति नहीं होती और उभयतः भी उत्पत्ति नहीं होती। दोनों में से जब प्रत्येक अलग अलग संभव में असमर्थ हैं, तब फिर दोनों मिलकर किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं? यदि सिकता के एक कण में तैलदान का सामर्थ्य नहीं है, तो अनेक कण मिलकर भी यह योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते। अतः उभयतः भी किसी की उत्पत्ति का होना संभव नहीं है। यह भी युक्त नहीं है कि अहेतुतः उत्पत्ति होती है; क्योंकि ऐसा मानने में भावों के देश कालादि नियम के अभाव का प्रसंग होगा; और जो परमार्थ सत्य की उपलब्धि चाहते हैं, उनके लिये किसी प्रतिनियत उपाय का अनुष्ठान न हो सकेगा।

इसलिये अहेतुतः भाव स्वभाव का प्रतिलाभ नहीं करते। आचार्य नागार्जुन मध्यमक मूल (१।१) में कहते हैं--

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ।।

जब परिदृश्यमान रूप का सद्भाव विचार करने पर नहीं मालूम पड़ता, तब अनागत आदि की संभावना की क्या कथा ? अतः यह सिद्ध हुआ कि भाव तत्त्वतः निःस्वभाव हैं। निःस्वभाव ही सब भावों का पारमार्थिक रूप ठहरता है। यह परमार्थ परम प्रयोजनीय है। पर इसमें भी अभिनिवेश न होना चाहिए, क्योंकि भावाभिनिवेश और शून्यताभिनिवेश में कोई विशेषता नहीं है। दोनों ही सांवृत होने के कारण कल्पनात्मक हैं। अभाव का भी कोई स्वरूप नहीं है। भावविकल्प ही सकल विकल्प का प्रधान कारण है। जब उसका निराकरण हुआ, तब सब विकल्प एक ही प्रहार में निरस्त हो जाते हैं।

वस्तुतः न किसी का समुत्पाद है और न समुच्छेद। यदि प्रतीत्य समुत्पाद के संबंध में यह व्यवस्थित है कि वह अनुत्पादादि-विशिष्ट है, तो फिर भगवान् ने यह क्यों कहा है कि संस्कार अनित्य हैं, उदयव्यय उनका धर्म है, वह उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं और उनका उपशम सुखकर है ? यदि सब शून्य है, तो सुगति और दुर्गति भी स्वभाव-शून्य है। यदि दुर्गति निःस्वभाव है तो निर्वाण के लिये पुरुषार्थ व्यर्थ है। पर ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। यदि हम परमार्थ दृष्टि से विवेचना करें तो दुर्गति स्वभाव-शून्य है। पर लोकदशा में दुर्गति सत्य है। जो यह ज्ञान रखता है कि समस्त वस्तुजात शून्य और प्रपंचरहित हैं, वह संसार में उपलिप्त नहीं होता। उसके लिये न सुगति है न दुर्गति। वह सुख और दुःख, पाप और पुण्य दोनों के परे है। किंतु जिनको यथाभूत दर्शन नहीं है, वह संसारचक्र में भ्रमण करते हैं। यदि तत्त्वतः सब भाव उत्पाद निरोध-रहित हैं, केवल कल्पना में जातिजरामरणादि का योग होता है, तो यह महान् विरोध उपस्थित होता है कि सब आवरणों का प्रहाण कर निर्वाण में प्रतिष्ठित बुद्ध भी जन्मादि ग्रहण करें। यदि ऐसा है तो बोधिचर्या का भी कुछ प्रयोजन नहीं है। बोधिचर्या

का आश्रय इसी लिये लिया जाता है कि इससे सर्व सांसारिक धर्मों की निवृत्ति होती है और सर्वगुणालंकृत बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। यदि बोधिचर्या के ग्रहण से भी सांसारिक धर्म की निवृत्ति न हो तो उससे क्या लाभ ? पर यह भी शंका अयुक्त है। जब तक प्रत्यय-सामग्री है, तब तक माया है; अर्थात् जब तक कारण का विनाश नहीं होता, तब तक माया का निवर्तन नहीं होता। पर जब प्रत्यय-हेतु नष्ट हो जाते हैं, तब काल्पनिक व्यवहार में भी सांसारिक धर्म नहीं रहते। प्रत्ययों का समुच्छेद तत्त्वाभ्यास द्वारा अविद्या आदि का निरोध करने से होता है।

अनेक प्रकार की प्रतीत्यता का कारण संवृति है। 'संवृति' का अर्थ है 'आवरण' अर्थात् 'अविद्या का आवरण'। इस आवरण द्वारा यथाभूत दर्शन नहीं होता, किंतु मृषा ज्ञान होता है। यह आवरण उसी प्रकार हमको आच्छन्न करता है, जिस प्रकार जन्म होते ही आकाश प्रत्येक ओर से हमको आच्छन्न कर लेता है। संवृति स्वतःसिद्ध है। किसी अन्य प्रकार से इसका उत्पाद नहीं बतलाया जा सकता। स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं, उसका मिथ्यात्व जाग्रत अवस्था में ही अनुभूत होता है। स्वप्नावस्था में किसी प्रमाण द्वारा उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार संवृति को मृषा दर्शन प्रमाणित करने के लिये उन युक्तियों का प्रयोग नहीं हो सकता जो संवृति अवस्था की हैं। केवल परमार्थ सत्य के अधिगम से ही संवृति सत्य मृषा सिद्ध हो सकता है। जब तक परमार्थ सत्य की उपलब्धि नहीं होती, तब तक सब युक्तियाँ संवृति को अप्रामाणिक ठहराने के लिये अपर्याप्त हैं। व्यवहार के लिये संवृति सत्य की कल्पना की गई है। जब तक लोक है, तब तक संवृति सत्य लोक का अवितथ रूप है। इस प्रकार सब पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का होता है—सांवृत और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है, वह संवृति सत्य कहलाता है। सम्यग्दर्शी का जो विषय है, वह तत्त्व या परमार्थ सत्य कहलाता है।

संवृति सत्य की तो प्रतीति होती है, क्योंकि हमारी बुद्धि अविद्या के अंधकार से आवृत है। अविद्या से उपप्लुत होने के कारण चित्त का स्वभाव अविद्यायुक्त हो जाता है; इसलिये संवृति सत्य की प्रतीति होती है। पर यह नहीं ज्ञात है कि परमार्थ सत्य का क्या स्वरूप और लक्षण है। परमार्थ सत्य ज्ञान का विषय नहीं है। वह सर्व ज्ञान का अतिक्रमण करता है। वह किसी प्रकार बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। तथापि यह कहा जा सकता है कि परमार्थ तत्त्व सर्वप्रपंचविनिर्मुक्त है, इसलिये सर्वोपाधि से शून्य है। जो सर्वोपाधि-शून्य है, वह कैसे कल्पना द्वारा जाना जा सकता है? उसका स्वरूप कल्पना के अतीत है और शब्दों का विषय नहीं है। वहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती। सकल विकल्प की हानि होने से परमार्थ तत्त्व का प्रतिपादन नहीं हो सकता। तथापि संवृति का आश्रय लेकर शास्त्र में यत्किंचित् निदर्शनोपदर्शन किया जाता है। वास्तव में तत्त्व अवाच्य हैं, पर दृष्टांत द्वारा कथंचित् शास्त्र में वर्णित हैं। बिना व्यवहार का आश्रय लिए परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता और बिना परमार्थ के अधिगत किए निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। आचार्य नागार्जुन ने कहा है—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥ मध्यमक मूल २४।१०।

आर्य ही परमार्थ सत्य की उपलब्धि करते हैं। इसमें उनकी संवित् ही प्रमाण है।

सत्यद्वय की व्यवस्था होने से तदधिकृत लोग भी दो श्रेणी के हैं—(१) योगी और (२) प्राकृतक। योग समाधि को कहते हैं। सब धर्मों का अनुपलंभ अर्थात् सर्वधर्मशून्यता ही इस समाधि का लक्षण है। योगी तत्त्व को यथारूप देखता है। प्राकृतक वह है जो प्रकृति अर्थात् अविद्या से आवृत है। वह वस्तुतत्त्व को विपरीत भाव से देखता है। प्राकृतक योगी द्वारा विपर्यस्त मति का निर्धारण किया जाता है। प्राकृत ज्ञान भ्रांत है। जिन रूपादिकों

का स्वरूप सर्वजन-प्रतिपन्न है, वह भी योगियों की दृष्टि में स्वभाव-रहित हैं। यद्यपि वस्तुतत्त्व यही है कि सब भाव निःस्वभाव हैं, तथापि दानादि पारमिता का आदरपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि दानादि वस्तुतः स्वभावरहित हैं, तथापि परमार्थ तत्त्व के अधिगम के लिये सब सत्वों पर करुणा कर बोधिसत्व को इनका उपादान नितांत प्रयोजनीय है। मार्गाभ्यास करने से समलावस्था से निर्मलावस्था और सविकल्पावस्था से निर्विकल्पावस्था उत्पादित होती है।

मध्यमकावतार (६ । ८०) में कहा है—

उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।

अर्थात् व्यवहारसत्य उपाय अथवा हेतुरूप है और परमार्थ-सत्य उपेय अथवा फलस्वरूप है। दानादि पारमिता रूपी उपाय द्वारा परमार्थ तत्त्व का लाभ होता है।

इस प्रकार षट् पारमिता के अधिगत होने से बोधिसत्व की साधना फलवती होती है।

— —

(१३) सागर का बुंदेली शिलालेख

[लेखक—रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, कटनी—जबलपुर]

मध्यप्रदेश के सागर जिले के सदर मुकाम में कई वर्षों से स्वीडिश मिशन स्थापित है। उसकी ओर से कई पाठशालाएँ हैं, उनमें से एक बढ़ईगिरी की शाला है जिसे कारपेंटरी स्कूल कहते हैं। कोई दस बारह महीने की बात है कि उसके हाते में कुछ खोदने का काम पड़ा तो एक शिला साढ़े सत्रह इंच लंबी और पौने सत्रह इंच चौड़ी मिली जिस पर पंद्रह लकीरों का बुंदेली हिंदी में एक लेख है जिसका हूबहू चित्र इसके साथ दिया गया है। यह शिला अब नागपुर के अजायबघर में रखी है। उसमें यों लिखा है—

॥ श्रीगणेशायनयः ॥

(१)।। आपर या राह पाप की ओडछे के श्रीराजा ऊदेतसिंह जू ने चलाई सु ॥

(२)।। अपुन मै लौडिन के जाइदा हिन्दू मुसलमान सब मिलै ऐक करे सु ॥

(३)॥ श्री महाराजधिराज श्री महाराजा श्री अनुधर्मिं(सिं)ह जू देव नै ॥

(४)॥ पाप की राह मिटाइ धर्म की राह बांधी ताकौ यौ करार आप है ॥

(५)॥ आपर ई जागा कौ राजा बु(बुं)देला होइ सु लौडिन के जाईदा अ ॥

(६)॥ पनी जाति मैं न मिलवै न पांति में लै बैठै अरु जौ कजाति लै बैठे तौ ऊ ॥

(७)॥ वेटी वौहु अरु ऊ अपनी वैन मतारी पर कांछ छोरे अउ ऊ कौ महाल ॥

(८) ॥ टी तलाक है। आउ वा राह चलाई है सु पाप की मैटि धर्म की चलाई ॥

(९) ॥ है सु या बात कोऊ दूषै सु बरनसंकर है अउ जु कोऊ या नैची पांति को ॥

(१०) ॥ पांति मै लै बैठै सु ताके पाप नराजि जाइ अरु ऊ को कुल डूवै अरु अंतक ॥

(११) ॥ ऊ घोर नर्क मै परै अउ कजाति राजि के लोभ सौ यहा के भैया वंद पु ॥

(१२) ॥ रेहत कामदार षवासिन के जाईदा को राजा करै तौ ऊ(उ)न कौ कासी ॥

(१३) ॥ जू मै मातागमन करं कौ दोषु लगै अरु जु कौऊ यौ बीजकु फोरै सु ॥

(१४) ऊ गा(गां)डू अउ ऊ की सत्रा पैरी पाछे की गा(गां)डू है।इ माँह सुदि ९ सं ॥

(१५) । वतु १८२६ मुकामु चदेरी—

इस लेख में डेढ़ सौ बरस पुरानी बुंदेलखंडी का नमूना है। लेख बिलकुल उस समय के उच्चारण के अनुसार लिखा गया है। उस जमाने में कई शब्दों का उच्चारण, विशेष कर विभक्तियों का, कुछ चौड़ाई लिए किया जाता था यथा 'ने' का 'नै' 'में' का 'मैं' 'को' का 'कौ' 'एक' का 'ऐक' 'नीची' का 'नैची' 'कोऊ' का 'कौऊ' 'मेटि' का 'मैटि'। इसमें कोई कोई शब्द ऐसे रूप में पाए जाते हैं जो अब बुंदेली में न रहकर बघेली में चले गए हैं जैसे या (यह), यौ (यह), वा (वह)। वर्तमान बुंदेली में 'या' की जगह 'जा' और वा की जगह 'बा' या 'ऊ' का उपयोग किया जाता है। 'जो' और 'सो' का रूप ह्रस्व होकर 'जु' व 'सु' तथा 'और' का रूप 'अरु' अथवा 'अउ' मिलता है। इसी क्रम में ब्रजभाषा की नाईं किसी किसी शब्द में उकार जोड़ दिया गया है जैसे 'बीजकु', 'मुकामु', 'दोषु'।

लिखावट में अक्षर वर्तमान नागरी के समान हैं परंतु 'य' और 'व' के नीचे बिंदु का उपयोग किया गया है और 'ख' का रूप 'ष' है जैसा कि पुरानी रीतिवाले अब भी लिखते हैं। 'घ' का पेट चीर दिया गया है। बिना पेट चीरे वह 'ध' पढ़ा जाता है। 'व' के नीचे बिंदु न देने से 'ब' पढ़ा जाता है, उसका पेट कहीं भी नहीं चीरा गया। इस लेख में कहीं कहीं गलतियाँ भी हो गई हैं जैसे "बुंदेला" शब्द में बिंदु ऊपर न देकर नीचे दे दिया गया है जिससे उस शब्द का पाठ "बुदेला" हो जाता है। "इ" का ह्रस्व बनाने के लिये उसमें व्यंजनों के समान मात्रा लगाई गई है १२वीं पंक्ति में दीर्घ ई भी उड़ा दी गई है।

इस भारतवर्ष में अनेक शिलालेख मिले हैं जिनमें किसी व्यक्ति के कीर्तिप्रकाशन, दान, विज्ञापन, स्मृति आदि का उल्लेख पाया जाता है, परंतु ऐसा लेख अभी तक कदाचित् कहीं नहीं मिला जिसमें किसी को जाति से बहिष्कार करने और सहायकों को शाप या तलाक हो। जान पड़ता है कि अंत में इस लेख में किसी के दस्तखत थे जो मिटा दिए गए हैं। इस लेख में चँदेरी के राजा अनुर्धसिंह (अनिरुद्धसिंह) की प्रशंसा और ओड़छा के राजा उदेतसिंह और उसके वंशजों की निंदा है। उदेतसिंह या उदोतसिंह को हिंदू मुसलमान लौंडी-बच्चों को बुंदेलों की जाति में मिला लेने का दोष लगाया गया है। यह प्रथा अधर्म और पाप की बतलाई गई है। ऐसे लोगों को राजगद्दी पर बिठलाना अनुचित बतलाया गया है और ऐसा करनेवालों को बड़ी बुरी सौगंध धराई गई है। यह लेख संवत् १८२६ का है। यदि यह चालू संवत् है तो इसकी ठीक तिथि १५ फरवरी सन १७६९ में पड़ती है। ओड़छे का इतिहास पढ़ने से जान पड़ता है कि यह लेख बड़े मतलब से लिखवाया गया था। यह सब रचना ओड़छा की गद्दी अनिरुद्धसिंह को दिलाने के लिये की गई थी जब कि उदोतसिंह का नाती राजा हटेसिंह निरपत्य पंचत्व को प्राप्त हुआ। उदोतसिंह मुसल-

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानों से बहुत मिलता जुलता था। बादशाह मुहम्मद शाह के जमाने में वह ईद के समय अपने पुत्र पृथ्वीसिंह समेत दिल्ली को गया था। उस समय वे दोनों और उनके सरदार बादशाह के मुसाहिबों में शामिल होकर मस्जिद को गए थे। इसके उपलक्ष में उदोतसिंह को खिलत और पृथ्वीसिंह को एक पालकी दी गई थी। वह पालकी अभी तक मौजूद है और ईद के दिन ओड़छा महाराज उसी पर सवारी करते हैं। दिल्ली दरबार की देखा देखी उदोतसिंह ने भी रखेलें या लौंडियाँ रखी होंगी। इसी कारण अनिरुद्धसिंह को दोषारोपण करने का अवसर मिला। चँदेरी और ओड़छे के राजाओं के मूल पुरखा एक ही थे, जैसा कि नीचे दिए हुए वंश-वृक्ष से लख पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar
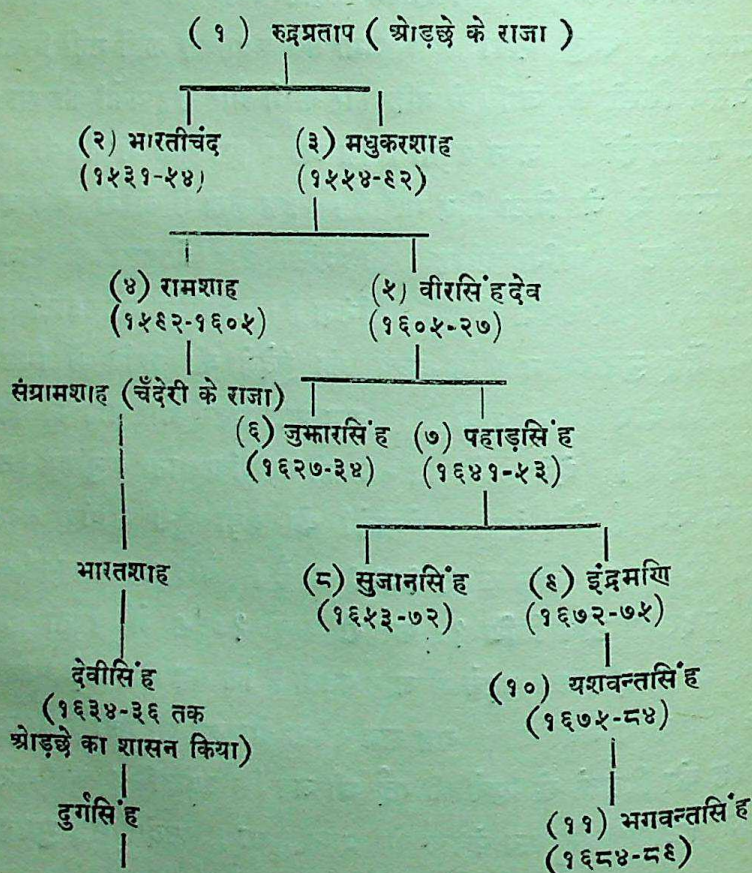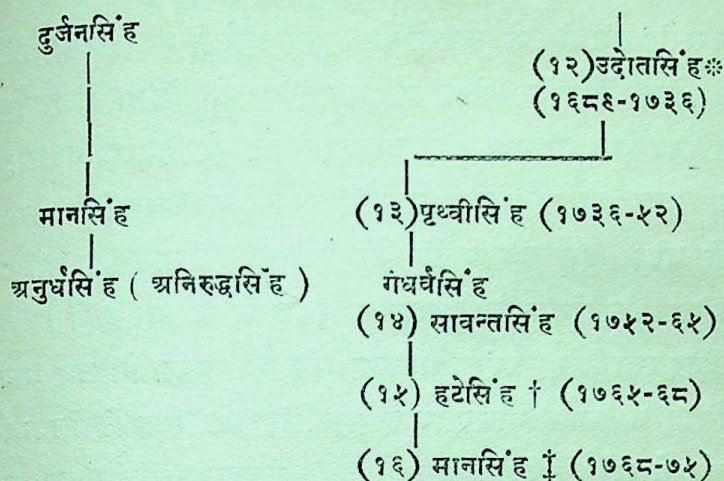
इस वंश-वृक्ष से पता लगता है कि चँदेरी का राजा अनिरुद्धसिंह ओड़छे के तृतीय राजा मधुकरशाह से आठवीं पीढ़ी में पैदा हुआ था। दूसरी शाखा में उसी पीढ़ी में गंधर्वसिंह हुआ जो अपने बाप के अछत मर गया। इसलिये गद्दी उसके पुत्र सावंत सिंह को मिली। सावंतसिंह सन् १७६५ ई० में मर गया। तब उसका गोद का लड़का, जो असल में उसका चचा लगता था, गद्दी पर बैठा। उसी समय से कदाचित् चँदेरीवालों के मन में ईर्षा उत्पन्न हुई, क्योंकि अनिरुद्धसिंह ओड़छा के चौथे राजा रामशाह की पुरुष शाखा में से था। हटेसिंह उदोतसिंह की लड़की का लड़का था। हटेसिंह के कोई संतान नहीं थी इसलिये अनिरुद्धसिंह को फिर भी ओड़छा की गद्दी मिलने का मौका था इसलिये कदाचित् उसने उस समय कुछ बखेड़ा नहीं खड़ा किया। सन् १७६८ में जब हटेसिंह की मृत्यु हुई तब अनिरुद्धसिंह की ओर से उदोतसिंह की संतति को लौंडी-बच्चा बतलाने का उद्योग किया गया ताकि उदोतसिंह

---

* ये नंबर (९) जुझारसिंह के भाई दीवान हरदौल के पन्ती थे। इनको यशवंतसिंह की महारानी ने गोद लिया था।

† ये नंबर (१२) उदोतसिंह की लड़की के लड़के थे और सावन्तसिंह ने इन्हें गोद लिया था।

‡ ये उदोतसिंह की दूसरी लड़की के पुत्र थे और हटेसिंह ने इन्हें गोद लिया था।

की दूसरी लड़की के लड़के को गद्दी न मिले। लेख से यह भी प्रकट होता है कि लोगों में मानसिंह के किसी राजकर्मचारी द्वारा पैदा होने की गप्प थी, उसका संकेत पुरोहित कामदार द्वारा किया गया है। अथवा मानसिंह की मा खवासिन समझी जाती थी। इन सब बातों को समेटकर लिखने का अभिप्राय यही था कि लेखक या विज्ञापक पकड़ में न आ जावें। तथ्य जो कुछ रहा हो, परंतु अनिरुद्धसिंह का प्रयत्न निष्फल गया। हटेसिंह ने अपने मौसेरे भाई मानसिंह को गोद ले लिया और उसको ओड़छे की गद्दी मिल गई। ओड़छा बुंदेलों का मुख्य घराना समझा जाता है। आदि में इसकी चार शाखाएँ थीं अर्थात् ओड़छा, चँदेरी, दतिया और पन्ना। ओड़छा को मूल घराना समझकर उसका अभी तक विशेष मान किया जाता है। अनिरुद्धसिंह उस मान को घटा नहीं सकता था, परंतु उदोतसिंह की चालें देखकर उसने बिरादरी में उसको नीचा दिखाने के लिये कसर नहीं की। कदाचित् वह गद्दा पाने के लिये खुल्लमखुल्ला उद्योग नहीं कर सकता था, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसने अवसर पाकर चँदेरी घराने को श्रेष्ठ बनाने का भरपूर प्रयत्न किया। काल की गति विचित्र है, चार में से तीन राजघराने आज तक विद्यमान हैं। जो मिट गया वह चँदेरी घराना है जिसका ग्रास ग्वालियर और ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण रूप से कर लिया। "तुलसी निज कीरति चहैं पर कीरति को खोय। तिनके मुँह मसि लागिहै मिटै न मरिहैं धोय"॥

यह शिलालेख चँदेरी में लिखा गया था। उस जमाने में सागर जिला चँदेरी राज्य में सम्मिलित था। जान पड़ता है कि यह पत्थर सागर की ओर के बुंदेलों को दिखलाने के लिये भेजा गया था, परंतु प्रयत्न निष्फल होने पर गाड़ दिया गया*।

---

* इस लेख का ऐतिहासिक वृत्तांत कर्नेल लुगार्ड कृत बुंदेलखंड के गैजेटियर (सन् १६०७) से लिया गया है।

(१४) गोस्वामी तुलसीदासजी

[लेखक—पंडित मयाशंकर याज्ञिक, भरतपुर]

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के मंत्री, हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् राय साहब बाबू श्यामसुंदरदासजी ने गो० तुलसीदासजी के जीवन-चरित्र पर एक लेख बाबा बेनीमाधवदासजी के "मूल गोसाईंचरित" के आधार पर लिखकर नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराया है और उस पर कुछ प्रसिद्ध हिंदी-साहित्यसेवियों की सम्मतियाँ भी उसी पत्रिका के दूसरे अंक में प्रकाशित की हैं।

मूल गोसाईंचरित में दिये हुए संवत्, तिथि और वारों का मिलान करके उक्त ग्रंथ के विषय में बाबू साहब ने तथा अन्य महाशयों ने अपने अपने विचार प्रकट किये हैं।

मूल गोसाईंचरित में वर्णित कुछ घटनाओं पर हम भी अपने विचार उपस्थित करते हैं। संभव है उस ग्रंथ की आलोचना करने में विद्वानों को इन विचारों से कुछ सहायता मिले—

(१) मूल गोसाईंचरित में लिखा है—

सोरह से सोरह लगै कामद गिरि ढिग बास।
शुभ एकान्त प्रदेश मह आये सूर सुदास॥
पठये गोकुलनाथजी कृष्णरंग में बोरि।
दग फेरत चित चातुरी लीन्ह गुसाईं छोरि॥
....
....

दिन सात रहै सतसंग पगे, पद कंज गहै जब जान लगै।
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किये, पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिये॥

बाबू श्यामसुंदरदासजी ने डाक्टर ग्रियर्सन तथा मिश्रबंधुओं

के दिये हुए संवतों के आधार पर सूरदासजी का गोस्वामीजी से सं० १६१६ में मिलना ठीक मान लिया है। परंतु ऐसा मालूम होता है कि बाबू साहब ने यह विचार नहीं किया कि सूरदासजी का गोकुल-नाथजी का पत्र लेकर आना जो लिखा है वह संभव है या नहीं।

गो० गोकुलनाथजी गोस्वामी विट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र थे। गोकुलनाथजी का जन्म संवत् १६०८ में मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी को हुआ था और उनका गोलोक पधारना (देहावसान) माघ कृष्ण ६ संवत् १६९७ को हुआ था—संवत् १६१६ में गोकुलनाथजी की आयु केवल ८ वर्ष की थी। गोकुलनाथजी के पिता गोस्वामी विट्ठलनाथजी स्वयं गद्दी पर विद्यमान थे। गोकुलनाथजी के तीन भ्राता भी मौजूद थे। सूरदासजी रहते भी विट्ठलनाथजी के पास थे। फिर उनका पत्र न लेकर एक ८ वर्ष के बालक का पत्र लेकर सूरदासजी का आना संभव प्रतीत नहीं होता। बाबा बेनीमाधवदास ने इस संबंध में गो० गोकुलनाथजी का नाम लिखने में कदाचित् भूल की है।

(२) नंददासजी और तुलसीदासजी की भेट के विषय में जिस रीति से वर्णन मूल गोसाईंचरित में किया गया है वह भी विचारणीय है। यद्यपि इस भेट का कोई संवत् गोसाईंचरित में नहीं दिया है परंतु जिस क्रम से वर्णन किया गया है उससे पाया जाता है कि बाबा बेनीमाधवदास के कथनानुसार यह भेट संवत् १६४९ के पश्चात् हुई होगी, क्योंकि गो० तुलसीदासजी संवत् १६४९ में पिहानी के सुकुल से मिले थे। उसके बाद खैराबाद, मिसिरिख होकर रामपुर पहुँचे, और वहाँ से चलकर वृंदावन आए और वृंदा-वन में नंददासजी से मिले थे। इसलिये यह भेट संवत् १६४९ के बाद ही गोसाईंचरित के अनुसार होना मानना पड़ता है।

परंतु २५२ वैष्णवों की वार्ता से पाया जाता है कि नंददासजी का वैकुंठवास संवत् १६४९ से बहुत पूर्व हो चुका था। वार्ता में लिखा है कि तानसेन से नंददासजी का एक पद सुनकर अकबर ने नंददासजी से मिलने की इच्छा प्रकट की और उनको बीरबल द्वारा

श्रीगोवर्धन में बुलवाया। नंददासजी का देह वहीं छूटा था। जब यह समाचार विट्ठलनाथजी को विदित हुआ तो उन्होंने नंददासजी की बड़ी सराहना की थी। इससे स्पष्ट विदित होता है कि नंददासजी की मृत्यु गो० विट्ठलनाथजी और बीरबल दोनों से पहले हुई थी। गोस्वामी विट्ठलनाथजी का गोलोकवास सं० १६४२ में और बीरबल का स्वर्गवास सं० १६४० के आसपास हुआ था। नंददासजी का देहावसान इससे भी पहले हुआ था। फिर गोसाईंचरित में सं० १६४९ के पश्चात् नंददासजी और तुलसीदासजी की भेट होना लिखा गया है वह ठीक नहीं मालूम होता है।

गोसाईंचरित में यद्यपि नंददासजी और तुलसीदासजी की भेट का संवत् ठीक नहीं दिया है परंतु इन दोनों के संबंध के विवादग्रस्त प्रश्न को गोसाईंचरित ने निश्चित कर दिया। २५२ वैष्णवों की वार्त्ता के आधार पर कुछ लोग नंददासजी को तुलसीदासजी का भाई मानते थे। वार्ता में नंददासजी को सनाढ्य ब्राह्मण लिखा है। (१) इसलिये बैजनाथजी ने इनको गुरुभाई माना (२) मिश्रबंधुओं ने यह लिखा कि वार्ता में नंददासजी को केवल ब्राह्मण लिखा है—सनाढ्य नहीं लिखा और किसी तुलसीदास का भाई लिखा है। (३) बाबू श्यामसुंदरदासजी ने कुछ और ही लिखा। वे कहते हैं "२५२ वैष्णवों की वार्ता के आधार पर यह बात चल पड़ी है कि रासपंचाध्यायी वाले नंददास तुलसीदासजी के भाई थे। बैजनाथदास ने गुरुभाई लिखा है। पर नंददासजी गोकुलस्थ गो० विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। गोस्वामी तुलसीदासजी के गुरु रामभक्त थे अतः ये दोनों बातें बे सिर पैर की हैं। जिनका उल्लेख २५२ वैष्णवों की वार्ता में है वे दूसरे तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे"।

वार्ता के देखने से उसमें किसी दूसरे सनाढ्य तुलसीदास का वर्णन नहीं पाया जाता किंतु गोस्वामीजी का ही वर्णन पाया जाता है। हम वार्ता में से कुछ अवतरण देते हैं। पाठक देखेंगे कि यह वर्णन गोस्वामीजी के अतिरिक्त किसी दूसरे तुलसीदास का नहीं है

(अ) "सो वे नंददास पूर्व में रहते सो वे दोय भाई हते। सो बड़े भाई तुलसीदास हते और छोटे भाई नंददास हते। सो वे नंददास पढ़े बहुत हते और तुलसीदास तो रामानंदजी कौ सेवक हतौ सो तब नंददासहू को रामानंदजी को सेवक करायौ"।

(आ) "सो तब कितनेक दिन में वह संग (वैष्णवों का समूह) कासी में आय पहुँच्यौ तब नंददास के बड़े भाई तुलसीदास हते सो तिनने सुनी जो यह संग श्रीमथुराजी को आयौ है। तब तुलसीदास ने वा संग में आय के पूछ्यौ जो उहाँ श्रीमथुराजी में श्री गोकुल में नंददास नाम करिके एक ब्राह्मण यहाँ सो गयो है सो पहिले उहाँ सुन्यो हतो सो काहू ने देख्यौ होय तो कहो। तब एक वैष्णव ने तुलसीदास सों कही जो एक सनोडीया ब्राह्मण है सो ताको नाम नंददास है सो वह पढ्यौ बहुत है सो वह नंददास तो श्रीगुसाईंजी को सेवक भयौ है"।

(इ) "और एक समय नंददास को बड़ो भाई तुलसीदास व्रज में आयो ता पाछे श्रीमथुराजी में तुलसीदास आये सो तब आयके पूछी जो यहाँ श्रीगुसाईंजी को सेवक नंददास कहाँ रहत है...तब तुलसीदास ने नंददास के पास आय के कह्यौ जो नंददास तू ऐसो कठोर क्यों भयो है.........तेरो मन होय तो अजुध्या में रहियो तेरो मन होय तो प्रयाग में रहियो चित्रकूट में रहियो"।

पाठक देखेंगे यह समस्त वर्णन किसी दूसरे तुलसीदास का नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी के वर्णन से ही मिलता है। (१) मथुरा गोकुल से पूर्व में रहना, (२) रामानंदजी का सेवक होना, (३) काशी में रहना, (४) अयोध्या चित्रकूट में रहने का आग्रह करना—ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि वार्ता में गोस्वामीजी का ही उल्लेख है। किसी दूसरे तुलसीदास की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वार्ता में "कनौजीया" के स्थान पर "सनोडीया" शब्द भूल से लिखा गया मालूम होता है। प्रसंग को

देखते हुए "कनौजीया" ही होना चाहिए था। बाबा बेनीमाधवदास ने भी स्पष्ट कनौजीया ही लिखा है—

नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े, जिन शेष सनातन तीर पढ़े।
शिक्षा गुरु बंधु भये तेहिते, अति प्रेम सो आय मिले यहिते॥

(३) केशवदासजी के प्रेतयोनि से छुड़ाने का जो समय गोसाईंचरित में लिखा है वह भी ठीक नहीं है—गोसाईंचरित में लिखा है कि दिल्ली से बादशाह का खवास गोस्वामीजी को बुलाने आया था। दिल्ली जाने के समय केशवदास को गोसाईंजी ने प्रेत-योनि से छुड़ाया था।

पुनि साहि खवास पठायउ जू, मुनिराजहिं दिल्ली बुलायउ जू।

उड़छे केशवदास, प्रेत हते घेरे मुनिहि।
उधरे बिनहि प्रयास, चढ़ि विमान स्वर्गहि गये॥

दिल्ली से लौटकर काशी आने के कुछ समय बाद संवत् १६६९ की वैशाखी पूर्णिमा को गोस्वामीजी के मित्र टोडर की मृत्यु हुई थी। अतः केशवदास को संवत् १६६९ के पूर्व ही गोस्वामीजी ने प्रेतयोनि से छुड़ाया होगा। परंतु संवत् १६६९ तक केशवदासजी का जीवित रहना निश्चित है। इस संवत् में उन्होंने जहाँगीर-चंद्रिका निर्माण की थी—

सोरह से उनहत्तरा, माधव मास विचारु।
जहाँगीर जसचंद्र की, करी चंद्रिका चारु॥

गोसाईंचरित में संवत् १६६९ से पूर्व केशवदास को प्रेतयोनि से छुड़ाने की जो बात लिखी है वह उपर्युक्त कारण से ठीक नहीं पाई जाती।

(४) संवत् १६७० के अंत में जहाँगीर का गोस्वामीजी से मिलने आना लिखा है वह भी जाँच से ठीक नहीं ठहरता है। संवत् १६७० के बहुत पहले से गोस्वामीजी का **अखंड वास** काशी में ही था। इसलिये यदि जहाँगीर गोस्वामीजी से मिलने आया होगा तो काशी में ही आया होगा।

परंतु जहाँगीरनामे के देखने से पाया जाता है कि संवत् १६६६ के चैत बदी ११ से आश्विन सुदी २ संवत् १६७० तक तो जहाँगीर आगरे ही में रहा था। इस मिती को अजमेर के लिये रवाना हुआ और अगहन सुदी ७ को वहाँ पहुँचा था—पाँच दिन कम तीन वर्ष अजमेर में रहकर कार्तिक सुदी ३ संवत् १६७३ को दक्षिण की ओर रवाना हुआ था—संवत् १६७० या उसके तीन वर्ष बाद तक जहाँगीर आगरा, प्रयाग, काशी की ओर रहा ही नहीं था कि गोस्वामीजी के काशी में अखंड वास करते हुए उनसे मिलने आता। गोसाईंचरित में संवत् १६७० के अंत में उसका गोसाईंजी से मिलने आना जो लिखा है वह मानने योग्य नहीं है।

कहा जाता है गोस्वामीजी के एक शिष्य रघुवरदासजी भी थे। उन्होंने भी गोस्वामीजी का एक बहुत बड़ा जीवनचरित्र "तुलसीचरित" के नाम से लिखा था। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा संपादित और प्रकाशित "तुलसी-ग्रंथावली" के तीसरे खंड के देखने से विदित होता है कि रघुवरदासजी के ग्रंथ को इस योग्य अवश्य समझा गया कि उक्त ग्रंथ का वर्णन करते हुए तुलसी-ग्रंथावली के सुयोग्य संपादक ने लिखा है "हमारे विचार में तो आता है कि महात्मा रघुवरदासजी ने "तुलसीचरित" में गोस्वामीजी की जो कुल-परंपरा लिखी है वह मानने योग्य है।"

यह कुल-परंपरा बाबा बेनीमाधवदास के गोसाईंचरित में दी हुई कुल-परंपरा से बिलकुल ही नहीं मिलती। बेनीमाधव-दासजी और रघुबरदासजी दोनों ही गोस्वामीजी के शिष्य बतलाए जाते हैं। दोनों ही ने उनके जीवनचरित्र लिखे हैं। दोनों के वर्णन में बहुत अंतर है। नहीं कहा जा सकता दोनों में से कौन सही है। यदि काशी नागरीप्रचारिणी सभा अथवा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के उद्योग से रघुवरदासजी का "तुलसीचरित" भी मिल जाय और प्रकाशित हो जाय तो दोनों चरित की जाँच होकर कुछ निश्चय हो सकता है।

बाबा बेनीमाधवदास के मूल गोसाईंचरित के छप जाने से एक बड़ा लाभ हुआ है। बिचारे गोस्वामी तुलसीदासजी पर एक बड़ा भारी कलंक लगाया जा रहा था। उस कलंक से अब गोस्वामीजी बच जायँगे।

कवितावली और विनयपत्रिका के कुछ पद लेकर अनेक तर्क-कुतर्क द्वारा गोस्वामीजी के कुल-जन्म इत्यादि के विषय में तरह तरह के विचार प्रकट किये जा रहे थे। इन कुतर्कों की पराकाष्ठा हुई पंडित खड्गजीत मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० के "कवितावली" शीर्षक लेख में जो अप्रैल सन् १९२५ की सरस्वती में छपा था। लेख बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखा गया था। गोस्वामीजी के जन्म, माता पिता, कुल, जाति, विवाह आदि अनेक विषयों पर उसमें विचार किए गए हैं। कुल जाति के विषय में लिखते हुए मिश्रजी ने कमाल कर दिया। गोस्वामीजी ने कवितावली में लिखा है—

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

इन शब्दों में से मिश्रजी ने यह विचित्र तात्पर्य निकाला कि गोस्वामीजी के "माता पिता को, जो मंगन कुल के थे, बधावा बजता सुन अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की खबर पाकर पाप का परिताप हुआ। उन्होंने बालक को जन्मते ही छोड़ दिया इससे यही नतीजा निकलता है कि तुलसीदास किसी "पाप" कर्म की संतान थे और पाप भी ऐसा घोर जिससे उनके माता पिता को उन्हें छोड़ना पड़ा और जिसके स्पष्ट लिखने में तुलसीदास स्वयं समर्थ न हुए"।

अब मूल गोसाईंचरित से मालूम हो गया कि गोस्वामीजी के जन्मते ही माता पिता द्वारा त्यागे जाने का कारण किसी घोर पाप कर्म की संतान होना नहीं था वरन् गोस्वामीजी का दाँतों सहित उत्पन्न होना और जन्मते ही राम नाम बोलना था। बालक का दाँत सहित उत्पन्न होना या जन्मते ही बोलना असाधारण बात है—आज से तीन सौ वर्ष पूर्व इन असाधारण बातों से लोगों ने गोस्वामीज

काशी नागरीप्रचारिणी सभा का संवत् १९८५ के आय-व्यय का अनुमान-पत्र।

आय का ब्योरा	संवत् १९८४ का बजट	संवत् १९८४ के ११ मास की आय	संवत् १९८५ का बजट
गत वर्ष की बचत	२१८०≡)४	२१८०≡)४	९०००)
सभासदों का चन्दा	१६००)	१४४४)	१७००)
हिन्दी पुस्तकों की खोज	२०००)	२०००)	२०००)
पुस्तकालय	१०००)	९१८।≡)	१५००)
फुटकर (विशेष आय, नागरी प्रचार, तथा फुटकर)	२१३०)	७५।॥=)	५००)
दान (भवन-निर्माण, नागरी प्रचार और कोशोत्सव)	५१५००)	१५५०४=)॥	५६०००)
पुस्तकों की बिक्री (हिन्दी शब्दसागर, मनोरंजन पुस्तकमाला, देवी प्रसाद ऐ० पुस्तकमाला, सूर्य कुमारी पु०, बालाबक्ष पु०, तथा अन्य पुस्तकों की बिक्री रायल्टी सहित)	१८८३९॥)	११९७०≡)॥	२००००)
निधियों की आय (देवी प्र० पु०, बालाबक्ष पु० तथा पुरस्कार फंडों का ब्याज)	१७२०॥)	१४६०॥=)	१५२०)
अमानत	×	६५९।-)१०	×
	८०९७०=)४	३६२१२॥।=)२	९२२२०)

व्यय का ब्योरा	संवत् १९८४ का बजट	संवत् १९८४ के ११ मास का व्यय	संवत् १९८५ का बजट
आफिस का व्यय (कार्यकर्ता, डाक व्यय और टिकस)	३०२०)	२५३५॥।≡)	२५००)
हिन्दी पुस्तकों की खोज	२०००)	२४५१)	२०००)
पुस्तकालय	१५००)	१६२८॥≡)॥	२५००)
पारितोषिक और पुरस्कार	४५४)	५४)	४७९)
नागरी प्रचार	२०००)	६७०।=)	२०००)
स्थायी कोश (भवन-निर्माण)	५७०००)	१३७९९।-)१	६५०००)
प्रकाशन (छपाई, हिन्दी शब्दसागर, मनोरञ्जन पु०, देवी प्रसाद पु०, सूर्यकुमारी पु०, बालाबक्ष पु०, तथा रायल्टी)	१८०५०)	१३३९५।-)५	१७५५०)
फुटकर	४००)	४५८॥=)॥	७५७)
तैलचित्र	२००)	२५३।≡)	×
अमानत	६५४०)	×	×
	९११६४)	३५२४६॥।)॥	९२७८६)

को राक्षस का अवतार समझकर त्याग दिया था तो क्या आश्चर्य की बात है। मिश्रजी भली भाँति जानते हैं कि उस समय के बहुत पश्चात् भी यूरुप के सभ्य देशों में सैकड़ों वृद्ध स्त्रियाँ एकांत में रहने और बिल्ली पालने के कारण डाकिनी (Witch) समझकर जीवित जला दी गई थीं। दो चार शब्दों के आधार पर ही वकीलों की तरह तर्क कुतर्क करके नतीजा निकालने के दुष्परिणाम का अच्छा उदाहरण मिश्रजी का उपर्युक्त लेख है। हम आशा करते हैं कि गोसाईंचरित पढ़ने के बाद मिश्रजी गोस्वामीजी पर कलंक लगाने के पाप का प्रायश्चित्त, अपनी भूल स्वीकार करके, अवश्य करेंगे और गोस्वामीजी के लाखों भक्तों के हृदय को जो दुःख उन्होंने अपने लेख से पहुँचाया है उसको वे दूर करेंगे।

---

(१५) मृगयाविनोद

[लेखक—श्रीयुक्त कुँवर कन्हैयाजू]

इस समय एक हस्तलिखित हिंदी-पुस्तक मेरे सामने है। यह पुस्तक टर्रा कागज पर कैथी लिपि में लिखी हुई, आदि अंत रहित, अपूर्ण और रद्दी हालत में है। आदि के दो पन्ने न होने से पुस्तक के नाम का पता नहीं चलता और अंत न होने से इस बात का भी पता नहीं चलता कि संपूर्ण पुस्तक कितनी बड़ी होगी और उसमें क्या क्या लिखा होगा। जो भी अंश इस समय प्रस्तुत है, संपूर्ण ग्रंथ का एक चतुर्थांश मालूम होता है। इसके देखने से यह पता अवश्य चलता है कि गोपाल नामक कोई कवि इसका रचयिता है और उसने चरखारी के महाराज रतनसिंहजू देव की तारीफ में इस ग्रंथ की रचना की है। इसी से यह भी अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ संभवतः सन् १८३० और १८५६ के बीच रचा गया है।

चरखारी राज्य के गजेटियर में लिखा है कि सन् १८२९ में रतनसिंहजी गद्दी पर बैठे। इन्होंने सन् १८५३ में दीवान अन्ना साहब को राज्य का दीवान बनाया और सबसे पहले बुंदेलखंड में अँगरेजी और संस्कृत का स्कूल खोला। गदर के समय में महाराज रतनसिंह ने महोबा, राठ, पड़वारी और जैतपुर आदि कई परगनों की रक्षा अँगरेज सरकार की तरफ से की और वे उक्त परगनों की वसूली करके सरकार को देते रहे और रक्षण निरीक्षण आदि का कुल काम आप करते रहे। उन्होंने अनेक अँगरेजों को अपने किले में शरण दी और हर तरह से अँगरेज सरकार का पक्ष समर्थन किया। इसी कारण सन् ५७ के अखीर में तातिया टोपे ने चरखारी के किले को घेर लिया और शरणागत अँगरेजों को महाराज से माँगा, परंतु महाराज

ने अँगरेजों को न देकर अपने औरस राजकुमार को तातिया के पास भेजकर साफ कह दिया कि मुझे अपना प्रण रखना मंजूर है, मैं अपने शरण में आये हुए अँगरेजों को कदापि तुम्हारे हाथ नहीं दे सकता। अंत में तातिया झाँसी के घेरे का समाचार पाकर उधर दौड़ गया। गदर की शांति होने पर अँगरेज सरकार ने महाराज रतनसिंहजी को २००००) की आय की भूमि के साथ खैरखाही की एक महत्वपूर्ण खिलत दी।

उक्त महाराज रतनसिंहजी बड़े ही नीतिज्ञ, गुणवान्, गुणग्राही, उदार और वीर पुरुष थे। इनके विषय में जो किंवदंतियाँ यहाँ प्रचलित हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि महाराज रतनसिंहजी एक अद्वितीय पुरुष हो गये हैं। इनका कीर्ति-कलाप संबंधी जो यह लेख हमारे सामने प्रस्तुत है यह भी हिंदी साहित्य के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण रत्न है क्योंकि इसमें जिस विषय का वर्णन है उस विषय का कोई भी ग्रंथ हिंदी साहित्य में आज तक मेरे देखने में नहीं आया। जो दो एक पुस्तकें इस विषय की सुनी जाती हैं उनके नाम ही नाम सुनने में आते हैं, देखने में आज तक कोई पुस्तक नहीं आई।

प्रस्तुत अंश ३ पन्ने से आरंभ होता है। शुरू की दो पंक्तियों में उक्त महाराज रतनसिंहजी के स्वभाव का संक्षिप्त परिचय देने के बाद मृगया का विषय आरंभ होता है। मृगया यानी शिकार का खेल शस्त्र-विद्या के अभ्यास का एक विस्तीर्ण अखाड़ा है। यद्यपि आजकल मृगया का खेल दुरुपयोग में लाया जा रहा है फिर भी इससे उसके महत्व की न्यूनता नहीं होती क्योंकि फन सिपाहगिरी मनुष्य की आत्मरक्षा का प्रधान कौशल है। इसी से इसको देशहित या देशरक्षा का भी प्रधान अंग कह सकते हैं जैसा कि पंचतंत्र में सप्रमाण कहा गया है।

शस्त्रविद्या स्वभावेन शास्त्रेभ्योऽस्ति महीयसी।
शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिंता प्रवर्तते॥

आगे उपयुक्त पुस्तक का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है।

मृगया गुन वर्णन

छप्पय

अधिक अन्न अभ्यास श्राम रुजहु मिटत मेद रुज।
उदर वृद्धि कौं हरय करय बल जंघ पाँय भुज॥
फुरति अंग श्रम सहय चरन चल्लत नहिं थक्कय।
विपन दुर्ग नहिं डरय हथ्थ घल्लत नहिं जक्कय॥
गोपाल भनत जित्तिय छुधा तृषा बात आतप हिमहि।
भय रुष रुख जानहिं जंतु कौ मृगया मँह ये गुन गनहिं॥

रमना वर्णन*

†चक्रपुरय तें पूर्व्व निकट सोहंत सघन बन।
बिबिध भाँति के वृक्ष लक्ष जहँ सकय कौन गन॥
आस पास पनवास‡ मध्य सरिता गिरि सुंदर।
दोय कोस आयाम§ सोइ त्रय कोस सु विस्तर॥
गोपाल भनत बोलत रहत करक कोल खग रात दिन।
श्रीरतनसिंह महराज कब इम मंडित मृगया विपिन॥

इसी सिलसिले में लगातार चार छंद लिखने के बाद कवि शिकार की सामग्री वर्णन करता है जिससे जाना जाता है कि शिकार के खेल के कौन कौन से साधन आवश्यक और उपयुक्त हैं। नीचे लिखे छप्पय में शिकार की संपूर्ण सामग्री का बहुत ही सही और समुचित विधि से वर्णन किया गया है।

---

* शिकारगाह, शिकार के लिये सुरक्षित जंगल।

† चरखारी।

‡ ताल पोखरी या साधारण गड़हे जिनमें बरसाती पानी भरा रहता है।

§ चौड़ान।

शिकार सामग्री वर्णन

छप्पय

रतनसिंह महाराज साज किन्निय शिकार कहँ ।
संग सुभट अति विकट प्रगट रत अस्त्र शस्त्र महँ ॥
स्वान ज्वान बरजोर डोर* की डोर अग्र चल ।
गहें डोरिया† डोर बँधे गलबंध संघ बल‡ ॥
गोपाल भनत सीघोस§ सँग चीते रीते नहिं परहिं ।
परवाज||बाज सिकरा लगर कुही कुहेला स्येन कहि ॥

वागुर¶ ढिकुरी जाय फाँस फाँसे पुनि फसिया + ।
व्याध कोल कौंदर अहेर-गायक = बनरसिया × ॥
टारू टापे पाँज पीजरा दिढ़ डगै न कहि ।
तीतुर लवा बटेर झेलिया मृगा मृगी चहि ॥
गोपाल भनत डाली÷ बरद सरकंपादिक सँग लिये ।
सजि चलिव वीर नृप रतनसिंह आखेटक मह मन दिये ॥

स्वान वर्णन

अरुन असित सित चित्र रंग उद्धत उतंग तनु ।
झकझोरत डोरियन डोर जकरैं अकरे जनु ॥

---

* कतार की कतार ।
† मेहतर, कुत्तों की डोर रखनेवाले ।
‡ गले के पट्टे में बँधी हुई दोहरी रस्सी ।
§ खरहे के बराबर छोटा सा जानवर । यह भी पालकर शिक्षित किया जाता है ।
|| शिकारी चिड़ियाँ ।
¶ मृग पकड़ने का जाल या फंदा ।
+ चिड़ियाँ पकड़नेवाले ।
= जंगल में गाना गाकर जानवरों को मोहित करनेवाले ।
× जंगली जानवरों की बोली बोलनेवाले ।
÷ शिक्षित बैल, जिसकी आड़ लेकर जानवर पर गोली चलाते हैं ।

तिख्ख नख्ख अति दंत दाढ़ दृढ़ पिंगल लोचन ।
पुच्छ गुच्छ उच्छलत मुच्छ उच्छत मुख तिच्छन ॥
गोपाल भनत रिस रुख भरे लफलफात जिह्वा विकट ।
नृप रतनसिंग के स्वान जनु मृगहिं काल किंकर प्रगट ॥

इसी तरह कई छंदों में शिकारी कुत्तों की तारीफ के बाद चिड़िया शिकार के प्रधान उपकरण बाजों के विषय में कवि इस प्रकार लिखता है—

बाज वर्णन

मीरसिकार* तयार लिये अप हथ्थह थम्मह ।
तरुन तुरँग तन सोह चच्छु आरोह कुलह सह ॥
पिंग अच्छ अति तिक्ख नक्ख बड़ वक्रत चुंचह ।
डहन छल्ल दिढ़ गहन गहय पंजन बल संचह ॥
गोपाल भनत पवमान जब झपट वान गति निदरहिं ।
रतनेस राज के बाज बर तच्छन पच्छिन विहरहिं ॥

इसके बाद शिकार में घोड़े की सवारी, हाथी की सवारी, शिकारी पोशाक और हथियारबंदी के साथ साथ कवि महाराज के पासवान सरदारों के नाम और उनकी तारीफ कई छंदों में करता है तदनंतर वह पुनः मूल विषय का वर्णन इस प्रकार करता है—

शिकार भेद वर्णन

छप्पय

किय प्रवेश रतनेस भूप रम्यक रमना मँह ।
भाँति भाँति के चरत फिरत मंजुल मृग ता मह ॥
त्रिविध प्रकार शिकार कहिय जल थल अकास मय ।
एक एक के हैं अनेक अति भेद समुच्चय ॥

---

* अफसर शिकारगाह ।

गोपाल भनत नृप रतनसिंह मन मह मृगया रस जगिय।
वगमेल* हेल कर सँग सुभट तिते खेल खेलन लगिय॥

थलशिकार भेद

प्रथम घात पुनि गढ़ा पारछौ फाँस जु गारौ।
डालो टारन बरह झेलिया झुकन विचारौ॥
सरकन ढूकन हेर अहेरी और हकाइय।
पनवा† औघट घाट परावौ स्वान उकाइय‡॥
गोपाल भनत वागुर ढिकुर जाल खेद जे कहि अकल।
रमि थल शिकार यह बीस विधि रतनसिंह खेलत सकल॥

जलशिकार भेद

प्रथमहि बैठक§ वरन हाँडिया|| बंसी जालह।
कही उकाई हाँक विंसिस वंसा झख कालहि॥
पिलना टायौ तथा रचि रोकौ मौरी गन।
कूर बुड़ाई म्याज¶ नीर बढ़ूढन जल कढ़ूढन॥
गोपाल भनत जल मध्य ये सोरह भाँति सिकार हैं।
ते सकल खेल खिल्लत नृपति रतनसिंह हुसयार हैं॥

आकाशशिकार भेद

प्रथम बाज कौ खेल उवरतक पुनि गुलेल गन।
पाँज पास खंधार ढिकुर वदना डगै न बन॥

---

* करीबी।

† जानवरों के पानी पीने की जगह।

‡ रात में उजेला करने से जानवर पास आते हैं, इसी रोशनी को उकाई कहते हैं।

§ बंदूक से मछली मारना।

|| घड़े में खाद्य पदार्थ रखकर पानी में रख देने से उसमें मछलियाँ भर जाती हैं।

¶ बरसात में मछलियाँ चढ़ती हैं या नाली खोदकर पानी निकालने से उसमें मछलियाँ आ जाती हैं।

फटकी जाल विसाल टाँग पुनि कह सर कंपत।
परदा खेदा वास-निरख नलिनी जन जंपत॥
गोपाल भनत इमि गगन के षोड़स आखेटक कहत।
राजाधिराज श्रीरतनसिंह तिते सकल खेलत रहत॥

थलशिकार अंतर्गत प्रथम भेद घात* वर्णन

कहिय आप अनुचरन घात सुनतहि नृप हरषिय।
निकटवर्ति लिय संग चलिय पर अमित अमर्षिय॥
कर सुहथ्थ बंदूक भरी कर कलिय† परच्चिय।
+ + + + + +
गोपाल भनत रतनेस नृप तकिय जु बँध तेहिं बँध‡ हनिय।
सोवतहि प्रान मुक्किव सुँगर तेहि ठा सोवत सो रहिय॥

(द्वितीय) डाली§ वर्णन

चलत न जानय मृग्ग पग्ग पग्गन इमि चल्लिव।
निकट जाय तेहिं तुरत फुरति कर अग्रिव दग्गिव॥
तक्किबंध अनुबंध संध बंदूक सु दग्गिव।
+ + + + + +
गोपाल भनत रतनेस नृप इमि घलंत कौतुक करत।
उड़ बान संग मृग प्रान गे दिखिय देह च्छिति मह परत॥

(तृतीय) ढुकाई‖ वर्णन

कबहुक मृग्ग चरंत ताहि ढुकंत चित्त धर।
इक्क हथ्थ डँड़याय तुवक बौड़ा ठटाय कर॥

---

* जानवर को उसकी माँद में सोता हुआ देख आना।
† बौड़ा जिससे बंदूक दागी जाती थी इसे जामगीरी कहते हैं।
‡ अंग।
§ हरी भरी शाखाओं को लेकर उनकी आड़ में खसकते हुए हरिण के पास पहुँचकर बंदूक चलाना।
‖ छोटी छोटी झाड़ियों की आड़ में छिपते हुए जानवर का रुख बचाते हुए उसके पास जाना।

पलिया पर धर हत्थ अपर चल्लत दुवगा भर।
ओट लेत दृढ़ दृष्टि चोट के मेर जारु चर ॥
गोपाल भनत नृप रतनसिंह तक्कि तासु बंधहि हनत।
ह्वै गर्द मर्द मृग महि गिरत वहै सिफत बरनत बनत ॥

(चतुर्थ) गढ़ा* का शिकार

तुवक अग्र धरि तूल चिह्न पखिया बंध कोटहिं।
दिक्खि अगिग अंगार कलिय पखिया की ओटहिं ॥
सावधान ह्वै दत्तचित्त आरव करन्न भर।
निकटवर्ति लिय खड्ग निकट उढ़ूढार धीर धर ॥
गोपाल भनत नृप रतनसिंह आइव जानि वराह कहँ।
तकि तिमिर मध्य तिक बंध हनि प्रान मुक्कि चिक्करय तहँ ॥

(पंचम) हकाई† वर्णन

कबहूँ हाँकत विपन कबहुँ पर्व्वतहिं हँकावत।
जान तासु निकास तहाँ तब लगा लगावत ॥
अप्प अप्प बंदूक लिये कर भरिय टकाहिय।
बाम पग्ग धर अग्ग दच्छ पग पिच्छत काहिय ॥
गोपाल भनत नृप रतनसिंह तहाँ प्रथम ठड्डिव सुइमि।
डँड़याय‡ तुवक कर पर कलिय दिढ़ ठटाय घल्लत सुइमि ॥

पाय हुक्कम बहु कोल भील कौंदर तहँ तक्किव।
चहुँ ओर ग्रसि हल्ल गल्ल कर गिरि वन हक्किव ॥
भयव सोर अति घोर भभर भय मृग वन भग्गय।
करय कूह कलमलय कोल उडूढारहु डग्गय ॥

---

* जमीन में गढ़ा खोदकर उसमें बैठकर जानवर के आने का मार्ग देखना, यह खेल रात का है।

† हकाई के खेल का दोनों छंदों में पूरा विवरण है।

‡ बायें हाथ में बंदूक थामकर तैयार रहना।

गोपाल भनत नृप रतनसिंह इमि उदग्र मृगया रचिय।
गिर मृग्ग भड़ाभड़ भुम्म महँ तुवक्क तड़ातड़ तहँ मच्चिय॥

इसी सिलसिले में कवि ने हकाई के खेल के दृश्य का खूब खाका खींचा है जिससे यह भी मालूम होता है कि कवि केवल कवि नहीं खुद शिकार खेलनेवाला और शिकार में साथ रहनेवाला कोई सिपाही लेखक था, क्योंकि आगे उसने तुवक चलाने के कायदे और तरीके थोड़े में जैसी खूबी के साथ बयान किए हैं वैसा स्वयं अभ्यस्त व्यक्ति के सिवा कोई देख सुनकर कदापि नहीं समझा सकता। यथा—

तुवक वर्णन

बाम पग्ग धर अग्ग पग्ग दच्छिन धर पिच्छह।
प्रसर वाम कर अग्र दच्छ कर पर कर दच्छहि॥
वच्छ उच्च अकड़ंत अंग वच्छहि दृढ़ कुंदहि*।
अचल दृष्टि तक्कित सुमच्छ संग स्वास निमुंदह॥
गोपाल भनत तुरतहिं जुरत बंध हनत इच्छित सुजिम।
राजाधिराज श्रीरतनसिंह बड़ बंदूक घल्लय सुइम॥

इसी सिलसिले में कवि ने दो तीन छंदों में बंदूक लगने पर जानवर के गिरने और शिकारी की आतुरता आदि का वर्णन करके शिकार में तलवार के प्रयोग का वर्णन किया है। यथा—

तलवार वर्णन

कढ़्य डिड्ढ डड्ढार† बड्ढ बल बंध जु बच्चिय।
धर दौरिव सनमुक्ख दिक्ख आवंत परक्खिय॥
हंकि भूप रतनेस कड्ढ करवाल अमरषिय।
+ + + + + +

* बंदूक का कुंदा Butt।
† अकेला सुअर।

गोपाल भनत इम हत्थ वह सकल सत्थ कत्थहि बयन ।
द्वै खंड भयउ उच्चंड धर धरनि परत पिक्खिय नयन ॥

तदनंतर एक छंद में हकाई के खेल का दृश्य समाप्त करके कवि श्वान-शिकार का वर्णन करता है यथा--

(षष्ठ) स्वान-शिकार वर्णन

सुँगर दार* पर हुक्म पाय छुट्टयति स्वान गन ।
इक इक इकह धरंत चिकरंत ध्वान घन ॥
इकै इक जुट्टंत इकैं इक धरनि पटक्कय ।
कनबुज्जह† गहि इक्क कच्छ गहि झपट झटक्कय ॥
गोपाल भनत इक कम्मरइ इक बंवर‡ गाँठे गहय ।
नृप रतनसिंह निरखंत इम करत स्वान कौतुक तहय ॥

इकै स्वान कर झपट दपट कर मृग्गह मारहि ।
इक्कय चित्तर हनय इकै छिक्करन पछारय ॥
इकै गवय गलगंज इकय संभरन सम्हारय ।
ससा कसा सम ० ० ० ० ० ० ॥

बस इसी जगह पर लेख की इति श्री होती है ।

उपरिलिखित छप्पय छंद काव्य साहित्य के लिहाज से विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु उनमें जो विषय वर्णन किया गया है उसके लिहाज से या प्राचीन शोध के खयाल से ये थोड़े से छंद साहित्य-भांडार के अमूल्य रत्न कहे जा सकते हैं क्योंकि इस देश की जितनी प्राचीन खूबियाँ हैं सब शनैः शनैः लुप्तप्राय होती जाती हैं । खास तौर से शिकार के विषय में तो मैं आग्रहपूर्वक कह सकता हूँ कि इतने बड़े देश हिन्दुस्तान भर में शायद ही दस बीस शिकारी ऐसे

---

* सुअरों का गरोह ।
† कान के जोड़ की जगह, शुद्ध शब्द कनबूजा है ।
‡ गरदन के पास पीठ पर जहाँ बड़े बड़े बाल होते हैं ।

मिलें जो उक्त छप्पय छंदों में वर्णन किये गये शिकार के सब खेलों में पूर्ण प्रवीण और दक्ष हों। इसका एक कारण और भी है। वह यह कि सभी खेल सब देशों में सब समय नहीं खेले जा सकते। इन खेलों में भी देश और काल-भेद की विवेचना का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है।

एक अपूर्ण और रद्दी पुस्तक के अशुद्ध छंदों को एक प्रमुख पत्र में प्रकाशित कराने से लेख का मुख्य उद्देश यही है कि केवल इतिहास, विज्ञान और काव्य को ही साहित्य न समझकर शस्त्रविद्या को भी साहित्य का एक अंग समझा जाय और जो धुरंधर विद्वान् इस विषय का ज्ञान रखते हों वे समय समय पर इस विषय में भी कुछ लिखने की कृपा किया करें तो संभव है कि कुछ दिनों में इस कमी के पूरे होने का सिलसिला जारी हो जायगा।

इस बात का खूब ध्यान रहे कि शस्त्र-विद्या ही एक ऐसी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य आत्मरक्षा और शत्रुपराजय कर सकता है। इससे प्राचीन और महत्वपूर्ण अन्य कोई विद्या ही नहीं हो सकती क्योंकि अन्य सब विद्याएँ, वेद-विद्या के अंग प्रत्यंग हैं जब कि धनुर्वेद स्वयं एक उपवेद है। अँगरेजी भाषा में शस्त्र-विद्या संबंधी एक एक विषय की सैकड़ों किताबें हैं और हिन्दी साहित्य में इसका शायद यही पहला लेख हो तो आश्चर्य नहीं।

---

(१६) हिंदी साहित्य में विहारी

[लेखक—पंडित ललिताप्रसाद सुकुल एम० ए०, प्रयाग]

संसार का सारा साहित्य आज दिन कवियों की सुरीली तानों से गूँज रहा है, क्या पूर्व और क्या पश्चिम, कवियों का मान सभी जगह एक सा है। साहित्य चाहे विस्तृत हो अथवा संकीर्ण उसका अस्तित्व ही इस बात को सिद्ध करता है कि उसमें कुछ न कुछ अलौकिक प्रतिभाशाली महानुभावों का आविर्भाव अवश्य हो चुका है। इसी के अनुसार संस्कृत साहित्य का उपवन यदि 'कालिदास', 'भवभूति' और 'माघ', जैसे कुशल मालियों द्वारा सींचकर अमर बनाया गया है तो कहना न होगा कि हिंदी साहित्य की छोटी सी कुटीर भी अपने कतिपय प्रतिभाशाली मणि-दीपकों से नितांत शून्य नहीं है। इस छोटी सी कुटीर में भी 'सूर' और 'तुलसी' इत्यादिक अनेक अखंड दीपक अपनी मनोहारिणी ज्योति से मनुष्यों को आनंदित किया करते हैं।

हिंदी की कुटीर के इन्हीं अखंड-दीपकों में से विहारी भी एक हैं। अगणित अमूल्य साहित्य-रत्नों से गर्भित होते हुए भी न जाने क्यों अभी कुछ ही समय पहले तक हिंदी यथोचित सत्कार न पा सकी। कदाचित् यही कारण था कि उसका क्रम-बद्ध इतिहास अब तक उपलब्ध नहीं है। इतिहास का यह अवांछनीय अभाव अब अधिक खटकने लगा है। क्योंकि इतिहास के अभाव के ही कारण हम आज 'तुलसी' और 'विहारी' जैसे कवियों का भी परिचय ठीक ठीक देने में असमर्थ हैं। उनके आत्मपरिचय के विषय में हमें जो कुछ भी ज्ञात है वह केवल अनुमान के ही आधार पर है।

विहारी के विषय में विद्वानों का यह अनुमान है कि वे जाति के चौबे ब्राह्मण थे। ग्वालियर के निकट गोविंदपुर में इनका जन्म

हुआ था। इनकी ससुराल मथुरा में थी। वहाँ भी ये कुछ समय तक रहे थे किंतु कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण जयपुर चले गए थे और वहीं महाराज जयसिंह के यहाँ इन्होंने अपना शेष जीवन व्यतीत कर दिया था। इनकी 'सतसई' में बुंदेली का कहीं कहीं पुट देखकर विद्वानों ने यह भी अनुमान किया है कि शायद ये कुछ समय तक बुंदेलखंड में भी रहे थे। परंतु भाषाओं की भौगोलिक परिधि की ओर दृष्टि डालते ही यह अनुमान निरर्थक सा प्रतीत होने लगता है, क्योंकि ग्वालियर में, जहाँ इनका जन्मस्थान बताया जाता है, बुंदेली भाषा ही प्रचलित है। अतः यदि बुंदेली का प्रभाव इन पर पड़ा था तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जन्मभूमि की भाषा का प्रभाव मनुष्य पर पड़ना स्वाभाविक ही है। इनका समय संवत् १६६० से १७२० तक अनुमान किया जाता है। इनका इतना परिचय यद्यपि अनुमान पर ही निर्धारित है तथापि साहित्य में इनका स्थान निश्चित करने के लिये उपर्युक्त बातों का जान लेना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि परिस्थिति का प्रभाव मनुष्य पर अवश्य ही पड़ता है, और फिर कवि पर तो वह प्रभाव एक विशेष रूप से पड़ता है। कवि सामयिक प्रभावों से पूर्ण तथा प्रभावान्वित होकर काव्य की अपने अनोखे ढंग से सृष्टि करता है, उसके द्वारा जनसमुदाय पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें अपने रंग में रँगने की चेष्टा करता है। प्रत्येक कवि के जीवन का यही नियम होता है। वारी वारी से सभी साहित्य की चित्रशाला को अपने अपने ढंग से सजाने का प्रयत्न करते हैं। साहित्य की इस चित्रशाला के अमूल्य तथा अमर कलानिधियों के स्थान निर्धारित करना कुछ सरल नहीं।

बड़े शोक के साथ यह कहना पड़ता है कि हमें बिहारी के केवल सात ही सौ दोहे आज मिलते हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ भी उन्होंने लिखा था या नहीं यह निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अस्तु। जो कुछ भी सामग्री हमारे पास है उसी पर हमें अपने विचार स्थित करने पड़ेंगे।

इनकी कविता में भाषा और भाव दोनों ही का बड़ा अनूठा समावेश है। हिंदी की कविता में उर्दू गजलों के भावों की सी 'चुलबुलाहट' यदि कहीं भी मिलती है तो बस इनकी कविता में, परंतु साथ ही साथ चोखे शब्दों की आयोजना भी कुछ कम सराहनीय नहीं है। अस्तु।

इनकी कविता का परिशीलन मुख्यतः तीन प्रकार से किया जा सकता है (१) भाषा (२) भाव और (३) तीव्र-चतुता। इन्हीं तीनों के अंतर्गत इनकी कविता की सारी प्रतिभा प्रस्फुटित हो जाती है।

सबसे पहले भाषा के ही विचार से इनकी कविता पर दृष्टि डालना उचित होगा। इनके सात सौ दोहे, जिन्हें कुछ विद्वान् सात सौ उत्तम चित्र भी कहते हैं, मुक्तक की श्रेणी के हैं। एक दोहा केवल एक ही स्वतंत्र विचार का द्योतक है। इनके दोहों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इतने छोटे होते हुए भी वे अत्यंत भावपूर्ण एवं सारगर्भित हैं। इन दोहों का एक एक शब्द, जिसमें अगाध अर्थ भरा हुआ है, चुन चुनकर रक्खा गया है। जैसे—

"ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि, त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै, लगी रहचटैं बाल॥"

इस दोहे में 'झमकि झमकि' इन दो शब्दों में जितना अगाध अर्थ भरा है उतना तो शायद पन्ने के पन्ने रँग डालने पर भी नहीं लाया जा सकता। इसी प्रकार एक जगह और वे कहते हैं—

"मार सुमार करी डरी, मरी मरीहिं न मारि।
सीँचि गुलाब घरी घरी, अरी बरीहिँ न बारि॥"

इस दोहे का एक एक शब्द अपने स्थान पर अत्यंत छोटा होते हुए भी न जाने कितना अर्थ अभिव्यंजित करता है। विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला कृशांगी विरहिन के हृदय में मंद मंद पत्च रही है, तथा उसकी अमित व्यथा इस दोहे के प्रत्येक अक्षर से टपक रही है। शब्दों के चुनने में और चुनकर उनके यथास्थान रखने में जितनी सफलता बिहारीलालजी को प्राप्त हुई थी उतनी बहुत ही कम

कवियों को हुई थी। यों तो तुलसीदासजी के शब्द भी अद्भुत चमत्कार से पूर्ण हैं, शब्दों का प्रयोग उनकी कविता में भी एक उच्च श्रेणी का है किंतु विहारीलालजी का ढंग कुछ निराला है। परंतु इतना होते हुए भी पढ़नेवाले का ध्यान कुछ अप्रचलित शब्दों की ओर आप से आप खिंच जाता है। जैसे—

× × × ×

तरुनि तुरंगम तान, **आघु** बँकाई ही बरै॥

उपरोक्त सोरठे में 'आघु' शब्द मूल्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसी प्रकार—

"कढ़त जु हियो दुसारि करि, तऊ रहत **नटसाल**।"

इस दोहे में भी 'नटसाल' शब्द अप्रचलित अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ऐसे ऐसे उदाहरण अनेक स्थलों पर मिलते हैं। इनका कारण इन पर बुंदेलखंड का प्रभाव ही कहा जा सकता है क्योंकि साधारण परिस्थिति में व्रजभाषा के एक प्रकांड पंडित की भाषा में ऐसे अप्रचलित शब्दों की संभावना कहाँ हो सकती थी ?

न केवल अप्रचलित शब्द ही वरन् कभी कभी तो ये अश्लील एवं महा असभ्य शब्दों का भी प्रयोग कर बैठते हैं। अपने दोहों में अनेक स्थलों पर 'सिसक' और 'मसक' इत्यादिक तथा इनसे भी और अधिक अश्लील शब्द इन्होंने निःसंकोच प्रयुक्त किए हैं। इसी प्रकार नीचे एक दोहे में आपने अपनी नायिका का वर्णन करते हुए कहा है—

"लिए जाति चित चोरटी, वहै गोरटी नारि"

निस्संदेह अपनी प्रेयसी नायिका के लिये उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग करना, चाहे वह जिस कवि द्वारा भी किया गया हो, शिष्ट कदापि नहीं कहा जा सकता।

कुछ समय हुआ पंडित कृष्णविहारीजी ने विहारी पर आक्षेप करते हुए कहा था कि इनकी कविता में शृंगार अश्लीलतापूर्ण है। इससे रुष्ट होकर एक 'साहित्यरत्न' जी ने 'देव' के 'अष्टयाम' में

से घोर अश्लीलतापूर्ण एक उदाहरण निकालकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि बिहारी ही क्या अन्य कवि भी तो अश्लील बातें लिखते हैं। उन सज्जन की यह अनधिकार-चेष्टा कहाँ तक उचित कही जा सकती है, कुछ कहा नहीं जा सकता। अश्लीलता कविता में और विशेषकर एक बड़े कवि की कविता में तो एक अक्षम्य दोष है। 'देव' अथवा अन्य किसी कवि ने भी ऐसा किया है यह उक्ति बिहारी को उनके दोष से मुक्त कदापि नहीं कर सकती। जिसमें जो दोष अथवा गुण होंगे वे तो कहने हो पड़ेंगे।

बिहारी के शब्दों का चमत्कार वैसे तो प्रायः सभी जगह सराहनीय है परंतु 'अंग-वर्णन' अथवा 'चेष्टा-वर्णन' में तो वह खूब ही प्रस्फुटित होता है। चिबुक का वर्णन करते हुए आप कहते हैं कि—

"कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड़।
फिरि न टरी परियै रही गिरी चिबुक की गाड़॥"

इसी प्रकार चेष्टा का वर्णन करते हुए आप कितने सुंदर, सरल एवं सारगर्भित शब्दों में कहते हैं कि—

"नासा मोरि नचाइ दृग, करी **कका की सौंह**।
काँटे सी कसकैं ति हिय, गड़ी कँटीली भौंह॥"

इस दोहे में "कका की सौंह" में जितनी सुंदर और पूर्ण भावव्यंजकता है उतनी अन्यत्र कदाचित् ही मिल सकेगी। बिहारी की भाषा का गुरुत्व ही इसी में था कि वे साधारण बोलचाल के शब्दों को ही ऐसा रखते थे कि उनमें अनोखा चमत्कार प्रतीत होने लगता था।

वे भाषा के आचार्य तो थे ही परंतु उनके भावों में भी अनोखापन भरा था। वैसे तो श्रृंगार रस की कविताएँ न जाने कितने कवियों ने की हैं परंतु इतने परिष्कृत भाव अथवा इनकी सी परिमार्जित भाषा थोड़े ही कवियों में देखने को मिलती है। इनके भावों का लालित्य इनकी अनोखी उक्तियों में भली भाँति देखने को मिलता है। एक स्थान पर सुकुमारता वर्णन करते हुए आपने कहा है कि—

"भूषन भारु सँभारिहै क्यों इहिँ तन सुकुमार।
सूधे पाँइ न धर परैं सोभा ही कैं भार॥"

यह भाव यद्यपि अत्यंत सरल है परंतु इसकी स्वाभाविकता हो इसका विशेष गुण है। एक इसी में क्या, इनकी सारी कविता में ही कुछ थोड़े से स्थलों को छोड़कर स्वाभाविकता का गुण हो प्रधान है। परंतु यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिन थोड़े से स्थलों पर ये स्वाभाविकता से बिलग हुए हैं वहाँ पर इन्होंने अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा ही कर दी है। जैसे

"सुनत पथिक मुँह माह निसि, चलति लुवैं उहिँ गाम।
बिन बूझैं बिनही कहैं, जियति बिचारी बाम॥"

अथवा—

"चलनु न पावतु निगम मगु जगु उपज्यौ अति त्रासु।
कुच उतंग गिरिवर गह्यौ मैना मैनु मवासु॥"

माह महीने की रात्रि में लुएँ चलवाना या वेदों का मार्ग इस प्रकार बन्द करा देना बस बिहारी का ही काम था।

गुण और अवगुण तो सभी में होते हैं अतः यदि बिहारी में भी कुछ अवगुण थे तो कुछ आश्चर्य नहीं। परंतु वास्तविक बात तो यह है कि इनमें गुणों की ही प्रधानता थी। हिंदी में शृंगार रस की किसने सर्वोत्तम कविता की है यह प्रश्न बड़ा ही टेढ़ा है। सहसा कुछ भी कह बैठना उचित नहीं जान पड़ता। आजकल 'देव' और 'बिहारी' के पक्षपातियों में एक तुमुल युद्ध हो रहा है। इसलिये इस समय ऐसे कलहपूर्ण प्रश्न का न उठाना ही उचित है। इसके अतिरिक्त 'सर्वोत्तमता' की जाँच करना भी व्यर्थ ही सा जान पड़ता है, क्योंकि इस संसार में 'रुचि-विभिन्नता' एक नैसर्गिक नियम है। सभी बड़े कवियों का अपना ढंग निराला होता है। विषय भले ही एक हों परंतु स्वाद दोनों में अवश्य ही भिन्न होता है। एक समय यदि एक रुचिकर प्रतीत होता है तो

दूसरे समय कोई दूसरा। ऐसी परिस्थिति में 'सर्वोत्तमता' का टीका किसी एक के मत्थे मढ़ देना कुछ उचित नहीं।

जैसा सभी विद्वानों का मत है कि बिहारी में केवल कवित्व शक्ति ही नहीं वर्तमान थी बरन 'काव्य-रीति' से भी ये भली भाँति परिचित थे। इसका पता तो केवल इसी से चल सकता है कि इनका कोई भी दोहा किसी न किसी अलंकार से रिक्त नहीं है। बरन कई स्थलों पर तो अनेक अपूर्व अलंकारों का एक ही में समावेश हो गया है। इनके अलंकार भी प्रायः स्वाभाविक ही हैं। परंतु अलंकारों का इतना बाहुल्य देखकर यह भाव अवश्य उत्पन्न होता है कि शायद ये भी कविता में अलंकारों का होना आवश्यक समझते थे। क्योंकि इनकी कविता में कहीं कहीं ऐसे स्थल भी वर्तमान हैं जहाँ अलंकारों की आयोजना केवल अलंकारों ही के लिये की गई है। जैसे—

"खौरि पनिच भृकुटी धनुषु, बधिकु समरु तजि कानि।
हनतु तरुन मृग तिलक सर, सुरक भाल भरि तान॥"

अथवा—

"रस सिंगार मंजनु किए कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हू बिना, खंजनु गंजनु नैन॥"

इतना होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'काव्य-रीति' के ये पूर्ण आचार्य थे और साथ ही साथ इनमें कवित्व-शक्ति भी नैसर्गिक थी। जैसे तुलसीदासजी के 'रूपक' बहुत ही उच्च कोटि के हुआ करते थे वैसे ही इनकी 'उत्प्रेक्षा' और 'उपमा' बड़ी चोखी होती थी। जैसे—

"सोहत ओढ़े पीतु पट, स्याम सलोनैं गात।
मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु परयौ प्रभात॥"—उत्प्रेक्षा

अथवा—

"अधर धरत हरि कैं परत, ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रँग होति॥"—उपमा

इनकी अन्योक्तियाँ भी बहुत ही उच्च कोटि की हुआ करती थीं। शिक्षा का भाग जो कुछ भी इनकी कविता में वर्तमान है वह केवल इनकी अन्योक्तियों में ही है। वे कहते हैं—

"कबौं न ओछे नरन सों सरत बड़ेन को काम।
मढ़ौ दमामो जात कहुँ कहु चूहे के चाम॥"

अथवा—

"स्वारथु सुकृतु न स्रमु वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज पराएँ पानि पर तूँ पच्छीनु न मारि॥"

इनकी अन्योक्तियाँ सदाचार के मौलिक सिद्धांतों के अतिरिक्त सामयिक परिस्थिति पर भी प्रकाश डालती हैं। ऊपर की दूसरी अन्योक्ति के विषय में कहा जाता है कि इसके मिस कविजी ने महाराज जयसिंह को एक उत्तम देशहितैषिणी शिक्षा दी थी। वास्तव में ये अन्योक्तियाँ बड़ी ही तीखी हैं और इसी लिये कार्य-साधिका भी अधिक हैं।

अन्योक्तियों के अतिरिक्त भी इन्होंने कहीं कहीं शिक्षा देने का प्रयत्न किया है परंतु ऐसे स्थलों पर भी ये श्रृंगार से अछूते न रह सके। यथा—

"संगति दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।
कुटिल बंक भ्रुव सँग भए, कुटिल बंक गति नैन"॥

संगति का प्रभाव श्रृंगार रस के द्वारा और अच्छा क्या दिखाया जा सकता था।

अब यदि रसों की दृष्टि से इनकी कविता की जाँच की जाय तो यह प्रत्यक्ष है कि इसमें श्रृंगार रस की ही प्रधानता है। यह प्रधानता यहाँ तक बढ़ी हुई है कि हास्य और शान्त रस भी जहाँ कहीं प्रयुक्त हुए हैं प्रायः इसी की छाया लिए हुए हैं। एक स्थान पर किसी वैद्य की दिल्लगी उड़ाते हुए बिहारीलालजी ने लिखा है कि—

"बहु धन लै अहिसानु कै पारौ देत सराहि।
वैद बधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि॥"

निस्सन्देह इस दोहे में बड़ा ही विकट परिहास है किन्तु उसे इतना प्रच्छन्न रखना भी बिहारी ही का काम था। यहाँ परिहास में भी वे शृंगार के चक्र से बाहर न जा सके। किसी ज्योतिषी का मजाक भी इन्होंने इसी तरह उड़ाया है और कहते हैं—

"चित पितुमारक जोगु गुनि भयौ भयैं सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समझै जारज जोगु॥"

इस दोहे में भी हास्यरस शृंगार की ही लहर में बहता हुआ देख पड़ता है। कहीं भी हो और कुछ भी हो विहारीलालजी तो समस्त सृष्टि को केवल शृंगार के ही रंग में रंजित देखते थे। शृंगार रस की इस अनन्य उपासना की दृष्टि से निस्सन्देह बिहारीलालजी का स्थान हिन्दी कवियों में सर्वोत्तम कहा जा सकता है, क्योंकि इनके अतिरिक्त प्रायः सभी और कवियों की कविता में अन्य रसों का थोड़ा बहुत समावेश अवश्य है। अस्तु। यह बात भी प्रत्यक्ष है कि इनके ढलते दिनों में कुछ शांत रस भी इनके स्वभाव में स्थान पाने लगा था, और तभी इन्होंने कुछ अनूठे 'भक्तियुक्त' दोहे भी लिखे थे। वे उच्च कोटि के होते हुए भी बहुत ही थोड़े हैं—

सभी रसों में समान पहुँच रखनेवाले बिरले ही कवि होते हैं और है भी ठीक ही। कविवर बिहारीलाल में भी बस केवल एक ही रस की प्रधानता थी। इस रस के वर्णन में निस्सन्देह यदि सर्वोत्तम नहीं तो कम से कम अधिक ऊँचा स्थान तो उन्हें अवश्य ही दिया जा सकता है।

इनकी कविता प्रायः वर्णनात्मक है। ऐसी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि वर्णन सर्वांगपूर्ण हो। परन्तु सर्वांगपूर्ण वर्णन करने के लिये कवि की अथवा लेखक की विवेचना-शक्ति अत्यंत तीव्र होनी चाहिए। बिहारी की कविता देखने से यह जान पड़ता है कि उनमें यह गुण बहुत अंशों तक पूर्णता को पहुँच चुका था, क्योंकि इनकी कविता में काव्य के प्रायः सभी अंगों का यथोचित समावेश है। क्या नखशिख, और क्या नायिका-

भेद, क्या अलंकार और क्या रस सभी कुछ यथेष्ट पाया जाता है। बिना प्रखर विवेचना-शक्ति के यह कहाँ तक सम्भव हो सकता था?

यों तो इनके सभी दोहे उदाहरण में रखने योग्य हैं लेकिन तो भी उनमें से एक या दो को लेकर देखना आवश्यक है।

किसी स्त्री का स्नान वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि—

"मुँहु पखारि मुड़हरु भिजै, सीस सजल कर छ्वाइ।
मौरु उचै घूँटेनु तैं नारि सरोवर न्हाइ॥"

इस दोहे को किसी कामिनी का 'स्नान-चित्र' भी कहना कुछ अनुचित न होगा। यदि किसी ने स्त्रियों को नदी में नहाते हुए देखा होगा तो उसे यह भली भाँति विदित होना चाहिए कि बिहारी का उपर्युक्त दोहा उस स्नान-विधि का एक सवाक् चित्र है। स्त्रियाँ प्रायः नदी में सहसा नहीं कूद पड़तीं वरन आदि से अंत तक जो कुछ भी वे करती हैं उसका पूर्ण और सरस प्रतिबिंब हमें इस दोहे में मिलता है।

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर वे कहते हैं—

"विहँसति सकुचति सी दिएँ, कुच आँचर बिच बाहि।
भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँह॥"

यह वर्णन भी अत्यंत स्वाभाविक एवं सत्यता से पूर्ण है। इस दृश्य का भी केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन तो कदापि हो ही नहीं सकता था परन्तु कविवर विहारी ने उसका चित्र खींचकर हमारे सम्मुख रख दिया है। इन्हीं वर्णनों को देखकर हमें विहारी की तीव्रचक्षुता पर आश्चर्य होता है।

प्रतिभा और ज्ञान के अतिरिक्त इनकी कविता के लालित्य का श्रेय इनकी अपूर्व शैली को भी है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ये प्रायः प्रतिदिन की बोलचाल के प्रचलित मुहावरों का ही 'खरा' प्रयोग करते थे। परन्तु इसके अतिरिक्त भी उसमें अन्य कई बातें थीं—एक तो उनकी कविता का विषय प्रायः दैनिक जीवन की साधारण घटनाएँ ही हुआ करती थीं और इन्हीं घटनाओं को वे शृंगार के

रंग में रँगकर हमारे सम्मुख रखते थे। स्वयं प्रेमी होने के कारण प्रेम का रंग चढ़ाने में भी वे इतने कुशल थे कि उनकी वर्णित साधारण घटनाए भी असाधारण सी प्रतीत होने लगती थीं। परंतु स्वभावत: सरल होने के कारण वे हमें रुचती अधिक हैं। इनकी रचना में पग पग पर प्रेम का उन्माद टपकता है, शृंगार की तरंगें सी उठती देख पड़ती हैं, कहीं कहीं तो शृंगार प्रेम के उन्माद में बिल्कुल ही नग्न सा प्रतीत होने लगता है।

इनकी कविता वर्णनात्मक होते हुए भी अन्य कवियों की रचना की भाँति जटिल कल्पना से सन्निहित नहीं है। यह भी, इनकी कविता का एक बड़ा गुण है। इतना सब कुछ होते हुए भी इनके समकालीन अन्य कवियों की रचना की भाँति, इनकी रचना में भी हम हिन्दू-सदाचार का वह ऊँचा आदर्श नाम को भी नहीं देखते जो तुलसी की कविता में देख पड़ता है। इनकी कविता में 'प्रेम' शब्द की रटन भले ही चारों ओर सुन पड़ती हो और विकट आकर्षण भी चाहे प्रतीत होने लगता हो परंतु वास्तव में यह उस सच्चे प्रेम के उस उच्चादर्श से, जो मनुष्य को निःस्पृह और निःस्वार्थ बनाता है, कहीं दूर है। यह तो मनुष्य के हृदय का, जो प्रेम का एक मात्र आगार है, और जहाँ सच्चा प्रेम एक देदीप्यमान रत्न की भाँति जगमगाता रहता है, विकार है। इसमें प्रत्येक स्थल पर काम-वासना की दुर्गंध आती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि सारी बातें बड़े ही निःशंक और स्वच्छंद भाव से कही गई हैं। संकोच का तो कहीं नाम भी नहीं देख पड़ता। कामिनियों में लज्जा का भाव एक तो है ही बहुत कम और जो कुछ है भी वह केवल लज्जा का ढकोसला मात्र है। उस समय के प्राय: सभी कवियों की रचनाएँ ऐसी ही हैं। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि वे बिहारी की कविता में किसी भी भाँति क्षम्य हैं। अपवित्रतापूर्ण कामवासना का ऐसा निःसंकोच वर्णन उस समय के साहित्य में खूब ही भरा पड़ा है। संभवत: इसका कारण देश

की एवं काल की परिस्थिति ही हो सकती है। कवि लोग उस समय प्रायः राजसभाओं में ही रहा करते थे और वहीं की परिस्थिति का प्रभाव उन पर सबसे अधिक पड़ता था। यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि भारतवर्ष में यवन राज्य के साथ ही साथ उसकी जघन्य विलासप्रियता भी आ गई। साधारण जनता की अपेक्षा राजसभाओं में ही उसे विशेष आदर मिला और वहीं वह अधिक काल तक रही। निरंतर समागम के कारण हिंदी कवियों की कुप्रवृत्ति का संभवतः यही कारण था। इस दृष्टि से निस्संदेह कवियों का दोष कुछ कम अवश्य प्रतीत होने लगता है।

कुछ भी हो, इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि कविवर बिहारीलाल असाधारण योग्यता रखते थे। उनमें एक उच्च कोटि के सच्चे कवि की प्रतिभा थी और उनकी रचना थोड़ी होते हुए सर्वांगपूर्ण अवश्य है। 'सर्वोत्तमता' का टीका न मढ़ते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि कतिपय त्रुटियों और अवगुणों के होते हुए भी उनमें गुणों का ही आधिक्य था और 'कविवर' कहलाने के वे पूर्ण अधिकारी थे। आज यदि उनकी सतसई न होती तो हिंदी साहित्य की कुटीर अपने एक प्रतिभाशाली दीपक की सुंदर समुज्ज्वल ज्योति से विहीन होती। इनके दोहों की प्रशंसा में बस यही कहना पड़ता है कि—

"सतसैया के दोहरे, ज्यौं नावक के तीर।
देखत मैं छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥"

---

(१७) पुष्कर

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, अंक ३ से आगे)

पुष्कर का अति प्राचीन महायुद्ध

हम कई एक पुराणों से पुष्कर संबंधी वृत्तांत उद्धृत कर चुके हैं। **हरिवंश पुराण** में भी पुष्कर का वृत्तांत मिलता है परंतु वह अन्य पुराणों की भाँति केवल पुष्कर का माहात्म्य-विधायक नहीं है। उसमें एक अति प्राचीन यथार्थ ऐतिहासिक घटना का-अभिनिवेश है। उक्त पुराण के भविष्य पर्व के २९४ से ३२० अध्याय तक प्राय: ७५० श्लोकों में "हंसडिम्भकोपाख्यान" है जिसमें शाल्वदेश के राजकुमार हंस और डिम्भक का द्वारका के यादवों से पुष्कर में युद्ध होना वर्णन किया गया है। यह युद्ध कोई साधारण युद्ध नहीं था। ग्रन्थकार ने लिखा है—

"अत्यद्भुतं महायुद्धमासीत् पुष्करतीर्थके।
यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीन्नृपोत्तम"॥

पुष्कर तीर्थ पर ऐसा अति अद्भुत महायुद्ध हुआ जैसा पूर्व-काल में देवासुर-संग्राम हुआ था।

उक्त घटना का संक्षिप्त वृत्तांत नीचे लिखे अनुसार है—

शाल्व देश का राजा ब्रह्मदत्त था। वह पंच यज्ञ* करनेवाला, विजितेन्द्रिय, वेदवित् था। उसके दो रानियाँ थीं परंतु संतति एक से भी नहीं थी। अतः पुत्र-कामना से उसने १० वर्ष शिवाराधन किया और अभीष्ट वर प्राप्त किया। इस राजा का एक ब्राह्मण मित्र था जिसका नाम "मित्रसह" था। यह भी अनपत्य था।

* ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव और अतिथियज्ञ।

अतः इसने पुत्रार्थ वैष्णव सत्र किया और ५ वर्ष केशव का अर्चन कर अभीष्ट वर प्राप्त किया। कालांतर में राजा के दो और विप्र के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और इन तीनों बालकों के यथाविधि जात-कर्मादि संस्कार किये गये। राजा के ज्येष्ठ पुत्र का नाम हंस और कनिष्ठ का डिंभक तथा ब्राह्मण के पुत्र का नाम जनार्दन था। इन्होंने वेदादि शास्त्र पढ़े और परस्पर मित्रतापूर्वक रहने लगे परंतु कुछ काल पश्चात् राजकुमार तप करने का संकल्प कर हिमालय की ओर चले गये और उन्होंने ५ वर्ष तक मौनव्रत धार शंकर का आराधन किया। उनके संयम से प्रसन्न हो शंकर ने उन्हें युद्ध में अजेय रहने का अभिलषित वर, माहेश्वर और रुद्र अस्त्र तथा अभेद्य कवचादि दिये। वहाँ से लौट वे अपने माता-पिता के पास आये।

ये राजकुमार एक दिन अपने मित्र जनार्दन सहित मृगया के लिये निकले। इन्होंने वन में बहुत से सिंह, व्याघ्र वराहादि मारे। मृगया से जब वे परिश्रांत हो गये और दोपहर का समय भी हो चला तब वे पुष्कर सरोवर की ओर चले गये। वहाँ पहुँचकर इन्होंने पीड़ित पुरुष के समान कमल के बिस और प्रवाल खाये। तदनंतर वहाँ आराम कर सेना को दूर ठहरा मुनिजनों के मुखार-विंद से प्रवचन सुन महर्षि कश्यप के यज्ञ के दर्शन करने चले गये। मुनियों ने इन आगंतुकों का सत्कार किया और ये वहाँ सुख से बैठे। तदनंतर हंस ने मुनियों से निवेदन किया कि हमारे पिताजी भी यज्ञ करना चाहते हैं। आप इस सत्र के समाप्त होने पर वहाँ अपने शिष्यों और परिच्छदों सहित पधारने की कृपा करें। राजसूय यज्ञ कर हमारा विचार दिग्विजय करने का है।

वहाँ से ये राजकुमार पुष्कर के उत्तर तीर पर, जहाँ दुर्वासा थे, गये। वहाँ जा इन्होंने विद्वेषयुक्त चित्त हो पूछा कि यह किसका आश्रम है? आप गृहमेध को त्यागकर क्या साधन कर रहे हैं? हमको आपकी क्रियाएँ दंभ मात्र प्रतीत होती हैं। अच्छा हो यदि आप इस आश्रम को त्याग गृही बन पंच यज्ञ में

तत्पर होवें, यही स्वर्ग का सोपान है। यह कुचेष्टा इनके मित्र जनार्दन को बहुत बुरी लगी। उसने झिड़ककर कहा कि ऐसे अश्राव्य वचन आपको मुख से नहीं निकालने चाहियें। माना कि आपका गृहस्थ का काल अवश्य है परंतु ये तो वृद्ध यति लोग हैं। इनके गौरव को जानने योग्य ज्ञान अभी आपमें नहीं है। दुर्वासा को तो बहुत क्रोध आगया। उन्होंने कहा कि मैं अभी सब महिपालों को दग्ध कर सकता हूँ। कौन मेरे सामने ठहरने का साहस कर सकता है परंतु तुम मंदमतियों के दर्प को विश्व-विख्यात यादवेश्वर केशव दूर करेंगे। हतबुद्धि हंस ने मुनि के वचनों की अवज्ञा की यहाँ तक कि उनकी कौपीन फाड़ दी; कमंडलु, दंड, पात्रादि तोड़ फोड़ डाले और ऐसा उपद्रव मचाया कि तपस्वियों को वहाँ से भागना पड़ा। दुर्वासा बहुत से मुनियों को साथ ले द्वारका पहुँचे। उस समय कृष्ण सात्यकि तथा कुमारों सहित क्रीड़ा विहार के लिये पधारे हुए थे। वहीं दुर्वासा उनसे मिले। कृष्ण ने अर्घ्यादि से उनका समुदाचार किया और वहाँ पधारने का कारण पूछा। दुर्वासा ने क्रोध से मूर्च्छित हो गिरीश-वर-गर्वित हंस और डिंभक की असह्य कुचेष्टाएँ वर्णन कीं और उनका शीघ्र संहार करने की प्रार्थना की। कृष्ण ने समाचार अवगत कर मुनिजनों को आश्वासन दिया, और भोजन करा, वस्त्र पहना उन्हें बिदा किया।

उधर हंस और डिंभक ने अपने पिता से राजसूय यज्ञ करने की प्रेरणा की और अपने मित्र जनार्दन को, जनार्दन से यज्ञार्थ कर के स्वरूप में लवण प्राप्त करने को, द्वारका भेजा। ज्ञानी जनार्दन ने चतुरतापूर्वक अपना दूत-धर्म निभाया और वहाँ से लौट कृष्ण का गुणगान किया और कहा कि शेष समाचार उनका दूत सात्यकि निवेदन करेगा। हंस, शत्रुपक्ष की स्तुति में तत्पर, जनार्दन से बहुत अप्रसन्न हुआ। फिर वीर सात्यकि ने कहा कि श्रीकृष्ण ने बाण से, खड्ग से अथवा चक्र से कर चुकाने को कहा है। भले ही आप

पुष्कर जावें, प्रयाग जावें, मथुरा जावें, कहीं भी जावें वे बलसहित वहीं विद्यमान होंगे। हंस ने इस समराह्वान को सहर्ष स्वीकार किया और कहा कि पुष्कर में कल अथवा परसों हमारा युद्ध होगा तभी हम केशव और उसकी सेना का बल जान लेंगे।

सात्यकि ने वापस आ श्रीकृष्ण की सेवा में सारा वृत्तांत निवेदन किया। उन्होंने तुरंत यादव वीरों की सेना एकत्र कर प्रस्थान किया और पुष्कर पर आ पहुँचे। सब यादवों ने यहाँ यथासुख निवास किया और भगवान् गोविंद ने आचमन कर तपस्वियों को प्रणाम किया।

हंस डिंभक भी दलबल सहित पुष्कर में उपस्थित थे और इनकी सहायता के लिये इनका मित्र हिडिंब ८८,००० राक्षसों सहित आया हुआ था। यों दोनों ओर की सेनाएँ, सजधज कर, सोत्साह युद्ध के लिये तत्पर हुईं। फिर क्या था। रण-भेरी बजी और अस्त्र शस्त्र चलने लगे। मार काट प्रारम्भ हुई। रण-चंडी ख़ूब चेती। कोई इधर भागा कोई उधर भागा, कोई भूमि पर पड़ा, किसी का गदा से मस्तक चूर्ण हो गया, किसी की बाँह खड्ग से खंडित हो गई, किसी का हृदय बाण से विदीर्ण हो गया। श्येन और गृद्धादि पक्षी अगणित शवों को प्राप्त कर महोत्सव मनाने लगे। हजारों हाथी, लाखों घोड़े, रथ और सैनिक समाप्त हो गये*। हंस ने यादवों की पैदल सेना को, जो पुष्कर में थी, बहुत हानि पहुँचाई। तदनंतर द्वंद्व युद्ध हुआ। बलभद्र से हंस, डिंभक से सात्यकि, उग्रसेन से हिडिंब इस प्रकार कई जोड़ियाँ उपस्थित हुईं जिन्होंने परस्पर पूर्ण बल से युद्ध किया। अंत में बलदेव ने हंस के १० बाण मारे और गदाघात से आहत

---

* सप्ताशीति सहस्राणि हता नागा नृपोत्तम।
त्रिंशत्साहस्रयुक्तं निहता हयसत्तमाः॥
हतं लक्षं महाराज रथानां रथिभिः सह।
त्रिःशत्कोट्यो हतास्तत्र सादिनः सायुधा भृशम्॥

किया। डिंभक ने भी बहुत साहस से सात्यकि का सामना किया। ऋषि, मुनि और देव गन्धर्वों ने इन बलशाली वीरों के वीर्य की बहुत प्रशंसा की। हिडिम्ब ने भी अपने बलोत्कर्ष से वृष्णिसैन्य को चित्रपट में लिखे के समान कर दिया। यादव-पुंगव वयोवृद्ध वसुदेव और उग्रसेन धनुष धारण कर उसके सामने आये। वह भयानक आकृति उन्हें देखते ही क्रुद्ध सिंह के समान मुख फाड़ दौड़ा और उनके मांस खाने और रुधिर पीने की चेष्टा करने लगा। ये दोनों देखते ही रह गये। इतने में बलदेव वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने उस पर मुष्टिका प्रहार किया। फिर खूब चट चट शब्द होने लगा। अंत में तलाघात से बलराम ने राक्षसेश्वर का वध किया और उसके शरीर को चारों ओर घुमाकर बहुत दूर फेंक दिया। इस प्रमुख के परास्त होने पर शेष राक्षस, बलभद्र से भयभीत होकर, भाग गए।

तदनंतर उसी रात हंस और डिंभक गोवर्द्धन महागिरि पर चले गए। कृष्ण ने तुरंत उनका पीछा किया और वहाँ पर महा घोर युद्ध हुआ। परस्पर वारुण, वायव्य, माहेंद्र, माहेश्वर, रौद्रादि अस्त्र चले। अंत में हंस भागकर कालीयदह में कूद पड़ा। कृष्ण ने भी रथ से उतर उसका पीछा किया और लात मारी। कुछ लोगों का कहना है कि कृष्ण के पादघात से वह मर गया। कुछ कहते हैं कि वह पाताल जा रहा था, मार्ग में पन्नगों (नागों) ने उसे खा लिया। कुछ भी हो, वह फिर दिखाई नहीं दिया।

अपने अति उग्र भ्राता की ऐसी गति सुनकर डिंभक यमुना की ओर आया। बलभद्र ने झट उसका पीछा किया। भाई की क्षति ने उसके साहस को बहुत तोड़ दिया था। वह भी यमुना में कूद पड़ा और बहुत विलाप कर अपने हाथ से अपनी जीभ खैंच आत्मघात कर बैठा।

इस युद्ध में यादवों को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। श्रीकृष्ण अपने उन स्थानों को, जहाँ उन्होंने बाल्यकाल व्यतीत किया था, देख तथा वृद्ध पुरुषों से प्रेमपूर्वक मिल पुष्कर होते हुए द्वारका को ससैन्य लौट

गए। पुष्कर-निवासी मुनिवरों ने श्रीकृष्ण को उनकी विजय पर नाना बधाइयाँ दीं।

ऊपर लिखे हुए वृत्तांत से यह पर्याप्त प्रतीत होता है कि पुष्कर प्रदेश में यादवों और शाल्व देश निवासियों का परस्पर युद्ध अवश्य हुआ और यह कोई कपोल-कल्पित घटना नहीं थी। शाल्वदेश विस्तृत कुरुक्षेत्रदेश से मिला हुआ था और वर्तमान अलवर, जैपुर राज्य और आस पास के भूविभाग उसके अंतर्गत थे। अतः हंस का यह कहना कि "संग्रामः पुष्करेऽस्माकं श्वः परश्वोऽपि वा नृप। ततो ज्ञास्यावहे वीर्य्यं केशवस्य बलस्य च" ठीक है। क्योंकि वह अपने देश से एक दो दिन में पुष्कर पर सेना ला सकता था। संभव है, हंस और डिंभक की शिव के वरदान प्राप्त करने की चर्चा सांप्रदायिक भाव से लिखी गई हो।

जैन और पुष्कर

श्रीयुत् महाराजकृष्ण ने एक "तवारीख अजमेर" नामक पुस्तक उर्दू भाषा में लिखी थी। उसमें पुष्कर के संबंध में लिखते हुए कुछ लिखा है जिसका आशय है कि "अनुमान ४००० वर्ष हुए इस मुल्क में जैन धर्म बहुत फैल गया था। पदमसेन नामक एक राजा ने यहाँ बहुत बड़ा नगर बसाया जिसका नाम पदमावती रखा। इसकी आबादी एक लाख की थी और यह नांद, सूरज, कुंड, गलती, किशनपुरा और वासैली ग्रामों के मध्य में बसा हुआ था। जैनी लोग इस तीर्थ को कोकन तीर्थ कहते थे। दैवयोग से एक महात्मा यहाँ आये और १२ वर्ष तक यहीं तपस्या करते रहे। वे एक दिन चेले के मस्तक पर घाव देखकर बड़े दुखी हुए। चेले ने नम्रतापूर्वक कहा कि यहाँ का राजा तथा प्रजा जैनी हैं। ये लोग अन्य धर्मावलम्बी को दान नहीं देते। अतः लकड़ियाँ बेचकर मैं अपना निर्वाह करता रहा हूँ। और लकड़ियों से ही यह सिर पर घाव हो गया है। महात्मा इस अनुदारता के वृत्तांत के सुनने से अति कुपित हुए और उनके शाप से यह नगर नष्ट हो गया।"

उपर्युक्त वृत्तांत जनश्रुतिमात्र विदित होता है। हाँ, कुमारपाल, हेमचंद्राचार्य्य, वस्तुपाल, तेजपाल जैसे जैनधर्म के सुप्रसिद्ध प्रचारक और सहायक अणहिलवाडा पाटण में हो चुके हैं और उनका प्रभाव पुष्कर पर पड़ा हो तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। सुना है कि विक्रम संवत् १९६० में पुष्कर प्रदेश में शांतिनाथ देव की एक प्रतिमा, जिस पर वि० सं० ११६७ का लेख है, बूढ़े पुष्कर में मिली थी और वह राजपूताना म्यूज़ियम में विद्यमान है।

जैनकल्पसूत्र में एक कथा विद्यमान है जिसका सार नीचे लिखते हैं—

पाटण का उदाइ नामक राजा था। उसकी रानी प्रभावती थी। मृत्यु के समय वह अपने पति से कह गई कि आप संकट के समय मुझे स्मरण करोगे तो मैं आपके काम आऊँगी। उसी नगर में एक कुरूपा दासी रहती थी जिसने एक श्रावक की बहुत सेवा की। श्रावक ने प्रसन्न होकर उसे एक गुटिका दे दी जिसके प्रभाव से वह अतिशय सुंदर स्वरूपवाली बन गई। उसके अलौकिक सौंदर्य की चर्चा उज्जैन के कामी नरेश चंडप्रद्योत के कानों तक पहुँची। उसने उस स्त्री को प्राप्त करने के अनेक प्रयत्न किये। अंत में उसके कारण उदाइ और प्रद्योत में विरोध हो गया। उदाइ ने दस अन्य नरेशों को साथ ले आक्रमण प्रारम्भ किया। उसकी सेना का पहला पड़ाव चंडीश्वर महादेव पर, दूसरा ब्रह्मसर पर, तीसरा पोकरण पर, चौथा मंडोवर पर और पाँचवाँ पुष्कर पर हुआ। उसको कई स्थानों पर जल के अभाव से बहुत कष्ट हुआ परंतु उन अवसरों पर उसने प्रभावती का स्मरण किया और उसकी दिव्य सहायता से वह संपन्नमनोरथ हुआ। उस उपकार की कृतज्ञता में उसने उसके नाम के मंदिर उन स्थानों पर बनवा दिये। चंडप्रद्योत भी सेना लेकर पुष्कर प्रदेश में आ पहुँचा परंतु संग्राम में हार गया और बंदी कर लिया गया। जब संवत्सरी दिन आया तब, जैन धर्म के नियमानुसार, उदाइ ने प्रद्योत से विरोध त्यागने के विचार से नम्रतापूर्वक

वार्तालाप किया। प्रद्योत ने उस अवसर पर फिर स्वर्ण-गुटिका दासी माँगी। उदाइ ने उसके सिर पर एक मुकुट पहना दिया जिस पर "दासी-पति" लिखा हुआ था और स्वर्ण-गुटिका का, अपनी पुत्री के सदृश उसके साथ विवाह कर दिया।

इस कथा में पुष्कर का नाम मात्र है। जैनियों का पुष्कर से क्या यथार्थ संबंध रहा है यह विषय अन्वेषणीय है।

बौद्ध और पुष्कर

बौद्ध धर्म भारतवर्ष में कितने विस्तीर्ण रूप से फैला था यह इतिहासवेत्ताओं को सुविदित है। बौद्ध धर्म का असर पुष्कर पर भी अवश्य पड़ा। ऐसा सुना है कि पाली भाषा के बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध भगवान् का पुष्कर पधारना तथा एक ब्राह्मण को अपने धर्म की दीक्षा देना लिखा हुआ है और बौद्धों की एक शाखा **पौष्करायिणी** कहलाती है।

पुष्कर में यदि खुदाई की जाय तो बहुत संभव है कि बौद्धों के स्थानों का पता लगे। कदाचित् इन बालू के टीलों के भीतर स्थानों के अवशेष मिल सकें।

साँची अथवा काकनाडा के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप से जो वर्त्तमान भूपाल रियासत में हैं, बौद्धों के अनेक प्राचीन शिलालेख मिले हैं। उनमें से निम्नलिखित लेखों में पुष्कर का उल्लेख है—

(१) अरहदिनस भिखुनो पोखरेय कस दानं

अर्थात् पुष्कर के रहनेवाले भिक्षु अर्हदत्त का दान

(२) पोखरा हिमगिरिनो दानं

अर्थात् पुष्कर के हिमगिरि का दान

(३) पोखराते इसिदताय लेवस पजावतिया दानं

अर्थात् पुष्कर से लेवा की स्त्री इसिदत्ता (ऋषिदत्ता) का दान

(४) पोखराते इसिदताय दानं ....

अर्थात् पुष्कर से इसिदत्ता का दान

(५) पोखराते तुडाया तुडस च दानं ले...
अर्थात् पुष्कर से तुडा और तुंड का दान

(६) पोखरा संघखित दानं
अर्थात् पुष्कर के संघरक्षित का दान

(७) अयस बुधरखितेस पोखरेयकस दानं
अर्थात् पुष्करनिवासी आर्य्य बुधरक्षित का दान

(८) नागरखितस भिछुनो पोखरेयकस दानं
अर्थात् पुष्करनिवासी भिक्षु नागरक्षित का दान

(९) अयस पोखरेयकस दानं
अर्थात् पुष्कर के आर्य्य का दान

ऊपर दिये हुए लेख ईसवी सन् से दो सौ वर्ष पूर्व अर्थात् बाईस सौ वर्ष के हैं। इनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय बहुत से बौद्धधर्मनिष्ठ लोग पुष्कर में रहते थे। तदनंतर वैदिक धर्म-प्रवर्तक-प्रभाकर शंकराचार्य्य के श्रम रूपी कर के स्पर्श से पुष्कर में पुरातन परिमल आमोद और प्रमोद का पुनरपि पूर्ण संचार हुआ और शनैः शनैः बौद्धधर्म के ह्रास के साथ साथ एतद्देशस्थ बौद्धधर्मावलंबियों की भी इतिश्री हो गई।

पुष्कर संबंधी शिलालेख

शिलालेख भारत के इतिहास के लिये कितने अमूल्य साधन सिद्ध हो चुके हैं इसे बताने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। पुष्कर के संबंध के शिलालेखों के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक वे लेख जो पुष्कर में प्राप्त हुए हैं और दूसरे वे जो अन्यत्र मिले हैं और उनमें पुष्कर संबंधी चर्चा है। खेद का विषय है कि अति प्राचीन काल से सुप्रसिद्ध पुष्कर में अभी तक प्राचीन लेखों का कोई सपरिश्रम अन्वेषण नहीं किया गया है। जो दैवयोग से अभी तक मिले हैं उनका थोड़ा सा परिचय नीचे दिया जाता है।

(१) सबसे प्राचीन शिलालेख जो पुष्कर में मिला है वह सं० ९८२ तदनुसार ई० सन् ९२५ का है। इसमें भट्ट के पुत्र मल्हण

ने सोमादित्य को क्षेत्रदान किया था जिसका तथा राजा दुर्ग-राज के दानपत्र का उल्लेख है। यह पाषाण एक मकान में सीढ़ी के स्वरूप में लगा हुआ था। वहाँ से रायबहादुर पंडित गौरीशंकरजी ओझा ने तथा राय साहब हरविलासजी सारदा ने इसका उद्धार किया और ईसवी सन् १६०६ में राज-पूताना म्यूजियम अजमेर में ला पधराया। इस लेख में अंकित राजा का तथा अन्य व्यक्ति का अभी तक कोई और वृत्तांत नहीं मिल सका है। इसी शिलालेख में वृद्ध पुष्कर का उल्लेख है।

(२) दूसरा शिलालेख जो मिला है उसमें संवत् नहीं दिया हुआ है। उसमें राजा वाक्पतिराज के समय में रुद्रादित्य नामक पुरुष द्वारा एक विष्णु-मंदिर बनाये जाने का उल्लेख है। यह वाक्पतिराज अजमेर का चौहाण राजा, जो ईसा की दशवीं शताब्दी के अंत में हुआ था, प्रतीत होता है। यह भी अब राजपूताना म्यूजियम अजमेर में विद्यमान है।

(३) सितंबर सन् १६११ में राय साहब हरविलासजी तथा पं० गौरीशंकरजी ने अष्टोत्तरशतलिंग महादेव के मंदिर के एक सती-स्तंभ पर सं० १२४३ (ई० सन् ११८७) का एक लेख देखा। इसमें लिखा है कि माघ सुदि ११ को ठाकुर कोल्हण की स्त्री ठकुराणी हीदवदेवी सती हुई। इस लेख में कोल्हण को गुहिलवंशी और गौतमगोत्री लिखा है।

देखो राजपूताने का इतिहास पृष्ठ ५२८।

(४) संवत् १७७३ के एक शिलालेख का वृत्तांत हम ब्रह्माजी के मंदिर के वर्णन में लिख आये हैं।

(५) वराहजी के मंदिर के विषय में लिखते हुए वहाँ की मूर्ति पर विद्यमान लेख की चर्चा कर चुके हैं।

(६) बद्रीनाथजी के मंदिर की प्रतिमा की बैठक पर भी एक लेख है।

अभी तक पुष्कर में और किसी महत्वपूर्ण शिलालेख का पता नहीं है।

राजपूताना म्यूज़ियम में एक अँगरेजी की हस्तलिखित पुस्तक, जो ईसवी १८३० के आसपास की लिखी हुई है, विद्यमान है। उसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं* ।

At Poskur, near the Khut Mandir, is a stone with Sanskrit inscription of which the following is a translation. "In the year S. 106 (A.D. 49) and twelfth day of the moon in Asar, the wife of Govind Brahmin, the daughter of Bias Bikram, burnt herself with her husband."

ओझाजी महाराज का कहना है कि इस संवत् के पढ़ने में अवश्य भूल हुई है। वह लेख इतना पुराना हो ही नहीं सकता। इस शिलालेख का अब पता नहीं है।

अब उन शिलालेखों का, जो अन्यत्र मिले हैं और जिनमें पुष्कर का उल्लेख है, संक्षिप्त परिचय देते हैं—

(१) उदयपुर राज्य में शृंगी ऋषि के कुंड पर की तिवारी के सं० १४८५ के लेख की चर्चा वराह जी के मंदिर का वृत्तांत लिखते हुए कर आये हैं।

(२) वि० सं० १०३० (ई० ९७३) का एक शिलालेख जैपुर रियासत के शेखावाटी प्रदेश में हर्षनाथ ग्राम के पास--ऊँचा पहाड़ के एक जीर्ण मंदिर में मिला है। उसमें शाकंभरीश्वर चौहाण राजा सिंहराज का पुष्कर में स्नान करके हर्षनाथ के देवालय को चार ग्राम दान देना लिखा है† ।

---

* आशय—पुष्कर में कूटमंदिर के समीप एक पाषाण है। उस पर संस्कृत भाषा में एक लेख खुदा हुआ है जिसका अनुवाद निम्नलिखित है—व्यास विक्रम की पुत्री, जो गोविंद ब्राह्मण को ब्याही गई थी, आषाढ़ सुदि १२ सं० १०६ को सती हुई।

† महाराजाधिराज श्री सिंहराजः स्वभोगे तूनकूपकद्वादशके सिंहगोष्ठं तथा पट्टव(ब)द्धक विषये त्रैकलककेशानकूपौ। सरः कोट्ट विषये कण्हप-ल्लिकामेवं ग्रामांश्चतुरश्चंद्राक शिखरोपरि......भगवते श्रीहर्षदेवाय पुण्येहनि श्रीमत्पुष्करतीर्थे स्नात्वा स्नपनार्च्चनविलेपनोपहार धूपदीपपर्वयात्रोत्सवार्थमा-शशांकतपनार्णवस्थितेर्यावच्छासनत्वेन प्रददौ।

(३) बंबई प्रांत के सुप्रसिद्ध प्राचीन नासिक स्थान के निकट की गुफाओं में कई एक शिलालेख हैं। ये त्रिरश्मी पहाड़ में बनो हैं और पांडव गुफाएँ कहलाती हैं। उनमें से एक में ई० सन् १२० के आसपास का एक लेख है। उससे सिद्ध है कि शकवंशोद्भव दीनीकतनय उषवदात्त, जो क्षत्रप नरेश नहपान का जामाता था, यहाँ पुष्करों पर आया। उसने यहाँ स्नान किया और ३००० गायें और एक ग्राम दान किया। "गतो पुष्कराणि, तत्र च मया अभिषेको कृतो त्रीणि च गो-सहस्राणि दत्तानि ग्रामो च।"

इस राजा ने सैकड़ों ग्राम ब्राह्मणों को दान दिये थे। एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराता था, प्रभासादि में धर्मशालाएँ, कूप-वाटिकाएँ बनवाईं तथा ३२,००० नारियल के वृक्ष दिये। उसने वारणास नदी (कदाचित् राजपूताने की बनास) पर स्वर्णदान दिया और तीर्थ (घाट) निर्माण किया।

विशेष वृत्तांत इपिग्राफिया इंडिका जिल्द ८, सं० १९०५-०६ पृष्ठ ७८-८१ में देखना चाहिए।

(४) अजमेर के मदार दर्वाजे पर एक शिलालेख मरहठों के समय का है। उसमें कुछ पुष्कर संबंधी कर माफ किये जाने का वर्णन है।

(५) ऊपर निर्देश किये हुए शिलालेखों के अतिरिक्त जो, भूपाल राज्य के अंतर्गत, साँची में लेख मिले हैं उनका वृत्तांत लिख आये हैं।

पुष्कर के पंडे

आजकल पाश्चात्य सभ्यता की अलौकिक दीप्ति ने ऐसा प्रभाव डाला है कि भारत की आर्य्य प्रजा प्रायः सभी पुरातन पद्धतियों को सदोष मानने लग गई है। रेल और तार ने भूमंडल और काल को हमारे लिये बहुत छोटा बना दिया है और हमारे राग और विरागों का परिवर्त्तन कर दिया है। अब हम घर से रेल में बैठकर किसी स्थान को

जाते हैं तो वहाँ उतरते ही वेटिंगरूम मिलता है; सरदार, चपरासी, खानसामा आदि आतिथ्य करने के लिये उपस्थित होते हैं; फिर होटल हैं और महत्त्वपूर्ण स्थान दिखाने के लिये गाइड हैं इत्यादि इत्यादि। इसमें संदेह नहीं कि ये रमणीय सुख के साधन आज दिन लभ्य हैं परंतु इनका मूल्य बहुत महँगा है। इस देश में प्राचीन काल से प्रत्येक तीर्थ पर एक जनसमुदाय विद्यमान है जो "पंडा" कहलाता है। यात्रियों को देखकर पंडे हर्षित होते हैं, वे अपने घर को यात्रियों का घर बना देते हैं, यात्रियों के तन और धन के उत्तरदायी बन जाते हैं; वे उनके मार्गोपदेशक, संरक्षक, शुश्रूषक, उपासक, परिचारक, सहायक, सब कुछ हैं। उनका शुल्क यात्रियों की श्रद्धा पर निर्भर है। रेल के दर्जे और होटल के कमरों के अनुसार उन्होंने कोई रकम नियत नहीं कर रखी है। आजकल ऐसे यात्रियों की संख्या कम होती जाती है जो इन लोगों के उपयोग को स्नेह-दृष्टि से निहार इनका सत्कारपूर्वक सम्मान करते हों। अन्य तीर्थों की भाँति पुष्कर तीर्थ पर भी पंडे विद्यमान हैं।

इस तीर्थ पर आनेवाले यात्रियों की बहुत बड़ी संख्या साधारण स्थिति के पुरुष और स्त्रियों की होती है। जो कुछ वे देते हैं उसी से पंडों का निर्वाह होता है। और तीर्थों की तरह यहाँ के पंडे भी बहीखाता रखते हैं। उसमें यात्रियों के तथा उनके बाप दादा के नाम, ग्राम आदि बराबर लिखते जाते हैं। पुष्कर ग्राम में, जैसा कि हम प्रारंभ में लिख आये हैं, दो बस्तियाँ हैं—एक छोटी बस्ती कहलाती है और दूसरी बड़ी बस्ती। दोनों बस्तियों में ऐसे ऐसे प्रतिष्ठित पुरुष हैं जो बड़ी बड़ी रियासतों के राजाओं के पंडे हैं। इन दोनों बस्तियों के निवासियों में परस्पर मनोमालिन्य होता रहा है और वह इस शैली और सीमा का कि इतिहासलेखकों ने उससे जनता को अबोध रखना अच्छा नहीं समझा। अतः पुष्कर के विषय में और सब बातों का परिचय देते हुए इस बात का भी कुछ परिचय देना आवश्यक है।

"छोटी बस्ती प्रारंभ में जयसिंहपुरा कहलाती थी क्योंकि उसे जयपुर के राजा जयसिंह दूसरे ने, जिनका राज्यकाल ई० सन् १६९९ से १७४३ तक रहा, बसाया था। राजा जयसिंह के समय से ही दोनों बस्तियों के ब्राह्मणों में परस्पर स्नेहवृत्ति का अभाव है और इसका हेतु यह है कि छोटी बस्ती के ब्राह्मण ऐसा बतलाते हैं कि बड़ी बस्ती के ब्राह्मण सच्चे ब्राह्मण नहीं हैं किंतु शाकद्वीपी ब्राह्मण अर्थात् मग (फारिस के मगी जाति के) हैं और वे ब्राह्मणों के समुदाय में सम्मिलित हो जाने के* पश्चात् अपने आपको पाराशर ब्राह्मण कहने लग गये हैं।

"करनल ब्राटन ने इनके विषय में परिचय देते हुए लिखा है कि इनके यहाँ एक विचित्र रिवाज है और वह उस रिवाज से मिलती जुलती है जो इटली के कुछ नगरों में, मेरा विश्वास है कि माल्टा में, प्रचलित है। होली के दूसरे दिन बड़े मोहल्ले (बस्ती) के रहनेवाले दूसरी बस्ती के रहनेवालों पर व्यवस्थित आक्रमण करते हैं और वे लोग डंडे और पत्थरों से, अथवा जैसे भी बन सके वैसे, प्रतिवारण करते हैं। परंतु मुझे इस सांवत्सरिक संग्राम की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका।"* ये कर्नल साहब पुष्कर में वि० सं० १८६६ में पधारे थे। इसके पश्चात् एक बार बड़ी बस्तीवालों ने छोटी बस्ती में भयंकर आग लगा दी थी जिस त्रास की स्मृति अब तक लोगों को भले प्रकार है।

श्रीयुत महाराजकृष्णजी ने लिखा है कि उस अवसर पर जब संन्यासियों ने गूजरों को पुष्कर से निकाला† बड़ी बस्तीवाले मालिक बन बैठे। आगे चलकर उन्होंने इनकी रोटी बेटी आदि की चर्चा की है परंतु वह वृत्तांत हमारे प्रकरण में उपयोगी नहीं होने से हम उसे छोड़ देते हैं।

फिर आगे चलकर जो उन्होंने लिखा है उसका आशय यह है कि महाराजा जयसिंह स्नान करने पुष्कर पधारे और अपनी पोशाक

* देखो अजमेर हिस्टारिकल एंड डिस्क्रिप्टिव।

† इस घटना का परिचय "उपसंहार" में दिया गया है, वहाँ देख लें।

पुरोहित को दे गये। उसने अपनी पुत्री के विवाह पर उसे अपने जामाता को, जो जैपुरनिवासी सेवक था, दे दी। वह एक दिन "वही राजा की पोशाक पहने हुए जैपुर में सरावगियों की अरथी के आगे छड़ी लिए अपनी जाति के नियमानुसार जाता था"※। दैवयोग से महाराज की दृष्टि उस पर पड़ी और वह पोशाक उन्होंने पहचान ली। अनुसंधान करने पर ज्ञात हुआ कि उनके पुरोहित ने उसे अपने दामाद को दिया था। उन्हें आश्चर्य हुआ कि ये लोग सेवकों के साथ क्यों संबंध करते हैं कदाचित् यथार्थ में ब्राह्मण नहीं हैं। अंत में उन्होंने पूर्व पुष्कर-पुरोहित को दूर कर दिया।

महाराजा सवाई जयसिंह ने पुष्कर की तीर्थ-पुरोहताई हीरा आदि भोजकों से लेकर दुर्गा बेटा जैकिशन सनाढ्य ब्राह्मण के नाम मिती माह बदि ९ सं० १७८९ को कर दी। इस विषय का प्रमाण-पत्र छोटी बस्तीवालों के पास है। इस प्रकार के कुछ और भी प्रमाणपत्र उनके पास विद्यमान हैं जिनका लेख के विस्तार-भय से हम उल्लेख नहीं कर सकते।

पुष्कर संबंधी देवताख्यान का स्पष्टीकरण

यदि पुष्कर संबंधी कथा को बहुत थोड़े से शब्दों में कहें तो वह इतनी ही है कि "ब्रह्माजी ने एक बार यज्ञ करने का विचार किया और इस कार्य्य के लिये "पुष्कर" पसंद किया। तैयारियाँ प्रारंभ हुईं। दीक्षा का काल समीप आ चुका था अतः सावित्रीजी से शीघ्र पधारने को कहलाया गया। वे बोलीं कि अभी मंडप बनाना, आँगन सजाना आदि घर के आवश्यक कार्य्य समाप्त नहीं हुए हैं और लक्ष्मी, सती, इंद्राणी आदि नहीं आई हैं अतः थोड़ी

※ ये शब्द "श्री पुष्करजी का इतिहास" में, जो हिन्दी भाषा में चिराग राजस्थान यंत्रालय अजमेर में सन् १८९२ में छपा, विद्यमान हैं। हमको ये अशुद्ध प्रतीत होते हैं। यहाँ पर कुछ भूल है। अरथी के साथ भला राजा की जरी की बहुमूल्य पोशाक पहनकर कौन जायगा ? किसी महाजन की बरात के साथ जाता हुआ लिखा होता तो मानने योग्य भी था।

देर ठहरें। अपनी पत्नी का यह उत्तर सुन ब्रह्माजी अप्रसन्न हुए और इन्द्र से बोले कि तुम शीघ्र यज्ञ-वेला टलने के पहले पहले हमारे लिये कोई स्त्री ले आओ जिसके द्वारा हमारा कार्य संपादित हो। आज्ञानुसार इन्द्र गये और एक सुंदर गोपकन्या को सहसा बलं-पूर्वक पकड़ लाये जिससे ब्रह्माजी ने गंधर्व विवाह किया और उसे साथ ले यज्ञारंभ किया। तदनंतर सावित्री भी वहाँ आ पहुँचीं। वे अपने पति की इस चेष्टा से बहुत कुपित हुईं, अतः कइयों को शाप दिया और एक पर्वत पर चढ़ गईं जहाँ यज्ञ का शब्द न सुनाई पड़ सके। गायत्री ने उनको, जिन्हें सावित्री ने शाप दिया था, आशीर्वाद दिया।"

जब हम साधारण रूप से इस कथा को देखते हैं तो यह न तो रोचक प्रतीत होती है, न विलक्षण, न युक्तियुक्त और न उपदेशप्रद। अपितु इसके विषय में कई एक शंकाओं का समुत्थान हो जाता है। उदाहरणार्थ सावित्री ने क्या अनुचित उत्तर दिया था जिससे ब्रह्माजी इतने रुष्ट हुए कि दूसरी पत्नी अंगीकार कर ली। भला गोपकन्या गायत्री को बलपूर्वक पकड़ लाना इंद्र के लिये कहाँ तक उचित माना जा सकता है? और देखिए गायत्री से विवाह कर उसे यज्ञ में सम्मिलित किया ऐसा लिखा है। विवाह करने में भी तो देरी लगी होगी। क्या इतनी सी देर भी ब्रह्माजी नहीं ठहर सकते थे? इत्यादि। ऐसी स्थिति में इस कथा के रहस्योद्‍घाटन के लिये चेष्टा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रत्येक धर्म में हम तीन विभाग पाते हैं। (१) देवताख्यान (Mythology), (२) सिद्धांत (Principles), (३) कर्मकांड (Rituals)। पुष्कर की कथा का संबंध कर्मकांड और सिद्धांत से नहीं है। वह एक देवताख्यान है। यह विस्तारपूर्वक पद्मपुराण के सृष्टिखंड में मिलता है अतः सृष्टि से इसका संबंध होना चाहिए। इस कथा का नायक ब्रह्मा है अतः हमको यह देख लेना चाहिए कि यह ब्रह्मा कौन है। हिंदुओं में भले ही देवताओं की भरमार हो परंतु वे

आदि देवता एक ही मानते हैं। उनका सिद्धांत एक में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व मानना है। जैसे शरीर एक है परंतु उसके अंग अनेक हैं, ऐसे ही जो संसार का एक मात्र आधार है वह एक है। उसी एक के अनेक नाम हैं। उसी की उत्पत्ति, पोषण और प्रलय करनेवाली शक्तियों के नाम ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माजी का ही वर्णन पुष्कर की कथा में है। अब ब्रह्माजी का वर्णन श्रुति में इस प्रकार मिलता है—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसो भवत्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यस्य भूमिः प्रयान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व वेद, कांड १०, अनुवाक ४ *

ऊपर लिखे हुए मंत्रों से हमारे सामने एक ऐसा ब्रह्मा आता है जिसका द्युलोक मस्तक, सूर्य और चंद्र नेत्र, वायु प्राण और अपान, अग्नि मुख, दिशाएँ हाथ, अंतरिक्ष उदर, और पृथ्वी पैर है। वह बड़ा है और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को जाननेवाला है†।

---

* इन्हीं मंत्रों के आशय को लेकर निम्नलिखित सुप्रसिद्ध श्लोक बनाया हुआ है—

भूः पादौ यस्य खञ्चोदरमसुरनिलश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे
कर्णावाशा शिरोद्यौर्मुखमपि दहनो यस्य वास्तव्यमब्धिः।
न्तस्थं यस्य विश्वं सुरनरखगगो भोगिगन्धर्वदैत्यै-
श्चित्रं रंरम्यते तन्त्रिभुवनवपुषं विष्णुमीशं नमामि॥

† जैसे विश्वपति की पुरुषाकार कल्पना की है वैसे देवमंदिर की भी आदि में पुरुषाकार ही कल्पना की हुई प्रतीत होती है। शिखर भगवान् की चोटी है, मुख वह स्थान है जहाँ मुख्य प्रतिमा विराजती है, परिक्रमा हाथ हैं,

भगवान् को अलंकारिक भाषा में वर्णन करना उनकी प्रतिमा बनाने का पूर्वरूप है। अस्तु, ये ही ब्रह्माजी सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का यज्ञ के स्वरूप में वर्णन किया जाना वैदिक साहित्य में पाया जाता है। मानव-प्रजनन को भी यज्ञ से उपमा दी हुई मिलती है*। अब दो एक वेद-मंत्रों को विचारिए—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अजयन्त साध्या ऋषयश्च ये। तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाᳫसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः। यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।

यजुर्वेद ३१ अध्याय (पुरुषसूक्त)

इनमें ब्रह्माजी का यज्ञ ही तो वर्णन किया हुआ है। अब यज्ञ के लिये स्थान चाहिए। सृष्टि की उत्पत्ति कहाँ होती है? इस प्रश्न का उत्तर है **अंतरिक्ष** में। अंतरिक्ष का ही वैदिक नाम **पुष्कर** है। देखो निघंटु, अध्याय १, खंड ३। निरुक्तकार महर्षि यास्क लिखते हैं कि अंतरिक्ष को अंतरिक्ष इसलिये कहते हैं कि वह अक्षय है, पुष्कर भी अंतरिक्ष का नाम है क्योंकि वह अवकाश ज्ञान से भूतों का पोषण करता है। अतः पुष्कर में उक्त यज्ञ का होना समुचित है।

यज्ञ के लिये वेदियाँ चाहिएँ। संसार में अग्नियाँ तीन हैं, द्यू लोक में सूर्य, अंतरिक्ष में विद्युत्, और पृथ्वी पर भौतिक अग्नि।

उसमें जो दो ताक बनाते हैं वे उनके कान हैं, आगे का गुम्बज नाभि स्थान है, वहाँ से गरुड़ तक का स्थान शरीर के टाँगों तक का भाग है, फिर नीचे जो ऊपर चढ़ने का भाग है वह पैर तक का, और प्रारंभ के गोखे चरण हैं। पुराने मंदिरों के गर्भगृह के सामने विस्तीर्ण अवकाश का न होना कदाचित् उन स्थानों का उपर्युक्त भाव से निर्माण होने के कारण हो।

* योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समित्, लोमानि धूमाः, योनिरर्चिः, यदन्तः करोति त अङ्गाराः, अभिनन्दा विस्फुलिंगाः, तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ रेतो जुह्वति तस्याः पुरुषः संभवति (शतपथ ६।२।१३)

यज्ञ की अग्नियाँ भी तीन ही मानी गई हैं—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, और आहवनीय। ब्रह्माजी के यज्ञ की भी तीन वेदियाँ मानी गईं। तीन पुष्कर ही तीन वेदियाँ हैं। जयानक ने निम्नलिखित श्लोक में इस बात का निर्देश भी किया है—

सा यज्ञभूमिर्मम पूर्वमस्यां
कुण्डत्रयं वह्निमयं यदासीत्।
तदेव कालस्य विपर्ययेण
पयोमयीं मूर्तिमभिप्रपन्नम्॥

पृथ्वीराजविजय, सर्ग १, श्लोक ४०।

अर्थात् पुष्कर पूर्वकाल में यज्ञभूमि थी। अग्नित्रय के आश्रय रूप जो कुंडत्रय थे वे अब काल के विपर्यय से जलवान् हो गये।

आगे चलिए। पुष्कर की कथा से पता लगता है कि ब्रह्माजी की एक पत्नी सावित्री तो पहले से ही विद्यमान थी परंतु उन्होंने पीछे एक दूसरी कर ली जिसका नाम गायत्री था। वैदिक साहित्य में ब्रह्मा की इन दो पत्नियों का भी अन्वेषण करना चाहिए। यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का २२ वाँ मंत्र इस प्रकार है,—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण॥

ऊपर लिखे हुए मंत्र में भगवान् की दो पत्नियाँ अर्थात् एक श्री और दूसरी लक्ष्मी बतलाई गई हैं। दिन और रात उसके पार्श्व (बगल) हैं। संभव है, कहीं दिन और रात भी भगवान् की स्त्री प्रतिनिधिभूत कही गई हों। सरस्वती रात और गायत्री दिन की प्रतिनिधिभूत प्रतीत होती हैं। वैसे भी देखें तो पुष्कर की कथा में ब्रह्मा के सृष्टि रचने का वर्णन किया जा रहा है। अतः पहले प्रलयकाल था। उसका वर्णन "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे..." ऋग्वेद में इस प्रकार है। रात ही पहले ब्रह्मा के साथ थी। अस्तु। यज्ञ में सावित्री बुलाई जाती है परंतु वह कहती है कि लक्ष्मी, रुद्राणी, इंद्राणी आदि नहीं आईं अतः मैं अभी नहीं आ सकती। इस कथन की संगति यह

है कि रात्रि अकेली नहीं आया करती। वह तारागणों को साथ लेकर आती है। अतः इस वर्णन में तारा ही सावित्री की सखियाँ प्रतीत होती हैं। आगे चलकर हमको कथा में मिलता है कि ब्रह्माजी सावित्री के देर लगाने पर इंद्र को दूसरी स्त्री ले आने के लिये भेजते हैं। इंद्र वस्तुतः सूर्य है* वही दिवसरूपी गायत्री को ले आता है। साथ ही पद्मपुराण में जो गायत्री का स्वरूप वर्णन किया है वह दिवस से बहुत मिलता जुलता है।

यहाँ पर इस शंका का भी विचार कर लेना चाहिए कि ब्रह्माजी ने गायत्री से विवाह किया इसमें भी तो देरी लगी होगी। इसका उत्तर यह है कि पुराण ने **गंधर्व** विवाह किया जाना लिखा है। गंधर्व विवाह में परस्पर संकेत मात्र प्रधान है। शेष कार्य पीछे से हो जाता है। उदाहरण के लिये देखिए कौशांबी के राजा वत्सराज उदयन ने अवंति के राजा महासेन प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से गंधर्व विवाह किया और वह उसे अपने देश में ले आया। पीछे विवाह की रसमें, चित्र पर वर वधू की आकृति बनाकर, पूरी की गई थीं। ऐसे ही शकुंतला का दुष्यंत से गंधर्व विवाह वन में हुआ था और कण्व ने पीछे आकर कृत्य संपादन किया। अतः गायत्री और ब्रह्माजी के विषय में इस प्रसंग में विलंब होने की शंका करना ठीक नहीं है।

अब यह भी सोचना चाहिए कि इस कथा में क्या उपदेश निर्दिष्ट किया हुआ है। इस विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् इस कथा का निर्माण ऐसे काल में हुआ हो जब प्रजा यज्ञ तो किया करती थी परंतु यज्ञ-मुहूर्त की अवहेलना कर जाती थी। लिखा है कि "वेदादियज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः" अर्थात् यज्ञ निश्चित काल के अनुसार करने चाहिएँ।

---

* इंद्र और अहल्या की कथा वैदिक साहित्य में संहतरूप से विद्यमान है। वहाँ इंद्र से सूर्य और अहल्या से रात्रि तथा गोतम से चंद्रमा निर्देश किया गया है। शतपथ (१.६.३.१८) में लिखा है "एष एवेन्द्रो य एष तपति"।

अत: इस कथा से यही उपदेश दिया है कि प्रजा को यज्ञ करने में मुहूर्त की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, यहाँ तक कि यदि पत्नी भी इस पुण्यकार्य के नियत समय पर संपादन करने में सहायक न बनें तो वह भी आदरणीय नहीं गिनी जा सकती।

उपसंहार

"पुष्कर" संस्कृत भाषा के अति प्राचीन शब्दों में से एक शब्द है*। यह अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है†। यह शब्द इस सुप्रसिद्ध तीर्थ का वाचक कब बना यह बताना कठिन है। भगवान् रामचंद्र के समय में यह तीर्थ सुविख्यात था और भगवान् कृष्ण

* यह शब्द चारों वेदों में मिलता है यथा—

वेद	शब्द						
ऋग्वेद	पुष्करात्	मंत्र	६	सूक्त	१६	मंत्र	१३
	पुष्करे	,,	७	,,	३३	,,	११
		,,	८	,,	७२	,,	११
	पुष्कर, स्रजा	,,	१०	,,	१८४	,,	२
यजुर्वेद	पुष्कर स्रजम्	अध्याय	२	मंत्र	३३		
	पुष्करे	,,	११	,,	२९		
		,,	१३	,,	२		
	पुष्करात्	,,	११	,,	३२		
		,,	१५	,,	२२		
	पुष्करसादः	,,	२४	,,	३१		
सामवेद	पुष्करात् पूर्वार्चि	अध्याय	१	खंड	१	मंत्र	९
	पुष्करे उत्तरार्चिक	,,	७	,,	१६	,,	२
अथर्ववेद	पुष्करस्रजा	कांड	३	सूक्त	३२	मंत्र	४
	पुष्कर,पर्णम्	,,	५	,,	३५	,,	३
	पुष्करम्	,,	८	,,	१४	,,	६
		,,	१३	,,	३	,,	८
		,,	३	,,	१	,,	२४

वेदों में यह शब्द जल, कमल और अंतरिक्ष के अर्थों में है; तीर्थ के अर्थ में नहीं है।

† आकाश, जल, कमल, ओषधि-विशेष, सूँड़ का अग्रभाग, तुरी का मुख, खड्ग, मियान, तीर्थ, हाथी, बाज पक्षी। देखो अमर और हेमचंद्र के कोष।

के समय में भी यह वैसा ही विद्यमान था ऐसा रामायण और महाभारत के अवतरणों से, जो दे आये हैं, भली भाँति विदित होता है। वैदिक काल के नाना तपोवनों के समान यह एक गौरवारूढ़ तपोवन था। आज दिन संसार में कोई टूटा फूटा भी तो तपोवन विद्यमान नहीं है जिसे देख उन प्राचीन काल के तपोवनों का अनुमान लगाया जा सके। साथ ही आर्यजाति के जीवन की रीति नीति इतनी परिवर्तित हो चुकी है कि इस समय उन तपोवनों के स्वरूप की कल्पना करना भी हमारे लिये कठिन है। महाकवि भास ने, जो कालिदास से पूर्व हो चुके हैं, स्वप्नवासवदत्ता॰ में तपोवन का थोड़ा सा वर्णन लिखा है। ये स्थान ऐसे थे कि अनजान भी इन्हें तुरंत जान जाता था। परदेश से चला हुआ एक विद्यार्थी आता है और एक प्रदेश को देख कहता है—

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥

देश के विषय में विश्वास होने से हरिण शांति से, बिना चकित हुए, चर रहे हैं। सब वृक्ष, जिनका प्रेमपूर्वक पोषण हो रहा है, फल, फूलों से लदी हुई शाखावाले हैं। धन स्वरूप कपिलवर्णवाली गायें यहाँ पर अनेक हैं। किसी भी दिशा में जुती हुई भूमि नहीं दिखती। निस्संदेह यह तपोवन ही है और यह यज्ञ का धुआँ इस निर्णय को और भी दृढ़ करता है।

तपोवन में सायंकाल का दृश्य देखिए—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावृत्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥

खग निकर वासस्थान पहुँचे, न्हा चुके तपसी सुजन,
शोभित प्रदीप्त हवनाग्नि वन में, छा रहा है धूमकन।
अति दूर आए हुए रवि की, रह गई थोड़ी किरन,
बस, शीघ्र निज रथ को घुमा, कर रहे अस्ताचल गमन ॥

इन तपोवनों में राजा और महाराजा लोग भी सवारी और परिच्छदों को त्याग पैदल बहुत नम्रता और श्रद्धा के साथ जाते थे। मगधराज की पुत्री पद्मावती इसी प्रकार तपोवन में गई और उसने वहाँ धर्म-सेवनार्थ अपने कंचुकी द्वारा इस प्रकार पुछवाया—

कस्यार्थः कलशेन को मृगयते वासो यथानिश्चितं
दीक्षां पारितवान् किमिच्छति पुनर्देयं गुरोर्यद् भवेत्।
आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा धर्माभिरामप्रिया
यद्यस्यास्ति समीप्सितं वदतु तत् कस्याद्य किं दीयताम् ॥

कौन चहै घट कौन चहै पट, कौन इहाँ पढ़ि वेद विचारे,
भेटहिं देन गुरूजन को वह, बोलि उठे अब जो कछु चाहे।
धर्म मानि यह प्रीति विधायिनि, सेइ धर्म मन तोषहि चाहे,
जो जिहि को चहिये कछु सो सब, बोलि उठे जु दियो वह जावे ॥

पुष्कर तपोवन का वैदिक काल का यही दृश्य है। जब इस दशा में परिवर्तन होने लगा, तप से तन और मन संतप्त होने लगे, अग्निहोत्र के निर्वाह में कष्ट अनुभव होने लगा, स्वाहा स्वाहा का शोभन शब्द शनैः शनैः समाप्त सा होने लगा तब कल्याणोदक के सुगम और सरल मार्गों का निर्माण हुआ। उस समय पुष्कर के जल में स्नान करने की महिमा, इस तीर्थ की परिक्रमा का महाफल, यहाँ पर दान पुण्य का गौरव, इस प्रदेश के प्राचीन आख्यानादिकों की अपूर्व आयोजनाएँ हुईं। पुराणों में जो पुष्कर संबंधी विवरण विद्यमान है, जिसका स्थालीपुलाकन्याय से हम वर्णन लिख आये हैं, इस कथन में प्रमाण है।

ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म हुआ और इनके आदेश और उपदेशों का प्रभाव सर्वत्र पड़ा। इन्होंने ८० वर्ष

की आयु पाई। इनके निर्वाण के २५० वर्ष पश्चात् पुष्कर में बौद्ध-धर्मावलम्बी निवास कर रहे थे ऐसा साँचो के लेखों से सिद्ध है। चक्रवर्ती सम्राट् अशोक ईसा से २६३ वर्ष पूर्व सिंहासनासीन हुए थे। यह समय बौद्ध धर्म की प्रचुर उन्नति का था। भला ऐसी स्थिति में उस काल में बौद्धधर्म का प्रताप और प्रभाव पुष्कर पर पड़े बिना कब रह सकता था।

तदनंतर ई० सन् १२० में यह स्थान गौरवपूर्ण था और उषवदात्त ने यहाँ उस समय तीन सहस्र गायें और एक ग्राम दान किया था। फिर कुछ विधाता विपरीत हुआ जिससे यहाँ की प्रतिभा कम हो गई। उस अवसर पर इस विशीर्यमाण स्थान की रक्षा वरेन्द्र-शिरोमणि नाहरराव परिहार ने की। यह शुभ कार्य्य ईसा की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। उक्त सज्जन के श्रमरूपी वृक्ष को साँभर और अजमेर के कई चौहाण राजाओं ने अपनी सहायता से खूब हरा भरा किया। ई० स० ११४३ के आस पास आनाजी के समय में इस तीर्थ पर यवनों ने उपद्रव किया परंतु उनका शीघ्र ही संहार हो गया और वीसलदेव, सोमेश्वर और पृथ्वीराज ने न केवल मंदिरों का जीर्णोद्धार किया अपितु अनेक नवीन विशाल देवालय बनवाये। पृथ्वीराज महाराज ने शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी को कई बार पराजित किया परंतु खेद का विषय है कि राजनीति की अवहेलना करने से ई० सन् ११९३ में वे स्वयं पराजित हो गये। उस दुर्घटना से पुष्कर ही की क्या सारे देश की श्रीवृद्धि का निग्रह हो गया। तदनंतर धर्म-प्रेमी अपने धर्मस्थानों के सुधार की यथाशक्य चेष्टाएँ करते रहे परंतु पुष्कर की दशा हिमऋतु के पुष्कर के सदृश हो गई। तदनंतर पुष्कर के लिये यहाँ तक अतिपात और प्रमाद का समय आया कि गूजरों ने इस पर सर्वाधिकार जमा लिया। अवसर पाकर संन्यासियों के एक दल ने उन पर आक्रमण किया और दिवाली की रात को बहुतों को मार काटकर स्थान ब्राह्मणों के अधिकार में कर दिया। उन्होंने आत्मतेश्वर के मंदिर में प्रागजती,

वराहजी के मंदिर में भारती संन्यासी, बद्रीनाथजी के मंदिर में ज्ञाननाथ और ब्रह्माजी और सावित्री के मंदिरों में पुरी संन्यासी स्थापित कर दिये। इस घटना का होना ई० स० ११५७ में लिखा है। यह घटना तो अवश्य हुई है परंतु इसका संवत् अन्वेषणीय है। यह चौदहवीं अथवा पंद्रहवीं शताब्दी की घटना प्रतीत होती है।

यवनकाल में कई एक यवननरेशों की दीप्ति केवल नक्षत्रवत् रही। पुष्कर के संबंध में मित्र अकबर का उदय तो मानो हुआ ही नहीं। जहाँगीर का उदय केवल चन्द्रोदय मात्र था। तदनंतर तुच्छ औरंगजेब का उद्भव साक्षात् तुषारवर्षण रहा। यह यवन नृप ई० स० १७०६ में मृत्यु को प्राप्त हुआ और ई० स० १७१९ में जोधपुर के राजा अजीतसिंह ने मुसलमानों को निकाल अजमेर को अपने अधीन कर लिया।

ई० स० १७१९ से १८१८ तक अजमेर का इलाका मारवाड़ (जोधपुर) के राजाओं अथवा ग्वालियर के मरहठों के अधीन रहा। मरहठों के अर्द्धशताब्दी से कुछ अधिक निवास के समय में पुष्कर पर कई अच्छे अच्छे घाट और मंदिर बने। ई० स० १८१८ में अजमेर अँगरेजों के अधिकार में आया। इनके उद्योग से पुष्कर की घाटी को काटकर यात्रियों को सुगमता प्रदान करनेवाले मार्ग का निर्माण हुआ। इनके आगमन के ५ वर्ष पश्चात् श्रीरंगजी का और फिर १०० वर्ष पश्चात् श्रीरमावैकुंठ का मंदिर बना। ये दोनों मंदिर श्री रामानुज संप्रदाय के हैं। कुछ वर्षों से यहाँ पर कई एक धर्मशालाएँ भी बनी हैं। यों यह पुष्कर अब कुछ न कुछ उन्नति-पथ का अनुसरण कर रहा है। भगवान् कृपा करें कि इस पुष्करभूमि का पुनरपि पूर्णोदय हो।

यह हमने इस पुरातन पुष्कर तीर्थ के विषय में दिग्दर्शन मात्र वृत्तांत लिखा है। यहाँ पर बहुत सी छतरियाँ, चबूतरे आदि स्मारक के रूप में विद्यमान हैं जिनके अनुसंधान से पुराभूत घटनाओं का दर्शन हो सकता है। पंडों की बहियों से भी इतिहासोपयोगी बातों का

मिलना संभव है। इस धर्मक्षेत्र को किन किन धर्मप्रिय महात्माओं ने अपना निवासस्थान बनाया, कौन कौन ब्रह्मानंद भक्त यहाँ उत्पन्न हुए इत्यादि ऐसी जिज्ञासाएँ हैं जिनकी पूर्त्ति कुछ कठिन सी है परंतु लोगों की रुचि ऐसी बातों के संग्रह में लगे तो कुछ सीमा तक सफलता हो सकती है।

इस लेख के लिखने में मुझको पुष्करनिवासी श्रीमान् पंडित घनश्यामाचार्य्य तथा अजमेर के रायबहादुर पंडित गौरीशंकरजी ओझा से जो सहायता मिली उसके लिये उन्हें अनेक धन्यवाद देता हूँ। शुभम्।

---

(१८) हस्तलिखित प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट

(३)

(१९२०—१९२२)

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ७, पृष्ठ ३१० के आगे)

[लेखक—रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, कटनी]

हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की, जिसका आरंभ सन् १९०० में हुआ था, यह ग्यारहवीं रिपोर्ट है। इसमें तीन वर्षों—सन् १९२०, १९२१ और १९२२—में किए गए कार्यों का विवरण है। इन तीन वर्षों के कार्य-निरीक्षकों की संख्या पहले बीस वर्षों की अपेक्षा अधिक रही। पहले बीस वर्षों में जहाँ निरीक्षक दो थे वहाँ इन तीन वर्षों में तीन रहे। पंडित श्यामविहारी मिश्र का—जो लगातार बारह वर्ष तक निरीक्षक रहे—कार्यकाल सन् १९२० के अंत में समाप्त हुआ और उनके स्थान पर उनके भाई पंडित शुकदेवविहारी मिश्र निरीक्षक नियुक्त हुए। पर १९२२ के जुलाई में उन्होंने इस्तीफा दे दिया और यह काम बाबू श्यामसुंदरदास के सिर पड़ा जिनके निरीक्षण में खोज का काम पहले नौ वर्षों तक हुआ था। यह काम सन् १९२२ के अंत तक उनके हाथ में रहा और यह रिपोर्ट उन्हीं की लेखनी से निकलती पर हिंदू विश्वविद्यालय की हिंदी की उच्च परीक्षाओं के लिये पाठ्यग्रंथों के निर्माण का गुरुत्वपूर्ण कार्य उनके हाथों में रहने के कारण ऐसा न हो सका। इसलिये, उन्हें सहायता देने की आवश्यकता हुई और सभा ने मुझसे पड़ा हुआ काम निपटाने को कहा।

आलोच्य तीन वर्षों में युक्त प्रदेश के तीन जिलों अर्थात् गोंडा, फैजाबाद और फतहपुर में खोज का काम हुआ। फतहपुर में

अभी काम समाप्त नहीं हुआ है; वहाँ फिर जारी करना होगा। पहले एक ही भ्रमण करनेवाला कार्यकर्त्ता (एजेंट) था, पर सन् १९२२ से एक और नियुक्त किया गया। इन लोगों के काम का ब्योरा—अर्थात् इन्होंने कितनी हस्तलिखित पुस्तकों की जाँच की—नीचे दिया जाता है—

सन्	हस्तलिखित पुस्तकों की संख्या जिनकी जाँच की गई और नोटिसें ली गईं
१९२०	७२
१९२१	१०५
१९२२	२३५
	कुल ४१२

हस्तलिखित पुस्तकों की जो नोटिसें ली गई हैं उनके देखने से जान पड़ता है कि कार्य संतोषजनक हुआ है। नये एजेंट पंडित भागीरथप्रसाद ने सन् १९२२ में १५६ हस्तलिखित पुस्तकों की नोटिसें लीं जो उनके लिये प्रशंसा की बात है।

एक भारी भूल—जिसके लिये दौरा करनेवाले दोनों एजेंट उत्तरदाता हैं—यह हुई कि सन् १८५० ई० के बाद की हस्तलिखित पुस्तकों की भी नोटिसें ली गईं, जो निश्चित सिद्धांतों के अनुसार, खोज में शामिल नहीं हैं। निरीक्षक इसे रोक सकते थे पर उनमें से एक ने इस नियमविरुद्ध कार्य को उत्तेजन ही दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि समय का अनावश्यक दुरुपयोग हुआ। फलतः ७७ हस्तलिखित पुस्तकों को रद्द कर देना पड़ा जो एक दौरा करनेवाले एजेंट का वर्ष भर का काम था। दो हस्तलिखित पुस्तकें ऐसी मिलीं जो गुजराती भाषा में लिखी हुई थीं और दो अधूरी थीं। उन्हें भी रद्द कर देना पड़ा; शेष ३३१ बचीं।

इनमें से ३२४ हस्तलिखित पुस्तकें २०७ ग्रंथकारों की रची हुई थीं। सात हस्तलिखित पुस्तकों के रचयिताओं का पता नहीं चला। तीन ग्रंथकार १२ वीं, १३ वीं और १४ वीं शताब्दी

के थे, तीन १५वीं के, नौ १६वीं के, सोलह १७वीं के, उनतालीस १८ वीं के और बत्तीस १९वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध के थे। १०५ ग्रंथकारों का समय निश्चित नहीं हो सका। इस खोज में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ मिला वह नाग-कृत प्राकृत का पिंगल है। यह १३वीं शताब्दी का है। अवश्य ही, एक पुस्तक चंद बरदाई के नाम से, जो नाग के पहले हुआ है, पाई गई, पर वह जाली प्रमाणित हुई है। शेष पुस्तकों का विभाग उनके रचनाकाल के अनुसार इस प्रकार है—एक १४वीं शताब्दी की, पाँच १५वीं शताब्दी की, चौदह १६वीं शताब्दी की, पचीस १७वीं शताब्दी की, चवालीस १८ वीं शताब्दी की और छत्तीस १९वीं शताब्दी की।

पहली रिपोर्टों में हस्तलिखित प्रतियों का लिपिकाल दिखाने का प्रयत्न नहीं किया गया। यह आवश्यक चीज है। मान लीजिये, एक हजार वर्ष पहले रची गई किसी हस्तलिखित पुस्तक की प्रतिलिपि ५०० या १०० वर्ष पूर्व की गई हो। इनमें पहली प्रति का विशेष महत्व है और उस पर ध्यान देना आवश्यक है। उदाहरणार्थ तुलसी-कृत रामायण को लीजिये। पिछली शताब्दी में या उसके पहलेवाली में उसकी सैकड़ों प्रतिलिपियाँ हुई होंगी, पर बालकांड की जो प्रति अयोध्या के बाबा रामप्रियाशरणजी के यहाँ रक्षित है, जो सन् १६०४ की है, उसका विशेष मूल्य है। यह प्रति क्षेपकों से रहित है जो अन्य प्रतियों में बहुलता से पाये जाते हैं। इसी प्रति की नोटिस इस बार की खोज में ली गई यद्यपि सन् १९०१ में भी एक बार ली गई थी। नोटिस के पुनर्वार लिये जाने पर खेद करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इससे कालनिर्णय करने का अवसर मिला जो सन् १९०१ ई० में नहीं हुआ था। इस प्रति में तिथि का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

"संवत् १६६१ वैशाख सुदि ६ बुधे"। यह तिथि बुधवार २५ अप्रैल् सन् १६०४ को पड़ी थी। यह नहीं समझना चाहिए कि जहाँ कहीं इस प्रकार के विवरण दिये हुए हैं वे सब यथावत् होंगे।

ऐसा विवरण ठीक तो होना चाहिए परंतु यह सर्वत्र ठीक नहीं मिलता है। इसका कारण यह है कि कहीं तो प्रतिलिपि अशुद्ध है और कहीं ग्रंथ को प्राचीन सिद्ध करने के लिये उसमें अनुमान से तिथि लिख दी गई है। इस विवरण के साथवाली हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में जान बूझकर की गई और अनजान में होनेवाली दोनों प्रकार की भूलों पर विचार किया गया है। यह आवश्यक है कि तिथियों की ऐतिहासिक प्रमाणता सिद्ध करने के लिये उनकी ठीक ठीक जाँच हो। गत तीन वर्षों के भीतर जिन प्रतिष्ठित लेखकों की हस्तलिखित पुस्तकों की तिथियों की जाँच की गई है उनका ब्योरा इस विवरण में मिलेगा। इसके अनंतर इसमें पिछले २३ वर्षों में प्राप्त हुई हस्तलिखित पुस्तकों का भी हाल दिया है। संपादकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अब लोगों की रुचि मूल पुस्तकों की ओर अधिक हो चली है। कुछ दिन पहले वे पुस्तक के गुणों की चिंता न करके उसके आकार पर मुग्ध रहते थे और जिसे देखो वह ऐसी ही पुस्तक मोल लेता था जिसमें क्षेपक इत्यादि दिए हुए होते थे। आज भी ऐसे पाठकों की संख्या थोड़ी ही है जो तुलसीकृत रामायण का केवल मूल अंश मोल लेना चाहते हों। जनसाधारण में तो इसकी अपेक्षा क्षेपक सहित आठ कांडवाली रामायण ही अधिक प्रचलित है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि शिक्षा के प्रचार के साथ साथ इस प्रकार की रुचि घट रही है और उसके स्थान पर मूल लेखक के आलोचनात्मक संस्करण को ही लोग अधिक चाहते हैं।

एक ही पुस्तक की दो भिन्न भिन्न प्रतियों के विषय में एक साधारण भूल यह की जाती है कि उस पुस्तक की अन्य प्रतियों की उपेक्षा करके केवल एक ही प्रति से कुछ अंश उद्धृत कर दिया जाता है। इस पुस्तक को प्रमाणित सिद्ध करने के लिये और विद्वानों को इसकी जाँच में सुविधा उपस्थित करने के लिये यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न समयों की लिखी हुई हस्तलिखित पुस्तकों की जाँच होनी चाहिए और उन सबमें से कुछ अंश उद्धृत करना चाहिए, क्योंकि एक

प्रति की अपेक्षा दूसरी में पाठ भी अधिक ठीक दिया होता है और इससे जाँच भी प्रामाणिक हो जाती है। लिपिकार की मानसिक विशेषता पर भी बहुत कुछ निर्भर रहता है। इसका एक उदाहरण हम यहाँ देते हैं। (नं० १३२) प्रताप की 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' के विषय में एक हस्तलिखित प्रति में इसका निर्माणकाल संवत् १८८२ लिखा है और दूसरी में १८८६, जैसे—

"संमतु ससि वसु वसु सु द्वै गनि अषाढ़ को मास।
किय विंग्यारथ कौमुदी सुकवि प्रताप प्रकास।"

दूसरी हस्तलिखित प्रति में इस दोहे का पहला चरण इस प्रकार मिलता है **"संवत् ससि वसु वसु द्वै रवि अषाढ़ को मास"** इसमें तिथि नहीं दी है इसलिये संवत् की जाँच करने की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल पद्यों की रचना की जांच करने से ऐसा प्रतीत होता है कि पहली तिथि अर्थात् संवत् १८८२ ही संभवतः ठीक होगी।

तिथियों के अतिरिक्त इस अपूर्णता से पुस्तकों की नामावली और ग्रंथकारों के विषय में भी बहुत सी अनहोनी और असंभव बातें अनुमान कर ली जाती हैं। उदाहरणार्थ, **अहमद** और **ताहिर** एक ही व्यक्ति का नाम है परंतु पिछले विवरणों में वे दो व्यक्ति माने गए हैं। जो भ्रम पुस्तकों की नामावली के संबंध में हो जाता है उसका हाल मैंने ग्रंथकारोंवाली सूची में दे दिया है जैसे फतेहसिंह (नं० ४८) के **गुण-प्रकाश** और **दस्तूर-मलक** एक ही पुस्तक के दो नाम हैं। पहला एक ही पुस्तक का संस्कृत नाम है और दूसरा उसी पुस्तक का फारसी अनुवाद। मुझे अब भी संदेह है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्रतिलिपिकार ने **गुरुप्रकाश** के स्थान पर **गुण-प्रकाश** लिख दिया हो, क्योंकि दस्तूरमलक के हेतु गुरु-प्रकाश शब्द गुन-प्रकाश की अपेक्षा अधिक उपयुक्त ठहरता है। गुण-प्रकाश का अर्थ तो बहु-गुणप्रकाश होता है। गुरुप्रसाद लिखित **रामरतनगीता** के संबंध में भी लिपिकार ने **अर्जुनगीता**

नामक पुस्तक के नाम में परिवर्त्तन कर दिया है। मूल में गुरुप्रसाद का नाम मिलने पर भी यह पुस्तक कुशलसिंह लिखित रामरत्न-गीता के नाम से प्रसिद्ध है।

ऊपर मैंने अनजान में हो गई भूलों का उल्लेख किया है। अब मैं यहाँ उसका उदाहरण दूँगा। रामचंद्र ने रामविनोद नामक एक वैद्यक का ग्रंथ लिखा था। इस खोज में इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं—एक पद्य में है और दूसरी गद्य में। यह गद्यवाली पुस्तक पद्य की टीका है। पद्यवाली हस्तलिखित पुस्तक के आरंभ में प्रस्तावना अथवा प्रार्थना इत्यादि कुछ नहीं है और पुस्तक का विषय एकदम 'ज्वर' से आरंभ हो जाता है। इसका अंत भी कुछ ऐसा ही है और इससे मूल लेखक का कुछ भी पता नहीं लगता, परंतु इसमें प्रतिलिपिकार का नाम और पुस्तक समाप्त होने की तिथि तथा पृष्ठों की संख्या लिखी हुई है। तीसरे अध्याय के अंत में पुष्पिका लिखी हुई है जिससे इस पुस्तक के लेखक केशव मिश्र के पुत्र रामचंद्र ठहरते हैं। गद्यवाली हस्तलिखित पुस्तक का नाम रामविनोद बालबोध है और उसमें गणेश-प्रार्थना के पश्चात् विषय का आरंभ होता है। उसमें गणेशजी संबंधी प्रार्थना की पूर्ण रीति से व्याख्या की गई है और फिर आगे चलकर धन्वंतरि के विषय में भी ऐसी ही प्रार्थना और व्याख्या है। फिर प्रस्तावना के रूप में लेखक लिखता है कि इस पुस्तक के लिखने से पूर्व मैंने वैद्यक के कई ग्रंथ पढ़े हैं और अंत में लेखक खरतर-गच्छ के सम्राट् अकबर और जहाँगीर द्वारा सम्मानित वैद्य श्रीजिनसिंह सूरी भट्टारक के शिष्य प्रसिद्ध पद्मराग वैद्य का शिष्य कहकर अपना परिचय देता है। इसके पश्चात् वह अपने ग्रंथ के पूर्ण होने की तिथि देता है जो बुधवार मार्गशीर्ष सुदी तेरस संवत् १७२० है और जो गणित करने पर बुधवार २ दिसंबर १६६२ ईसवी को पड़ती है। वह लिखता है कि मैं शक्तिशाली औरंगशाही द्वारा शासित खुरासान देश के बानू प्रांत के शकी नगर का रहनेवाला हूँ। यह विवरण

सन् १६०१ वाली खोज में दिए हुए विवरण से पूर्णतया मिल जाता है। सन् १६०१ वाली खोज में इस नगर का नाम श्राकी दिया है जो अधिक ठीक प्रतीत होता है। इस हस्तलिखित पुस्तक से यही निश्चित हो जाता है कि प्रथम यह पुस्तक पद्य में लिखी गई थी और गद्यवाली टीका पीछे की रचना है। सन् १६०६—१६०८ वाली हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के विवरण में मिलान करने के लिये कोई अंश नहीं दिया गया है परंतु १६०६—११ वाले विवरण में पृष्ठ १३ और १४ पर इस पुस्तक के लेखक के विषय में पूर्ण रूप से विचार किया गया है। उस हस्तलिखित प्रति में ग्रंथकार ने अपने पिता का नाम मिश्र केशवदास और अपना निवासस्थान खुरासान देश और पंजाब प्रांत का सहरा नगर लिखा है। वह अपने को अकबर-शाह का समकालीन तथा संवत् १६२० का बताता है और इसी समय में बुधवार मार्गशीर्ष सुदी १३ को उसने अपना ग्रंथ समाप्त किया था। विवरणलेखक ने सन् १६०१ वाली हस्तलिखित पुस्तक को अप्रामाणिक और अपनी हस्तलिखित पुस्तक को निम्नलिखित कारणों के आधार पर प्रामाणिक बताया है। आप लिखते हैं कि—

(१) रामचंद्र जैन मतावलंबी पुरुष का नाम नहीं हो सकता।
(२) इस ग्रंथ के आरंभ में गणेश-प्रार्थना की गई है और गणेशजी जैनियों के पूज्य देवता नहीं हैं।
(३) ग्रंथ में कहीं भी जैन मत का कुछ हाल नहीं मिलता है।
(४) यह पुस्तक ललितपुर के रामप्रसाद भट्टजी के यहाँ मिली है और १६०१ वाली पुस्तक जोधपुर के जती ज्ञानमल के पास मिली है जो जैनमत के अनुयायी हैं। इन दोनों सज्जनों को पत्र लिखे गये पर कुछ भी फल नहीं हुआ। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि किसी जैनी ने रामचंद्र की पुस्तक पर दिन दहाड़े डाका मार दिया है और उसे एक जैनी की बनाई हुई बताया है।

मुझे खेद है कि मैं ऊपर के मत से सहमत नहीं हूँ और निम्न-लिखित कारणों से रामचंद्र को जालिया नहीं ठहरा सकता। मैं

यह भी लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं जैन नहीं हूँ और मेरा और सन् १९०९—११ तक का विवरण लिखनेवाले महानुभाव का धर्म एक ही है।

मेरे मित्र को जो नाम संबंधी आपत्ति है वह सर्वथा निराधार है। जैनियों के नाम माता पिता के धर्म के अनुसार नहीं होते वरन् नामकरण करने में जैनी भी देश की प्रथा का अनुसरण करते हैं। मेरे मित्र को यह बात अच्छी तरह ज्ञात होगी कि राजा शिवप्रसादजी जैनी थे परन्तु उनका नाम भी प्रसिद्ध हिंदू देवता महादेव के नाम पर था। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर—श्रावकाचार के रचयिता शिवचंद्र भी जैनी थे और कटनी के प्रसिद्ध धनी सवाई सिंघई कन्हैयालाल भी जैन मतावलंबी हैं जिनका नाम कृष्ण या कन्हैया के नाम पर है और जैनी लोग यद्यपि राम को मानते हैं और उनकी अपनी रामायण अलग भी है पर वे कृष्ण को बिलकुल नहीं मानते।

आपने जो दूसरा कारण दिया है, उसका भी निराकरण देश की प्रचलित प्रथा पर विचार करने से हो जाता है। गणेशजी विद्या संबंधी देवता माने गए हैं और यह आवश्यक है कि ग्रंथों के आरंभ में और विशेषत: साहित्यिक ग्रंथों के आरंभ में उनका वर्णन अवश्य होना चाहिए। मुसलमानों ने भी अपने ग्रंथों में इस प्रथा का पालन किया है। अहमद-उल्ला ने अपने 'दक्षिण विलास' नामक ग्रंथ के, जो उनकी मदीना से लौटने के पश्चात् की रचना है, आरंभ में गणेश और सरस्वती की स्तुति की है। (देखो नं० ३, हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज १९१७—१९१९)

आपके तीसरे कारण के विषय में मैंने ऊपर ही लिख दिया है कि पुस्तक में ही ग्रंथकार की तीन पीढ़ियों का हाल दिया गया है।

चौथे किसी हिंदू या जैन के पास पुस्तक मिलने से ही उसका लेखक जैनी या हिंदू नहीं हो सकता। सन् १९०९—११ वाले विवरण की पुस्तक का ठीक ठीक अध्ययन करने पर पता लगता है

कि वह प्रति बहुत अशुद्ध है और उसमें जो अंश ऊपर से जोड़े गए हैं या बढ़ाये गए हैं वे भी प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। जिस पद में रचयिता का वर्णन है वह इस प्रकार है—

"पर दुख भंजन जाके लियो कियो मिश्र रामचंद्र ग्रंथ।
रच्यो सर्वदा जा लगि ध्रुवरवि चंद्र॥"

परंतु सन् १९०१ वाली प्रति में वह इस प्रकार दिया है—

"पर दुख भंजन के लिये कियो ग्रंथ सुखकंद।
चिर लगि ए हो जो सदा जौ लगि मेरु रवि चंद॥"

पहले वाले पद्य में दोहा पूर्ण है और 'ध्रुव' को ठीक ठीक न पढ़ने के कारण ही प्रतिलिपिकार ने उसे मेरु लिख दिया है।

मिश्र ने तिथि में भी गड़बड़ कर दिया है और उसे इस प्रकार लिखा है—

"संवत सोलह सै बोस सोलवीं संवर सहित रितु मृगसिर मास।
शुक्ल पक्ष तेरस दिनै बुधवार दिन साज॥"

उसने पहले चरण में भी अर्थ ठीक करने के लिये इस प्रकार परिवर्तन कर दिया है—

संवत सोलवींसा वरस हिम ऋतु मृगशिर मास।

परंतु यह भी ठीक नहीं लगता है और नीचे के पद्य से इसका मेल नहीं मिलता है जो १९०१ के विवरण में दिया है।

"गगन पाणि पुन द्वीप ससि हिम तरु मगसिर मास।
शुकल पक्ष तेरस दिने बुद्धवार दिन जास।"

मिश्र ने झट से जैन ग्रंथ को सौ वर्ष पूर्व का कह दिया और इस बात का किंचित् ध्यान नहीं रक्खा कि जाँच करने पर १६२० में मार्गशीर्ष सुदी तेरस बुधवार को नहीं पड़ती वरन् वह तिथि शनिवार ता० २७ नवंबर १५६३ ईसवी में पड़ती है। मिश्र को इस बात का ज्ञान था कि औरंगजेब का नाम लिखना इतिहास-विरुद्ध होगा। इस कारण उसने औरंगशाही के स्थान पर अकबरशाही कर दिया। मिश्रजी पंजाब प्रांत के सहरा स्थान के रहने-

वाले थे इस कारण उन्होंने यह आवश्यक समझा कि मूल पुस्तक में इसका नाम रख दिया जाय परन्तु यह इस पद्य में ठीक नहीं बैठता है। मिश्र ने मात्रा की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उसने उसमें परिवर्तन कर ही दिया और जिसके फल स्वरूप यह दोहा इस प्रकार है—

"उत्तर दिशा खुरासान में बनूँ देस परधान।
सजल भूमि तह बहै सदा सहेरा सहर सुथान॥"

परंतु सन् १९०१ की प्रति में पद्य इस प्रकार है—

"उत्तर दिस खुरसान में बनूँ देस परधान।
सबल भूमि है सर्वदा सकी सहर सुभथान॥"

इस कारण मिश्रबंधुविनोद में इस विषय में बड़ा गड़बड़ हो गया है। मिश्रबंधुओं ने नं० ४३५ में रामचंद्र शकी बनारसवाला को रायविनोद और जम्बूचरित्र का रचयिता माना है और इनके ग्रंथों का निर्माण-काल संवत् १७२० और लेखक को पद्मराग का शिष्य जैन कवि कहा है। यह लोग लिखते हैं कि रामचंद्र मिश्र नामी एक दूसरे ग्रंथकार ने संवत् १६२० में रायविनोद नामी ग्रंथ की रचना की थी तथा यह रामचंद्र दो व्यक्ति थे। न मालूम किस आधार पर रामचंद्र को 'शकी बनारसवाला' लिखा गया है। संभव है कि बन्नू का अर्थ बनारस लिया गया हो परंतु लेखक की भाषा से प्रत्यक्ष है कि वह बनारस का रहनेवाला नहीं था। इस ग्रंथ की भाषा के विषय में सन् १९०८—११ के विवरणलेखक ने इसको पंजाबी और व्रज भाषा का मिश्रण लिखा है परंतु इसकी भाषा में गुजराती अथवा राजपुतानी भाषा से अधिक समानता है जिससे यह भी ज्ञात होता है कि लेखक राजपूताने का रहनेवाला था। इस पद्य में—

श्री धन्वंतिरि चरण जुग **प्रणमू** धरि आनंद।
रोग विसै जसु नाम **थी** सब जनकूँ सुषकंद॥

बड़े अक्षरोंवाले शब्द गुजराती अथवा राजपूतानी प्रतीत होते हैं। विशेषतया जसु का अर्थ है जिसके, नाम थी=नाम से और जनकूँ=जन को। दूसरा चरण इस प्रकार है—

विविध शास्त्र देखी करी सुगम करूँ अधिकार।

इसमें देखी करी गुजराती भाषा का प्रयोग है और व्रज या बनारसी बोली का नहीं। मेरे विचार में इतना ही यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त होना चाहिए कि रामचंद्र राजपूताने का जैन-मतावलंबी वैश्य था जो अपनी जाति के अन्य लोगों की भाँति राज-पूताने से बन्नू चला आया था। आज भी मारवाड़ के बनिये दूसरी जगह शीघ्रता से चले जाते हैं। बन्नू मिश्र जाति ब्राह्मणों के जाने योग्य स्थान नहीं था। उन्हें वहाँ एक तो यजमान मिलने की संभा-वना न थी और दूसरे अपनी स्त्री के प्रश्न का भी डर था। वह कहती है कि यदि आप इंडस नदी के पार जाओगे तो—

"पाती माँहि कैसे लिखों मिश्र मीर मिरजा ?"

....

प्राप्त हस्तलिखित पुस्तकों में निम्नलिखित विषयों का वर्णन है और उनकी संख्या भी इस प्रकार है—

(१) धार्मिक	३३
(२) दार्शनिक	३७
(३) पिंगल	७
(४) अलंकारिक	१६
(५) शृंगारिक	६३
(६) रागरागिनी	१२
(७) नाटकीय	३१
(८) जीवनचरित्र	२
(९) उपदेशिक	२०
(१०) राजनीतिक	५
(११) कोष	७

(१२) ज्योतिषीय	११
(१३) सामुद्रिक	३
(१४) वैद्यक	१६
(१५) शालिहोत्र	३
(१६) कोक	२
(१७) ऐतिहासिक	१४
(१८) कथाकहानी	११
(१९) विविध	१३

सदा की भाँति धार्मिक पुस्तकों की संख्या सबसे अधिक है। इस बार इनकी संख्या ८३ है। दूसरा स्थान श्रृंगार की पुस्तकों को प्राप्त है, उनकी संख्या ६३ है। दार्शनिक पुस्तकें भी कम नहीं हैं। इनकी ३७ हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। और विषयों पर प्राप्त पुस्तकों की संख्या बीस से कम है। इसमें वैद्यक ग्रंथ प्रचुरता से मिले हैं। इनकी संख्या १९ तक पहुँच गई है। शेष लाभ-दायक पुस्तकों में सात कोष, चौदह ऐतिहासिक तथा जीवनचरित्र हैं। ऐतिहासिक पुस्तकों में पौराणिक वृत्तांत मिलता है इस कारण उनके मूल्य में कुछ न्यूनता आ जाती है।

अब मैं इस बार की खोज की कुछ विशेष बातों की ओर ध्यान दिलाने का प्रयत्न करूँगा। इस बार जो सबसे उत्तम बात है वह यह है कि भिन्न भिन्न समय में वर्तमान रहनेवाले ऐसे ग्रंथकारों का पता चला है जिनके विषय में अब तक कुछ ज्ञात नहीं था और न जिनके ग्रंथों का कुछ पता था। इन सब के गुणों की मात्रा में अंतर है परंतु उनमें से बहुत से लेखक बड़े लेखक कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ रानादास के अट्ठारह ग्रंथों का इस खोज में प्रथम बार पता चला है। यह बात बड़ो आश्चर्यजनक है कि अब तक ऐसे बड़े ग्रंथकार का पता क्यों नहीं चला परंतु ऐसे समय में ही खोज की उपयोगिता तथा इससे जो लाभ होता है उसका पता चलता है।

इस बार की खोज की अन्य विशेषताओं का उल्लेख अब तक

कहे गए ग्रंथकारों के विवरण में हो गया है इसलिये उनके दोहराने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सर्वसाधारण की जानकारी के लिये मैं यहाँ उनका फिर से संक्षेप में उल्लेख किये देता हूँ।

(१) तिथियों पर विस्तारपूर्वक विचार करने से कुछ ग्रंथकारों का काल-निर्णय हो गया है। (देखो परिशिष्ट नं० १)

(२) यह भ्रम भी अब दूर हो गया है कि भूषण के भाई चिंतामणि नागपुर के भोंसला राजा के राजकवि थे। डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इस मत का समर्थन किया था परंतु अब यह बात प्रत्यक्ष हो गई है कि चिंतामणि के समय में भोंसला राज्य नागपुर में नहीं था।

(३) इसी प्रकार पद्माकर के विषय में जो भ्रम फैला था वह भी दूर हो गया है और सागर में महाराष्ट्र दरबारवाली बात तथा उनके जन्मस्थान को सागर के स्थान पर बाँदा मानना भी अब निराधार ठहर गया है।

(४) विहारी पर 'अजवेस' कृत एक नई टीका मिली है। पं० अंबिकादत्त व्यास ने सन् १८९८ में प्रकाशित अपने 'विहारी विहार' में जिन २८ टीकाओं का उल्लेख किया है उसमें अजवेस की टीका का नाम नहीं आया है। अजवेस ने अपनी टीका सन् १८११ में लिखी थी।

(५) एक ही ग्रंथकार के भिन्न भिन्न नामों का भी निर्णय हो गया है। कोक विषय के एक ग्रंथ गुणसागर का रचियता ताहिर और अहमद अब तक दो व्यक्ति माने गए थे, अब वे एक ही व्यक्ति के दो नाम निश्चित हुए हैं।

इससे पूर्व रामनाथ और प्रधान कवि दो व्यक्ति माने जाते थे परंतु अब यह सिद्ध हो गया है कि रीवाँ राज्य के प्रधान या सचिव रामनाथ का ही दूसरा नाम प्रधान कवि है।

(६) प्रबोधचंद्रोदय नाटक के रचयिता अनाथदास और लोलिंबराज में कई गुणों की एकता सिद्ध हुई है। लोलिंबराज को

अभिमान था कि मैं कवियों का सुलतान हूँ और मुझमें एक घड़ी अर्थात् २४ मिनट में १०० पद बनाने की शक्ति है। अनाथदास को अभिमान था कि मैंने १२ दिन में २००० पद्यों का एक ग्रंथ बनाया था। यद्यपि अनाथदास को लोलिंबराज के समान कविता करने की बिजली के समान वेगपूर्ण शक्ति नहीं थी परंतु उसने कहीं भी इस बात पर खेद नहीं प्रकट किया है कि २०५ पद्यों का वैद्यजीवन नामी ग्रंथ लिखने के कारण उसे बड़ा कष्ट हुआ था। यह ग्रंथ तो उन्हें एक घंटे के भीतर ही बना लेना चाहिये था।

(७) मिश्रबन्धुविनोद में जिन आठ हरीदासों का उल्लेख है उन पर भी विचार किया गया है और उसका परिणाम यह हुआ है कि उनमें एकता सिद्ध करके अब उनकी संख्या केवल चार रह गई है।

(८) यह निश्चय हो गया है कि भिखारीदास बुंदेलखंड के रहनेवाले नहीं थे।

(९) तीनों राजवंशीय जसवंतसिंह पृथक् पृथक् ग्रंथकार निर्णीत हुए हैं।

(१०) कुछ लेखकों की पुस्तकों के ठीक नामों के विषय में जो भ्रम था वह भी दूर हो गया है। जैसे मिश्रबंधुओं ने कालिदास की एक पुस्तक का नाम **वारवधूविनोद** लिखा है। पिछली खोज में इसका नाम **राधामाधवमिलन** बुधविनोद लिखा था परंतु इसका यथार्थ नाम वधूविनोद है।

(११) पलटूदास के ग्रंथों की जाँच हो जाने से उनका महत्व प्रत्यक्ष हो गया है। पलटूदास संयुक्त प्रांत के फैजाबाद जिले के नंगा जलालपुर स्थान के रहनेवाले कांदू बनिये थे। वे सतनाम गुरु गोविंददास के शिष्य थे परंतु विचारों की गंभीरता में और कविता की उत्तमता में वे अपने से पूर्व हुए संतों में सबसे श्रेष्ठ हैं। अग्रदास और गिरधर कविराय की भाँति इनकी

कुंडलियाँ भी बड़ी भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी होती हैं। उन्होंने निडर होकर लोगों को मूर्तिपूजा त्याग करने और झूठा वैराग्य छोड़ने का उपदेश दिया है। वे मूर्तिपूजा के विषय में कहते हैं 'जल पखान को छोड़ि के पूजो आतम रूप' और वैराग्य के लिये आप लिखते हैं 'काहि लिये वैराग झूठ के बाँधै बाबा'। इनकी इसी स्पष्टता के कारण वैरागियों ने इस नीच जाति के बनिये उपदेशक को, जो बिना सोचे समझे उन्हें उपदेश देता था, जातिच्युत कर दिया था परंतु वे सब धृष्ट थे और यह बनिया उनके लिये अकेला बहुत था। पलटूदास का सिद्धांत था—

"लोक लाज कुल छाँड़िकै कर लो अपना काम।
जगत हँसे तो हसन दे पलटू हँसै न राम ॥"

इनका मत बड़ा दृढ़ था और आज भी सतनामी दल के अनुयायियों में तथा और लोगों में इनका बड़ा सम्मान है। पलटूदास लखनऊ के नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे अर्थात् १७७० ईसवी के लगभग वर्तमान थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने विचारों के प्रकाशित करने के लिये पलटूदास को कुंडलिया अधिक रुचिकर थी। इसमें बड़ी भारी सुविधा यह थी कि पहले एक बात कहकर फिर उसी बात को दुहराकर सिद्धांत को हृदयंगम कराया जा सकता है। ये कुंडलियाँ तीन ग्रंथों में बँटी हैं—(१) पलटू साहब की वाणी, (२) शब्द, (३) राम कुंडलियाँ। इस खोज में अंतिम दो का भी पता लग गया है परंतु पहले दो, जिनमें 'शब्द' दोनों में एक ही हैं, संत बानी संग्रह में प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त आत्मकर्म नामी एक हस्तलिखित पुस्तक और मिली है।

(१२) यह बात भी सिद्ध हो गई है कि मिश्रबंधुविनोद में लिखे हुए दो परबतदासों में से एक जाल है (देखो नं० १२५ जहाँ इस प्रश्न पर विचार किया गया है)।

(१३) धामी मतावलंबियों से संबंध रखनेवाली एक उत्तम पुस्तक भी मिली है। प्राननाथ इस दल के जन्मदाता हैं। इनको **कुलज़मस्वरूप** नामी एक पुस्तक लिखने का श्रेय प्राप्त है। इसका इतना आदर होता है जितना सिखों के गुरु ग्रंथ साहबका और यह जी साहब के प्रधान मन्दिर पन्ना में रक्खा है। इस वर्ष की खोज में एक नई पुस्तक मिली है जिसका नाम **अनजीर रास** है और जिसके ग्रंथकार पन्ना के कल्यानदास बाबा हैं। ग्रंथ पुष्पिका में लिखा है—श्री किताब आवातेमाम संवत् १८४० ना वर्षे चैत्र सुदी १२ श्री किताब बाबा कल्यान की श्रो परना को लिखी थी सो तिस पर से श्री कच्छ मध्ये श्री माउवी विदर में बैठ के ऐ सपूरन भई है। इसका यह अर्थ है कि सुंदर पुस्तक समाप्त हो गई है और इसकी प्रतिलिपि पन्ना के कल्याणदास स्वामी की पुस्तक से की गई है जो चैत सुदी १२ शुक्रवार संवत् १८४० को कच्छ के मदारी बीदर स्थान में समाप्त हुई है। हस्तलिखित पुस्तक के अंश भिन्न भिन्न भाषा में इस प्रकार लिखे गये हैं—

(१)	किताब	रास	गुजराती
(२)	,,	प्रकाश	हिंदी
(३)	,,	षट्ऋतु	गुजराती
(४)	,,	कलसबिंदु	हिंदी
(५)	,,	कीर्तन	हिंदी, गुजराती
(६)	,,	खुलासा	उर्दू
(७)	,,	साग	हिंदी
(८)	,,	बड़ा शृंगार	हिंदी
(९)	,,	सिद्धो का प्रकरण	हिंदी
(१०)	,,	मार्फत	उर्दू
(११)	,,	बड़ा कयामत	उर्दू

कुलजम में सब ११ किताबें हैं जो अलग अलग भाषाओं में लिखी हैं और जिनको मैंने सन् १८१८ में पन्ना में सुना था। जिस रीति से इसमें पुस्तकों का उल्लेख है और उनके लिये जिन सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है उससे मुझे विश्वास होता है कि यह पुस्तक मूल कुलजम-स्वरूप की प्रतिलिपि है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुस्तक का मूल नाम अंजीर-रास था जिसमें से अंजीर शब्द फारसी इंजील शब्द का, जिसका कि अर्थ संदेश होता है, रूपांतर है। इसके नाम का दूसरा पद (रास) रहस्य शब्द का अशुद्ध रूप है। आजकल भी इस पुस्तक का नाम ऐसा ही संस्कृत और फारसी मिश्रित है जिसमें से प्रथम पद का अर्थ नदी और दूसरे पद का अर्थ मोक्ष होता है। आजकल पुस्तक की पूजा मूर्ति के समान होती है। पुस्तक के आरंभ के पहले पद में ग्रंथकर्ता ने ग्रंथ लिखने का कारण मोहजाल से, जिससे कि संसार के सब दुःख उत्पन्न होते हैं, अपना छुटकारा पाना ही लिखा है। यह हस्तलिखित पुस्तक बड़े काम की वस्तु है और एक ऐसे सुधारक की कृति है जिसने इस बात को दिखाने का प्रयत्न किया था कि हिंदू धर्म और इस्लाम में कोई भेद नहीं है और जिसने यह चेष्टा भी की थी कि ये दोनों एक हो जायँ। यह हस्तलिखित पुस्तक प्राचीन है और यदि गुजरात में प्रचलित कार्तिकादि विक्रम संवत् माना जाय तो इसकी तिथि शुक्रवार २ अप्रैल सन १७८४ ठीक ठहरती है। इससे यह निर्धारित होता है कि यह तिथि उस प्रतिलिपि की तिथि है जो कच्छ में की गई थी और कल्यानदास वाली प्रति की यह तिथि नहीं है जिससे उस हस्तलिखित पुस्तक की नकल की गई है। इस प्रकार कल्यानदास वाली प्रतिलिपि प्राचीन ठहरती है जो संभवतः प्राणनाथ की अपनी पुस्तक से उस समय लिखी गई थी जब वे इस हस्तलिखित पुस्तक की निर्माण-तिथि से दो वर्ष पूर्व पन्ना गये थे। यह पुस्तक अवश्य ही प्राचीन है जैसा कि इसमें प्रयुक्त प्राचीन लिपि से प्रकट है।

(१४) इसके अनंतर अकबर के विद्वान् दरबारी अब्दुलरहीम खानखाना रचित मदनाष्टक की एक प्रति मिली है। अरबी, फारसी और तुर्की के बड़े विद्वान् होने के अतिरिक्त खानखाना को व्रज-भाषा पर पूरा अधिकार था और उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था। वे कभी कभी दो भाषाओं को भी मिलाकर रचना करते थे। मदनाष्टक इसी प्रकार की रचना है। इसमें लेखक का नाम कहीं नहीं दिया गया परंतु विद्वानों के मत में यह अष्टक उन्हीं का ही बनाया हुआ है। पुस्तक बहुत दिनों से प्रसिद्ध थी और अब तक उसके अंश ही मिलते थे जिनकी पूर्ति दूसरे ग्रंथों से पद्य जमा करके की जाती थी, परंतु अब इस खोज से आठों पद्य पूर्ण रूप में प्राप्त हो गये हैं जो अन्य संगृहीत पदों से भिन्न होने के कारण अधिक प्रामाणिक होते हैं। पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित ने इस विवरण से पूर्व काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका नं० १ भाग ४ संवत् १९८० में रहीम के मदनाष्टक पर एक लेख लिखा है जिसमें प्रचलित मदनाष्टकों पर विचार किया गया है और जिससे इन पुस्तकों की खोज में प्राप्त पुस्तक की प्रामाणिकता अधिक प्रमाणित होती है। भाषा के इतिहास में यह पुस्तक बड़े महत्त्व की है।

(१५) गंग कवि की तिथि सं० १६०२ ईसवी निश्चित हो गई है। इनके भाई श्रीपति ने इसी वर्ष महाभारत के कर्ण पर्व का भाषा-पद्य में अनुवाद किया था। इस बात का भी पता लगा है कि दो श्रीपति हुए हैं जिनमें से एक कालपी के रहनेवाले थे और दूसरे पयागपुर के।

(१६) विद्यापति की एक संपूर्ण पुस्तक प्रथम वार इस खोज में मिली है। तिरहुत के राजा गनेशसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के गुणों का इसमें वर्णन है। यह बात प्रसिद्ध ही है कि विद्यापति मैथिल ब्राह्मण थे अतः उनकी भाषा का मैथिली होना स्वाभाविक है। इसी कारण बंगाली उन्हें बँगला का कवि मानते हैं परंतु वास्तव
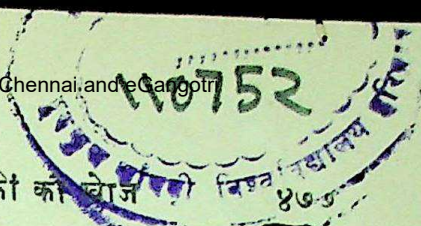
में वे हिंदी के कवि थे और उस देश के रहनेवाले थे जहाँ दो भाषाओं का सम्मेलन होता है। इन्होंने सर्वप्रथम नाटक लिखे थे। इनके नाटकों के नाम **पारिजातहरन** और **रुक्मिणि-परिणय** हैं। इनकी और कविता के कुछ फुटकर छंद भी मिलते थे परंतु इस खोज में पहली बार इनकी एक पुस्तक मिली है। इस पुस्तक के उद्धृत अंशों में इसका पूरा विवरण दिया है परंतु तिथिनिर्णय के विषय में उससे कुछ सहायता नहीं मिलती और उल्टी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। कीर्तिलता में इब्राहीम लोदी का नाम लिखा है। इब्राहीम सन् १५१० में आगरा की गद्दी पर बैठा था और कुछ लोगों के कथनानुसार विद्यापति का जन्म सन् १३१८ के लगभग हुआ था। यह भी कहा जाता है कि विद्यापति तिरहुत के राजा शिवसिंह के समकालीन कहे गए हैं और पदावली में उसके राज्याभिषेक की तिथि इस प्रकार दी है—

अनल रंध्र कर लक्खन नरवय सक समुद्द अगिन ससी।
चैत करि छटि जेठा मितियो बार वहेप्पय जा उलसी॥

इसका यह अर्थ है कि शिवसिंह लक्ष्मणसेन संवत् २९३ (शक संवत् १९२४) चैत बदी ६ बीफै को गद्दी पर बैठा। भाग्य से इस तिथि में बार दिया है जिससे यह तिथि सन् १४०३ ईसवी बृहस्पतिवार १३ अप्रैल को पड़ती है। इस दिन पंचमी **प्रातः-काल** ३½ घंटा थी, इस कारण राज्याभिषेक दोपहर को हुआ था। उस समय शक संवत् १३२४ और १३२५ रहा होगा। इसका पर्यायवाची लक्ष्मणसेन संवत् इस काम में अधिक सहायता नहीं करता है क्योंकि पहले के आरंभ की तिथि के विषय में बड़ा मतभेद है। सेवेल और दीक्षित महोदय अपने इंडियन कलेंडर पृष्ठ ४६ पर इस प्रकार लिखते हैं—इस संवत् का प्रयोग मिथिला और तिरहुत में होता है परंतु इसका प्रयोग विक्रम

और शक संवत् के साथ होता है। जो लोग इसका प्रयोग करते हैं वे इसके विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं। कोलब्रुक के विचार में इस संवत् का प्रथम वर्ष ११६५ से आरंभ होता है। बुकानन ने इसकी तिथि ११०५ या ११०६ निर्णय की है। १७७६ और १८८० के बीच की तिरहुत जंत्री से यह पता चलता है कि यह सन् ११०८ और ११०९ के बीच का है। डाक्टर कीलहार्न उस समय के शिलालेखों की परीक्षा के आधार पर इसका प्रथम वर्ष ई० १११९—२० में निश्चित करते हैं। काव्यप्रकाश की मिथिला टीका की प्रति पर, जो कि नैपाल में मिली है, एक और तिथि मिली है। इस पुस्तक को विद्यापति ने अपने लिये नकल करवाया था। यह तिथि ऊपरवाली तिथि से दो वर्ष पूर्व की अर्थात् २९१ संवत् की है जिसको महामहोपाध्याय पं० हरिप्रसाद शास्त्री एम० ए० १४०६ या १४०७ ईसवी बताते हैं, परंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह १४०१ ठहरती है। जो कुछ हो, इस प्रकार भी कवि का जन्मकाल १३१८ ई० नहीं ठहरता है। इनकी जन्मतिथि चौदहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से पूर्व नहीं हो सकती और यह असंभव है कि १२५ वर्ष की आयु भोग चुकने के पश्चात् इन्होंने इब्राहीम के राज्य में राजा की प्रशंसा में यह ग्रंथ लिखा हो। इसलिये यह प्रत्यक्ष है कि ग्रंथ में कुछ अंश मिला दिया गया है परंतु जब तक ठीक ठीक जाँच न की जाय तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा अंश बाद का है और इस काम में समय लगेगा। पुस्तक के आरंभ और अंत की शैली से यह ग्रंथ विद्यापति की रचना प्रतीत होता है। यहाँ यह बात बड़े महत्व की है कि देश-विवरण लिखने का विचार पहले पहल विद्यापति के मन में उत्पन्न हुआ और उन्होंने विक्रमसागर नाम का ग्रंथ संस्कृत में लिखा। इस ग्रंथ में भारतवर्ष के ९५ प्रांतों का वर्णन है।

यह विवरणपुस्तक भारतीय साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, वरन एशिया और दूसरे महाद्वीपों के साहित्य में भी प्रथम है। विद्यापति केवल कवि और विद्वान् नहीं था। वह सेनापति और प्रबंधकर्ता भी था। सेनापति और प्रबंधकर्ता के नाते से ही विद्यापति ने यह पुस्तक लिखी होगी जिसमें उसने भिन्न भिन्न देशों का उपयोगी वर्णन दिया है परंतु विद्यापति अपने इस ग्रंथ को समय की छाप से नहीं बचा सके हैं और इसका वर्णन भी पौराणिक है। इस ग्रंथ में बलराम एक सूत को मारने के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये सब प्रांतों में भ्रमण करते हैं और जिन देशों में वे जाते हैं उनका वर्णन करते हैं।

इस विवरण में चार परिशिष्ट हैं। प्रथम में तीन वर्षवाली खोज में प्राप्त ग्रंथकारों का उल्लेख है। दूसरे परिशिष्ट में इन हस्तलिखित पुस्तकों के अंश उद्धृत हैं और उनमें इन पुस्तकों के विषय, आकार, रूप, स्थान, तिथि और रचना-काल आदि के विषय में आवश्यक बातें लिखी गई हैं। तीसरे में उन पुस्तकों का हाल है जिनके लेखकों का नाम नहीं मिला है। इस खोज में केवल सात ऐसी पुस्तकें मिली हैं। चौथे परिशिष्ट में १८५० ईसवी के पश्चात् के लेखकों का तथा उनकी पुस्तकों का उल्लेख है। विवरण के अंत में लेखकों की तथा उनकी पुस्तकों की अक्षर-क्रमानुसार एक सूची दी है जो ऐसे विवरण के लिये अत्यंत आवश्यक है।

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गई—

१—पुरुषार्थ—ले० स्वर्गवासी बाबू जगन्मोहन वर्मा।
२—तर्कशास्त्र २ भाग—ले० बाबू गुलाबराय।
३—हिंदी शब्दसागर, अंक ३७, ३८।
४—हिंदी व्याकरण (बृहत्)—लेखक पं० कामताप्रसाद गुरु।
५—प्राचीन आर्य-वीरता—लेखक पं० द्वारकाप्रसाद शर्मा।
६—खारवेल प्रशस्ति—लेखक श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल।

नवीन संस्करण

१—मितव्यय।
२—संक्षिप्त हिंदी व्याकरण।
३—मध्य हिंदी व्याकरण।
४—हिंदी निबंधमाला भाग १, २।
५—प्रथम हिंदी व्याकरण।
६—वीरमणि।
७—महर्षि सुकरात।
८—आदर्श जीवन।
९—हरिश्चंद्र काव्य।
१०—आत्मोद्धार।
११—सुंदरसार।
१२—कृषिकौमुदी।
१३—कालबोध।

छप रही हैं

१—हिंदू राज्य-तंत्र।
२—शिखर-वंशोत्पत्ति।
३—मौर्य्यकालीन भारत।
४—कबीर-ग्रंथावली।
५—कीर्तिलता।

प्रकाशन-मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी